देखा, सुना, पढ़ा..................
संस्मरणों, रेखाचित्रों, जीवनियों,
पत्रों, अतीत गाथाओं और
व्यक्ति-चित्रों का संग्रह

५०, चाहचन्द, इलाहाबाद-३

ओंकार शरद

क्रम

•

[यह है पंचमेल मिठाइयों की थाली। सभी लेखों के अलग-अलग स्वाद हैं। मुझे ये खूब मीठे लगे हैं, इसी से अपने स्नेही पाठकों को भी इनका स्वाद देने को मैंने इस संग्रह में इन्हें सजा कर परोस दिया है। विश्वास है, पाठकों का स्वाद बदलेगा और पाठक मुझे धन्यवाद देंगे। —लेखक]

मेरे साहित्य-गुरू

श्री रामबृक्ष बेनीपुरी जी का नाम आते ही कुछ तस्वीरें सामने खिच जाती हैं। कुछ व्यक्तित्व होते ही ऐसे हैं !

□ □ □

सन् बयालीस की आग धधक रही थी। देश का कोई कोना भी उस आग से अछूता न था। मैं तब था कुल सोलह का, एक छोकरा। न दुनिया देखी थी, न समझी थी। पर गांधीजी का नाम, आजादी की प्यास और भारत माता की पुकार ने एक दिन मुझे भी हजारीबाग सेन्ट्रल जेल की कोठरी में पहुँचा दिया। नयी उम्र का जोश भी नया होता है। पर जीवन की वास्तविकता का दर्शन कराया जेल ने ही। बड़े-बड़े नेता, क्रान्तिकारी, योद्धा, वहाँ सभी थे। कोई बीस साल से जेल भुगत रहा था, कोई अपनी सारी उम्र वहीं बिताने का प्रोगाम बनाये बैठा था। मैं चकित, सब ओर देखता और नजरें ऊँची दीवालों से टकरा कर लौट आतीं। एक दिन एक साथी ने कहा, "यह क्या देखते हो ? जेल में तो लोग पागल तक हो जाते हैं।"

"क्या पागल भी यहाँ रहते हैं ?" मैंने घबरा कर पूछा।

"पागल रहते तो नहीं, पर लोग पागल हो जाते हैं।" साथी ने कहा और बात आयी-गयी हो गयी।

हाँ, एक बात बता दूँ, कि वह जेल कुछ अजीब थी। वहाँ सिर्फ 'सेल' थे सिर्फ कोठरियाँ। हर कैदी अलग-अलग कोठरियों में बंद होता। मेरी और पीछे वाली कोठरी की दीवार एक थी। मुझे वहाँ पहुँचे अभी तीन दिन ही हुए थे। रोज ही रात को मैं बारह-एक के करीब जग जाता। पीछे वाली कोठरी में कोई रोज इसी समय अट्टहास कर के पागलों सा हँसता। ऐसी हँसी पागल ही तो हँस सकता है! आगे-पीछे कोई बात नहीं, आवाज नहीं, एकाएक बादलों की गरजन की तरह अट्टहास!

हा हा......हा...हा...हो...हो...हो...हो......!

आज भी नींद टूट गयी। साथी की बात याद आयी। जरूर ही इस कोठरी का कैदी पागल हो गया होगा। इतना सोचते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये। पागल है, तब क्या होगा! बड़ा खतरा है! अगर रात को बीच की दीवाल की खिड़की के सींकचे तोड़ कर वह इधर कूद आया तब क्या होगा?

क्या इसके बाद भी उस कोठरी में नींद आ सकती थी? राम-राम करके रात बितायी। प्रातः होते ही 'हनुमान चालीसा' का पाठ किया कि आज तो जान बची। ज्योंही सबेरे ताला खुला कि भाग कर मैं एक पुराने बुजुर्ग परिचित कैदी के पास पहुँचा और घबरा कर बोला, "सुनिए, जेल वालों से कह कर मेरा सेल बदलवा दीजिए।"

"क्यों क्या बात है?" उन्होंने जानना चाहा।

"मेरे सेल के पीछे कोई पागल रहता है। रात भर हो-हो करके हँसता है। मुझे डर लगता है।"

"पागल! तुम्हारे सेल के पीछे......?" वे सोचने लगे। फिर एकाएक जैसे याद करके बोले, "पागल तुम हो! उसमें तो बेनीपुरी जी रहते हैं भाई। भारी नेता हैं, भारी लेखक हैं।"

"कौन?"

"बेनीपुरी जी। हिन्दी के बहुत नामी लेखक हैं!"

मैं चुप रह गया, पर मेरे मन का डर न निकला। तब उन्होंने कहा, "चलो

तुम्हें मिला दें।"

मैं और मुसीबत में फँसा। अब क्या हो? पागल से मिलना भी पड़ेगा! पर उनके साथ जाना ही पड़ा। जाकर देखा, एक अच्छा खासा आदमी, कुरता-धोती पहने, चश्मा लगाये बैठा कुछ लिख रहा था। साथ वाले सज्जन ने कहा, "देखिए बेनीपुरी जी? यह लड़का नया आया है।"

जिसे मैं पागल समझता था, बोल उठा, "क्या तुम्हीं राँची वाले ग्रूप में आये हो? इलाहाबादी हो न! सुना है!"

"हाँ।" मैंने कहा, पर मेरी समस्या और उलझ गयी। इसे पागल कैसे कहूँ! तभी मेरे साथी ने कहा,

"आप रात को हँसते हैं न! यह डर गया है। कहता है कोई पागल रहता है यहाँ।"

मैं लज्जित हुआ। वे समझ गये, बोले,

"ओह, हाँ, रात को जब-जब बहुत अकेलापन लगता है तो जरा जोरों का ठहाका लगाता हूँ। जोरों से हँसिए तो दीवारें भी तो हँसने लगती हैं न! भाई, तीन साल से इन दीवारों से नाता जोड़ रखा है!"

यही सब बातें मुझे पागलों की सी लगीं। दीवारें हँसती हैं ! क्या अजीब बात है। तभी वह फिर बोले, "तुम बच्चे हो न! यह सरकार भी कैसी डाइन है! तुम जैसे बबुओं को माँ की गोद से छीन लाकर जेल में बंद करती है! निश्चय ही इसका नाश होगा! तुम्हें अकेले रहने का मौका ही कहाँ मिला होगा? तो आज से नहीं हँसूँगा।"

फिर थोड़ी देर इधर-उधर की बातें हुईं। चाय चली और वह 'पगला' मेरा एक बुजुर्ग मित्र बन गया। एक ही मुलाकात में। चलते समय एक किताब दी। बोले, "देखो, इसे पढ़ना। दिन भर बेकार क्या करोगे? जब खतम हो जाए तो ले आना, दूसरी दूँगा।"

और फिर बेनीपुरी जी की कोठरी मेरे लिए पुस्तकालय बन गयी। मिलना-जुलना चलता रहा। वे हर समय कुछ न कुछ लिखते रहते। दिन को सामने के आम के पेड़ की छाया में कंबल बिछाये, रात को कोठरी में। उन दिनों आम्र छाया में 'अम्बपाली' गढ़ी जा रही थी। और कोठरी में 'माटी की मूरतें'।

यह है पहली तस्वीर।

एक तस्वीर और उभरती है।

मुझे वहाँ एक सप्ताह भी न बीता था कि एक दिन बेनीपुरी जी ने कहा, "देखो, मुझे तुम्हारी जरूरत है।"

"मेरी ?" मैं कुछ समझ न पाया।

"हाँ, यहीं जेल में एक आखबार निकालूँगा !"

मैं केवल चकित हुआ। जेल में अखबार निकालेंगे ! जरूर कभी-कभी यह आदमी पागल हो जाता है। मैंने तो यही सुना था कि प्रेस में अखबार छपता है। फिर जेल में प्रेस कहाँ ? वह समझ गए। पूछा, "क्या बात है ?"

"अखबार निकालिएगा ? प्रेस······!" मैंने डरते हुए पूछा।

"हा······हा······हो·········हो······निरे बच्चे हो।" वह हँस पड़े। मैं एक कदम पीछे।

"अरे भाई। हाथ से लिख कर एक पत्रिका तैयार की जायेगी। सभी कैदी उसे बारी-बारी से पढ़ेंगे। समझे।"

मैं कुछ-कुछ समझ रहा था। तभी कुछ कागज सामने फैलाते हुये बोले, "देखो, यह रहा मैटर ! यह जयप्रकाश जी का लेख है, यह देखो कितनी सुन्दर कविता है......यह देखो डा० सत्यनारायण ने रूस की यात्रा लिखी है। मैंने सब जुटा लिया है। हाँ, तुम्हारी लिखावट अच्छी है न ! इन सबों को एक साइज के कागज पर नकल कर लो। एक जैसे अक्षर ! कहीं-कहीं लाल-नीली पेंसिल से एक-आध फूल-पत्ती भी बना देना। सजावट भी तो चाहिए। फिर इसकी जिल्द बाँध कर चालू कर देंगे।"

और मुझे जादा समझने-बूझने भी नहीं दिया। पत्रिका का नाम रखा—'तूफान' ! वे बने सम्पादक, और मैं बना प्रेस। सबों के लेखों को नकल करना शुरू किया। पन्द्रह दिनों के बाद 'तूफान' का पहला अंक निकला। लेकिन हमारे 'तूफान' का निकलना था कि जेल भर में तूफान आ गया। जेल अधिकारियों को पता लग गया था। हम उसे एक-एक कैदी को पढ़ाते। एक-एक कैदी उसे चुरा कर पढ़ता। दिन भर पढ़ कर रात के लिए वह दूसरे कैदी को देता। दूसरा, तीसरे को देता, और इसी तरह यह 'तूफान' आगे बढ़ता रहा।

इधर 'तूफान' कैदियों के पास घूमता। लोग छिपा-छिपा कर पढ़ते और उधर जेल वाले उसे छीनने के फेर में घूमते। लेकिन दिन को तो वे पकड़ न

पाते। तो, रात को जब सब अलग-अलग कोठरियों में बंद हो जाते तो एक-एक सेल की तालाशी होती। तकिए के भीतर, कमोड के नीचे, सब जगह खोज होती और बहुत बचाते-बचाते भी पाँचवें-छठवें कैदी तक पहुँचते-पहुँचते हमारा 'तूफान' पकड़ जाता। उसे ले जाकर जेल वाले ताले में बंद कर देते और दूने उत्साह से हमलोग दूसरा अंक तैयार करने में लग जाते।

इस तरह चार अंक निकले। चारों पकड़ लिए गये। पाँचवें की हम तैयारी कर रहे थे कि दीवाली की वह अमर रात आ गयी। अमावस के अँधेरे में जयप्रकाश नारायण पाँच साथियों के साथ जेल से भाग गये। जेल भर में हाहाकार मच गया। इतनी बड़ी घटना! दूसरे दिन मैंने धीरे से, बेनीपुरी जी से पूछा, "यह कैसे हुआ? क्या सचमुच सब भाग गये?"

वे मुस्कराये। बोले, "हाँ भाग गये। लेकिन चुप रहना। इस बारे में किसी से चर्चा मत करना। देखो अब क्या होता है! आगे-आगे देखना होता है क्या......।"

दूसरी रात की बात है। मैं जब अपनी कोठरी में सो रहा था कि एक शोर-गुल से मेरी नींद टूट गयी। सुना कि बेनीपुरी जी की कोठरी में जैसे कई लोग झगड़ा कर रहे हैं। मैं गौर से सुनने लगा। जेलर बोला, "आप का ट्रान्सफर-आर्डर है। इसी समय चलना होगा।"

बेनीपुरी की आवाज—"इतनी रात को? सुबह जाएँगे! मेरे कपड़े, किताबें दूसरों के पास हैं। अभी कैसे जा सकता हूँ?"

"सरकारी हुक्म है। बाँध कर ले चलेंगे। अब निकालना तूफान!"

"आखिर क्यों?"

"जयप्रकाश के आप गहरे दोस्त हैं। उनको भगाने में आप का हाथ है। आपको बताना पड़ेगा, वे कहाँ गये सब!"

"क्या बकवास करते हो? मैं क्या जानूँ!"

"कुछ भी हो! हुक्म है। इसी समय चलना होगा।"

झगड़ा बढ़ता गया था। बेनीपुरी अकेले थे। वे कई। सामान के साथ जबरदस्ती बेनीपुरी जी को भी बाँध कर वे ले चले। मैं अपने सेल से ही चिल्लाया, "क्या सचमुच जा रहे हैं?"

"हाँ ! देखो, 'तूफान' चलाते रहना ! जिन्दा रहा तो भेंट होगी ।"

जाने कितनी देर तक वही आवाज़ गूँजती रही । तब तक और कैदी भी जग गये । पर शोर मचाने के सिवा था क्या अपने पास ! अँधेरे में ही जाने उन्हें कहाँ ले गए, जाने क्या किया ?

फिर तो कभी उनकी सूनी कोठरी की ओर जाने की हिम्मत न हुई । जब भी उस कोठरी को, उस आम्र-छाया को देखता, जी भर आता । उन्हीं के साथ 'तूफान' भी चला गया । 'अम्बपाली' भी चली गयी । 'माटी की मूरतें' भी चली गयीं । सब कुछ चला गया । जेल के लम्बे दिन काटने को मैं अकेला रह गया ।

बेनीपुरी, मेरे साहित्य-गुरू जाने कहाँ चले गये !

लेकिन कोई बीज बेनीपुरी जी बो गए थे । मैं लिखने लगा । लेखक बना । जेल से छूटा । किताबें छपीं और तीन साल बीत गये ।

लेकिन बेनीपुरी जी की हँसी सदा याद आती । वह हँसी फिर न सुनी, कहीं न मिली । बाद में पढ़ा, गोर्की भी ऐसे ही हँसते थे, प्रेमचन्द्र की भी ऐसी ही मुक्त हँसी थी ।

फिर ४६ में भेंट हुई । पटना में । 'हिमालय' का प्रकाशन शुरू हो गया था । 'हिमालय' सम्पादक बेनीपुरी से मिलने गया । सीधे कमरे में चला गया । वे मेज पर सिर गाड़े कुछ लिख रहे थे । बाधा न देकर, सामने पड़ी कुर्सी पर मैं चुपचाप बैठ गया । तभी प्रेस का कर्मचारी आया । बोला, "सम्पादक जी, कापी दीजिए ।"

उन्होंने सिर उठाया । तभी मुझ पर नज़र पड़ी । गौर से देखने लगे । बोले, "कौन ? कुछ-कुछ याद आ रहा है ।"

"मैं शरद हूँ । तूफान का प्रेस............।"

फिर वहीं हँसी !

हो.........हो.........हो.........हा.........हा !

"कहो ? कहाँ रहे ? कई बार सोचा, पर तुम्हारा पता ही नहीं था कि लिखता । अरे हाँ, तुम्हारी तो कई किताबें देखी । पूरे लेखक बन गये ।"

मैंने भावावेश में याद दिलाया,

"तूफान की याद है ?"

"वह तो जेल का कैदी तूफान था ! आज तो जिन्दगी के तूफान सम्हालो यार ! जिन्दगी में तूफान न हो तो मजा ही क्या ?"

मैं उनके साथ उनके घर गया। फिर तो कई दिनों तक पटना छूटा ही नहीं। हमलोग एक दूसरे के बहुत निकट आये।

फिर तब से आज तक मुझ जैसे जाने कितने युवकों के लिए बेनीपुरी जी प्रेरणा के स्रोत बने रहे।

एक दिन अचानक १९५० के बसंती दिनों में बेनीपुरी जी इलाहाबाद में मेरे घर आये। रिक्शे पर सामान लादे। दो दिन रहे। कोई बात न हुई। तीसरे दिन बोले, "तुम्हें पटना चलना है। यहाँ का चक्कर छोड़ो। 'नई धारा' निकालनी है। तुम्हीं मेरे सहयोगी बन सकते हो। तुम्हें अपने साथ रखूँगा, इसीलिए यह प्रोग्राम बना है। 'तूफान' का साथ निभाओगे ?"

मैं भला क्या कहता ! पटना गया। 'नई धारा' का प्रथम अंक निकाला। लेकिन मुझ इलाहाबादी को पटना न भाया। होली का मौका था, बहाना बना कर आया तो फिर वापस न गया। एक लम्बा पत्र लिख कर क्षमा माँगी। उत्तर में बेनीपुरी जी ने लिखा···"मँझधार में छोड़ गये ! तुम नौजवान अस्थिर होते हो।"

मैंने सोचा था, इसके बाद भी क्या हमारे संबंध चल सकेंगे ! पर देखा कि उनकी विशाल हृदयता के कारण हमारी घनिष्टता और बढ़ी। इतनी कि कहना कठिन है। मेरे धोखे को भी उन्होंने भुला दिया। ऐसा बड़ा दिल उन्हीं का था।

□ □ □

बेनीपुरी को समझने के लिए उनके कई रुपों को देखना पड़ेगा। विशेष कर उनका राजनीतिक व साहित्यिक रुप।

कुछ पीछे भी नजर डालनी होगी।

आज बेनीपुरी जी साठ पार कर चुके हैं। लेकिन 'साठा सो पाठा' वाली बात उनके साथ नहीं चली। एकाएक जैसे वे बदल गये हैं, थक गये हैं। शरीर से भी, मन से भी ! कल तक अगर कोई बेनीपुरी को वृद्ध कहता तो विश्वास

न होता, पर अब वे सच-मुच वृद्ध हो गये हैं। जवानी एकाएक साथ छोड़ भागी। लेकिन साठ साल का यह संघर्ष जो उनके सारे जीवन पर छाया रहा, वह क्या कभी भुलाया जा सकता है !

जरा और पीछे देखिए !

चार साल का एक अबोध ग्रामीण बालक ! माँ की गोद से अभी-अभी उतरा है कि एक दिन बीमार माँ को आँगन में लिटा दिया गया और बेटे को घर के बाहर निकाल दिया गया। मरती माँ को बेटा देखेगा तो दिल टूटेगा। लेकिन आखिरी साँस तोड़ती माँ भी बेटे के अलावा किसी के हाथ से गंगा-जल न पियेगी। वह दाँत मींचे, बेहोश ! बेटे को बुलाया गया। बेटे ने माँ के मुँह में गंगा-जल दिया और एक बार माँ की आँखें खुलीं, पानी गले में उतरा, माँ की आँखें मुँदीं।

माँ की यह याद क्या साठ साल में भी धुँधली हो सकती है ! वही याद जीवन भर संघर्ष करने की प्रेरणा भी दे सकती है। बिना माँ के बेटे का क्या जीवन होता है, उसका दर्शन बेनीपुरी को चार साल की उम्र में ही हुआ और तब से आज तक उन्हें जूझते ही बीता है।

माँ का साया उठा और पाँच ही साल बाद पिता की अर्थी भी उठानी पड़ी। इन्ही पाँच वर्षों के दौरान में ही विमाता का घर में स्वागत भी करना पड़ा। मासूम बचपन में ही कितनी-कितनी चोटें पड़ीं ! क्या इनसे भी व्यक्तित्व निखार न पायेगा ?

बिना माता पिता का बालक। पाठशाला की शिक्षा शुरू हुई पर नाम-मात्र को। लेकिन पाठशाला ने रामायण के दर्शन करा दिये, जिस रामायण ने जीवन भर बेनीपुरी की साहित्यिक प्रगति में रोशनी का काम किया। यानी पढ़ाई के नाम पर सिर्फ रामायण ही तो पूरी कंठस्थ हो गयी थी। बाद में तो सिर्फ चाशनी के तौर पर उर्दू, संस्कृत और बंगाली भी पढ़ी। यही है बेनीपुरी की शिक्षा की नाप-तौल। अंग्रेजी का आभ्यास तो समाज ने यों ही करा दिया।

जब पढ़ाई का कोई ठीक सिलसिला न चला तो राजनीति ने आकर्षित किया। उन्हीं दिनों खुदीराम बोस को फाँसी पड़ी थी। उनके फाँसी के सेल के पहरेदार सिपाही ने एक दिन बेनीपुरी से बोस की बहादुरी के किस्से बताए

और खुदीराम की कुरबानी ने ही बेनीपुरी के तरुण हृदय को क्रांतिकारी बना दिया।

एक हाथ में कमल और एक हाथ में तिरंगा झंडा। यहीं से बेनीपुरी की यात्रा शुरू होती है।

किसानों में घूम-घूम कर देशभक्ति का प्रचार और जनकपुर के पड़ोसी होने के नाते 'सीता' के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर 'सीता' खंड-काव्य की रचना साथ-साथ चलने लगी। मुजफ्फरपुर में गांधी जी की एक सभा में इस खंड-काव्य का एक अंश भी सुनाया, जिस पर गांधी जी ने प्रसन्न हो कर अपने भाषण में जिक्र भी किया। क्या किसी नवजवान को देशप्रेम व साहित्य के लिए पागल कर देने को इतना कम था?

कमल चलती रही, झंडा लहराता रहा। एक लेखक, एक नेता बनता रहा।

सन् १९२१, १९३०। दोनों बार जेल! जेल-यात्रा होती गयी, परिवार उजड़ता गया। देशभक्ति की आँधी में परिवार टूटता गया। लेखन और देशभक्ति, दोनों का मिलन एक ही क्षेत्र में होता है— वह क्षेत्र है पत्रकारिता। गांधी जी के 'यंग-इंडिया' के संदेश को गाँवों तक पहुँचाने के लिए पटना से 'तरुण-भारत' निकला। जिसमें केवल 'यंग-इंडिया' के लेखों का हिन्दी अनुवाद होता। बेनीपुरी इसके सम्पादक हुए। पत्रकारिता में जौहर दिखाने का यह पहला मौका था। फिर तो यह जीवन भर का सिलसिला हो गया। 'तरुण भारत' के बाद 'किसान-मित्र', फिर 'गोलमाल'! और एक दूसरा दौर इसके बाद आया। उसमें तो बेनीपुरी द्वारा सम्पादित सभी पत्र सफल हुए। 'बालक', 'युवक', 'योगी', 'हिमालय' और 'नई धारा' तक का इतिहास सर्वविदित है।

जब-जब भी बेनीपुरी के संपादन में कोई पत्र निकला, हिन्दी में धूम मच गयी।

बेनीपुर के नाम का, एक सफल सम्पादक व अनूठे शैलीकार के रूप में तीन दशक तक डंका बजता रहा है।

'माटी की मूरतें' जैसे शब्द-चित्र और 'अम्बपाली' जैसी नाटकों की अमर कृतियाँ युगों-युगों तक बेनीपुरी का नाम उजागर किये रहेंगी।

बेनीपुरी का नाम सदा युवकों के लिए जवानी का प्रतीक बना रहेगा।

□ □ □

एक बात और याद आयी.............

इधर पिछले दिनों मैं अपनी आर्थिक चिन्ताओं से ऊब कर एक दिन उन्हें लिख बैठा, अपनी परेशानियाँ, झंझटें। मालूम था कि उनकी भी परेशानियाँ कम नहीं, उनके भी झंझट कम नहीं। लेकिन उनके अलावा मुझे समझने वाला कौन है! सो, लिख ही दिया।

हफ्ते भर बाद उन्होंने समझा कर लिखा—

"कैसे आदमी हो! सोचो न, बेचारी परेशानियाँ मेरे-तुम्हारे यहाँ भी न जायें तो भला कहाँ जायें! कोई पैसे वाला तो उन्हें अपने पास फटकने नहीं देता। आखिर उन्हें भी तो इसी दुनिया में रहना है न!"

फिर दूसरे पत्र में लिखा —

"देखो, तुम्हारा मेरा 'तूफान' का साथ है। तूफान जब आये और नाव भँवर में फँस जाये तो घबराना नहीं चाहिये। ऐसे मौकों पर डाँड़ भी छोड़ दो और बैठ कर मल्हार गाओ। नाव अपने आप भँवर से बाहर आ जायेगी।"

बेनीपुरी साठ पार कर चुके हैं। थक गये हैं। उनके जीवन का तूफान भी थक गया है। जब तूफान ही नहीं तो मजा क्या? साठ साल तूफानों को बनाने, तूफानों को ललकारने, तूफानों से जूझने वाले बेनीपुरी थक गये हैं, तो लगता है कि 'तूफान' का एक अध्याय चुक गया है।

कहते हैं, योद्धा कभी गिरता नहीं, पर जब गिरता है तब फिर उठता नहीं। अब शायद जीवन भर का यह तूफानी योद्धा लड़ते-लड़ते थक कर गिर गया है।

बेनीपुरी आजकल अस्वस्थ हैं............। ....

लेकिन बेनीपुरी नाम के साथ जुड़ी जवानी, तूफान, आज भी प्रेरणा देने में समर्थ है।

[सन् १९६२]

मेरे प्रिय रचनाकार : बेनीपुरी

मैं यह कैसे कहूँ कि रामवृक्ष बेनीपुरी मेरे ही प्रिय रचनाकार थे। क्योंकि मैं जानता हूँ कि बेनीपुरी की रचनाएँ बहुतों को प्रिय रही हैं और आज भी हैं। देश के लाखों-लाख लोग उनकी रचनाओं को पढ़ कर प्रेरित होते थे, उद्वेलित होते थे और होते रहेंगे।

प्रिय रचनाकारों में बेनीपुरी का विशेष उल्लेख इसलिए भी किया जाएगा कि वे अपने युग के रचनाकारों के बीच एक किसान रचनाकार थे। बेनीपुरी का हृदय ही किसान का था, उनकी कलम वही काम करती थी जो खेतों में किसान का हल करता है, उनकी रचनाओं में माटी की सोंधी सुगन्ध तो होती ही थी, लहलहाते फसल की हरियाली भी होती थी।

वे मन से माटी के कितने निकट थे यह मैं आप को उनकी ही कुछ लाइनें सुना कर बताता हूँ। एक जगह उन्होंने लिखा है—

"यों मैं शहर में रहता हूँ, लेकिन मैं भी देहाती हूँ, और अट्टालिकाएँ मेरी दृष्टि से झोपड़ियों को दूर नहीं कर सकीं।"

यही है, रचनाकार बेनीपुरी का असली मन। बेनीपुरी नयी दुनिया की नयी चमक से परिचित या ओत-प्रोत नहीं थे, यह भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन उनकी दृष्टि सदा ही अपने देश की धरती और देश की जनता पर ही टिकी रही, जमी रही। बेनीपुरी ने दो बार विदेश-यात्रा की और उन यात्राओं का विवरण उनकी दो यात्रा-पुस्तकों में है—'पैरों में पंख बाँध कर' और 'उड़ते-चलो, उड़ते-चलो'। जिन्होंने भी इन रचनाओं को पढ़ा है वे मेरी इस बात का समर्थन करेंगे कि पेरिस, लंदन, रोम, स्विट्जरलैंड में बैठ कर भी वे विदेश की रंगीनी में डूबे नहीं, बल्कि सदा भारत की ही समृद्धि का सपना देखते रहे। वहाँ बैठ कर भी अपना गाँव-देहात सदा उनके मन पर छाया रहता था। अन्य समृद्ध देशों की नयी हवा देख कर वे यही कल्पना करते थे कि अपने देश में यह हवा कैसे पहुँचे।

बेनीपुरी का लेखन-काल-विस्तार लगभग पचास वर्षों का रहा है। उन्होंने जीवन भर जो कुछ लिखा, सब अपने अनुभव के ही आधार पर। करुण हृदय की सशक्त धड़कन, सजीवता, किशोर-सुलभ-चापल्य, अनुभूति की गहराइयाँ और एक अनोखी मस्ती मे शराबोर रही हैं उनकी रचनाएँ। उनकी ये विशेषताएँ हर जगह दिखती हैं। चाहे बच्चों के लिए लिखी गयी उनकी रचनाएँ—'हिरामन तोता' या 'बिलाई मौसी' हों, या जेल के अनुभवों पर आधारित कथा-कृतियाँ 'पतितों के देश में', 'कैदी की पत्नी' या 'जंजीरें या दीवारें' हों, चाहे 'गेहूँ और गुलाब' हो, चाहे 'माटी की मूरतें'।

लम्बी अवधि के जेल-प्रवास में उन्होंने जो भी अनुभव किया उसे ही पूरी यथार्थता के साथ कलमबन्द किया। कैदी जीवन की घुटन का वातावरण, जिसके घने दबाव से उनकी दृष्टि और पैनी हुई और जेल जीवन के दैन्य, अत्याचार और यंत्रणा की हलकी से हलकी और गहरी से गहरी कालिमा को उन्होंने शब्दों में उतारा। जेल-प्रवास-काल में लिखी गयी उनकी रचनाओं में बन्दी जीवन का यथार्थ रूप इस प्रकार उजागर हुआ है, वहाँ का वातावरण इतना प्रखर और मूर्त हुआ है कि जिसने जेल की झाँकी भी नहीं ली वह भी जेल की निर्मम दीवारें, खनकती जंजीरें और कोड़े के आघात का यथार्थ-अनुभव प्राप्त कर सकेगा। वास्तव में बेनीपुरी ने अपनी अधिकांश रचनाओं की रचना जेल की एकान्त कोठरियों में ही किया था। उन्होंने बन्दी जीवन के वातावरण को माध्यम माना था और ऐसा माध्यम जिसके द्वारा उन्होंने पराधीन भारत के समाज और व्यवस्था की घनीभूत पीड़ा, अन्याय-अत्याचार

और अमानुषिकता का सच्चा और सही चित्र प्रस्तुत किया। और यह सब किया अपने आपबीते अनुभवों के आधार पर। इसीलिए उन्होंने गरीबी, निर्दयता और बेवसी का जो खाका खींचा, उसमें उन्हें अतिशयोक्ति का सहारा लेने की जरूरत नहीं पड़ी।

बेनीपुरी एक सशक्त रचनाकार के साथ-साथ देशभक्त योद्धा भी थे। वे गांधी के सैनिक थे और अपने सबसे बड़े दुश्मन ब्रिटिश साम्राज्य की भर्त्सना करते हुए जो रचनाएँ लिखीं उनमें आत्म-बलिदान की भावना पूर्ण रूप से उद्वेलित होती थी।

बेनीपुरी की सबसे अधिक लोकप्रिय रचनाएँ हैं—उनके शब्द-चित्र, जिनका संग्रह हुआ है 'माटी की मूरतें' में। 'माटी की मूरतें' सचमुच भारत की माटी की ही मूरतें हैं। देहात-गाँव की ऐसी मूरतें जिन्हें हम सदा देखते तो हैं लेकिन ध्यान नहीं दे पाते। लेकिन बेनीपुरी ने हमें बलात् उन मूरतों की ओर गौर से देखने को विवश किया। तब हमने जाना कि भारत की सोंधी माटी से प्रकृति द्वारा गढ़ी गयी इन कुरूप, बदशक्ल मूरतों में भी एक चीज है, विशेष चीज और वह है जिन्दगी। ये माटी के रंग की हैं, माटी के गंध से भरी हैं, माटी में सनी हैं, माटी की वनी हैं, माटी पर धरी हैं, इसीलिए जिन्दगी से शराबोर हैं। बेनीपुरी के शब्द-चित्र सही मानों में शब्दों से चित्रित सजीव चित्र हैं। देहात गाँव के उन चलते-फिरते, हँसते-बोलते, रोते और बिलखते लोगों के चित्र, जिसमें असली भारत बसता है। यदि आप बेनीपुरी की रची इन माटी की मूरतों को देखें तो उनमें आप को अपने ही गाँव, घर के बल्देव सिंह, बाल गोबिन भगत, बुधिया बूढ़ी, सरजू भैया, सुभान खाँ, परमेसर, मंगर, रजिया सभी दिखाई पड़ेंगे। आप कह नहीं सकते कि आप की इनसे पहले की जान-पहचान नहीं है, या मात्र साहित्यिक कृति के ये नायक या चरित्र हैं, बल्कि आपको आश्चर्य होगा कि आप के गाँव के इन चरित्रों के बारे में रचनाकार बेनीपुरी कैसे जान गया। लेकिन वास्तविकता यह है कि भारत की एकता तो उसके गाँवों में ही बसी है। सारे देश के गाँव एक जैसे हैं, गाँव के लोग भी एक जैसे हैं। हाँ, हम उन्हें महत्व न दें और गौर से न देखें तो दोष किसे दें? बेनीपुरी ने अपने शब्दों में इनके चित्र खींच कर इन्हें देखने-समझने के लिए हमें विवश किया। और जब हमने इन्हें देखा तो चौंक पड़े। अरे वाह! ये तो बड़े ही आकर्षक है!

इस रूप में रचनाकार बेनीपुरी सदा याद किए जाएँगे कि उन्होंने हमें

धरती के निकट पहुँचाया, बहुत निकट। खेतों में लहलहाते धान के पौधे, चरते हुए गाय-बैल, चहचहाती चिड़ियाँ, गाती मैना, कूकती कोयल, लोगों के झगड़े, पंचायत और तालाब व कुएँ पर ग्राम-बधुओं की गोष्ठी। यही सब तो है बेनीपुरी की रचनाओं में। इसीलिए तो बेनीपुरी हमारे और हम जैसों के प्रिय रचनाकार हैं।

बेनीपुरी की रचनाएँ अपनी अलग पहचान रखती हैं। उनकी अद्भुत शैली, टकसाली सिक्के की तरह चल ही नहीं रही, गौरव की वस्तु बन गई है।

बेनीपुरी की प्रतिभा बहुमुखी है—नाटक, शब्द-चित्र, रेखा-चित्र, जीवनी, गल्प, उपन्यास—सभी ओर प्रतिष्ठा और प्रशंसा के अधिकारी हुए हैं बेनीपुरी रचनाकार।

बेनीपुरी केवल एक लुभावने व प्रिय रचनाकार ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्र के अथक योद्धा भी रहे हैं। भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के अग्रज सेनानी। राजनीति की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर चल कर, उलझनें झेलते हुए भी साहित्य के भण्डार को एक सौ से अधिक बहुमूल्य कृतियों से भरा और गौरवान्वित किया है।

बेनीपुरी का मस्त-मौला व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में खूब ही मुखर हुआ हैं। अपनी रचनाओं में वे तूफानों का सृजन करते हैं और उन्हीं तूफानों से जूझते हैं, अट्टहास करते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन, साहित्य-सभा, किसान-सभा, भाषा-आन्दोलन, विदेश-यात्रा, विधान सभा सभी के बीच अत्यधिक व्यस्त रह कर भी वे समय चुरा कर ऐसी-ऐसी नायाब कृतियों की रचना करते थे जो अद्वितीय सिद्ध हुई है। यद्यपि अपनी अधिकांश प्रसिद्ध कृतियाँ उन्होंने जेलों में कारावास-काल में ही लिखी हैं—पर राजनीति का तूफान कभी उनके भीतर सदा लहराती सरस्वती की धारा को दबा नहीं सका।

उनके लिए साहित्य-रचना और राष्ट्र-सेवा एक ही चित्र के दो पक्ष थे। उनके लिए प्रसिद्ध है—एक हाथ में झंडा और एक हाथ में कलम। न कभी झंडा छोड़ा, न कभी कलम रुकी।

बेनीपुरी प्रकृति से किसान रचनाकार थे। उन्हें भारत की मिट्टी से असीम प्यार था। उनकी रची 'माटी की मूरतें' में भारत का ग्रामीण समाज अमरत्व

या गया है। और उनकी नाट्य-कृतियों—'अम्बपाली', 'नेत्रदान', 'विजेता' आदि में अशोक और बुद्ध का युग एक बार फिर जाग उठा है। उनकी कथाकृतियों—'लाल तारा', 'कैदी की पत्नी', 'पतितों में देश में' भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम युग खिल उठा है।

□ □ □

बेनीपुरी की लेखनी को विराम लगे अब आठ साल बीत गये, लेकिन बेनी-पुरी की रचनाओं में भारत के गाँवों का जो जीवन खिला है और ग्रामीण जन के दिलों की जो धड़कन है, वही अमर है।

[सन १९७६]

आखिरी दिन....

बेनीपुरी को गए लगभग पूरा साल बीत रहा है। यानी कि साल भर हो गया, इस देश की धरती पर से बेनीपुरी नामधारी शरीर को लुप्त हुए। साल भर से बेनीपुरी की काया संसार की दृष्टि से ओझल हो चुकी है······लेकिन संसार में कोई परिवर्तन नजर नहीं आता······

दुनिया वैसी ही चली आ रही है,

देश वैसा ही है,

हिन्दी-संसार भी पूर्ववत् है,

और 'नई धारा' भी बहती जा रही है।

सात सितम्बर, ६८ को सुबह ६ बजे तक बेनीपुरी 'हैं' थे, अब बेनीपुरी 'थे' हैं।

और अब सोचता हूँ तो लगता है कि इस मिर्मम संसार में किसी का मौजूद रहना और न रहना···कोई विशेष फर्क नहीं डालता, चाहे किसी का व्यक्तित्व उसके जीवन काल में कितना ही ज्वलंत, अग्निमय, तूफानी, विद्रोही,

घटनाओं से भरा और रंगीन ही क्यों न रहा हो''''''बाद में कहीं कोई अन्तर नहीं आता......

□ □ □

गत वर्ष (६८) की ७ सितम्बर को सबेरे-सबेरे बेनीपुरी चले गये, बस चले ही गये। उनसे जाने के थोड़ा आगे-पीछे की कुछ घटनाएँ याद आती हैं।

६ सितम्बर को प्रातः मैं मुजफ्फरपुर कैसे, अचानक ही पहुँच गया, इसकी अलग कथा होगी''' '''सो मैं पहुँच ही गया अपने साहित्य-गुरु को प्रणाम करने, तब क्या मालूम था कि अंतिम बार प्रणाम करने पहुँचा हूँ।

सीधे 'बेनीपुरी प्रकाशन' गया। पन्ना ने कहा—"बाबूजी की दशा ठीक नहीं है। ४ तारीख को अचानक बेनीपुर में दशा बिगड़ गयी थी। कल सबेरे यहाँ लाये गये हैं। बेहोश हैं।"

मैं भागा हुआ महेन्द्र के डेरे पर गया, जहाँ बेनीपुरी जी बेहोश पड़े थे।

देखा, ज़िंदगी भर दूसरों की बेहोशी की दवा करने वाला आज सचमुच बेहोश था। बिल्कुल बेहोश।

घर में एक अजीब-सी खामोशी, मायूसी, अव्यक्त बेचैनी थी और लोगों के चेहरे पर खोखलापन उभर आया था। घर में तब था ही कौन! अकेले महेन्द्र था जो डाक्टर व दवा के पीछे भाग रहा था। दीदी (बेनीपुरी जी की पत्नी) थीं, जो बीमार, बेहोश पति के सिरहने बैठी थीं''' '''ऐसी बेहोशी तो बेनीपुरी पर इसके पहले भी कई बार आ चुकी थी, इसलिए यह दुराशा भी कौन करता कि यह आखिरी बेहोश ही है!

मै भी बेनीपुरी की खाट के पास ही बैठ गया। देखने लगा—खामोश शरीर, शिथिल, कांतिहीन, वृद्ध, अचेत, शब्द-भावहीन।

ऐसे अवसर पर असली बेनीपुरी का चहकता व्यक्तित्व भला कैसे याद न आता! मैं बैठा ही रहा।

दोपहर को प्रभा आयी। देवेन्द्र का पुत्र भी मिला।

मैंने देखा, बेनीपुरी अजीब तरह से साँस ले रहे थे। कुछ उल्टी साँसें, अस्वाभाविक गति से। लगता था, उनके भीतर चेतना है, बाहर नहीं। उनके भीतर

बेचैनी है, बाहर नहीं। उन्हें भीतर बड़ा कष्ट था, बाहर नहीं।

यानी कि बेनीपुरी का सब कुछ उनके भीतर ही बन्द हो गया था—शायद बाहर की दुनिया से अपना नाता वे अपनी ओर से तोड़ चुके थे।

उनके भीतर क्या हो रहा था, कोई भी समझ पाने में समर्थ न था। अभी तक तो लोग उन्हीं के व्यक्त किए को अपनी बुद्धि की योग्यता मानने के आदी थे। अब, आज बेनीपुरी ने अपने बाहर कुछ भी व्यक्त न होने दिया। फिर लोग भला कैसे समझते कुछ !

हाँ, इतना सहज ही समझा जा सकता था कि बेनीपुरी अंतिम साँसें गिन रहे थे, बहुत कष्ट पा रहे थे, लेकिन उनके प्राण क्यों अटके थे ? क्यों कष्ट पा रहे थे ? वे क्या चाहते थे ?

लेकिन कौन जाने !

दोपहर के बाद, शाम के कुछ पहले। बेनीपुरी का शरीर हल्के से हिला। ओंठ भी हिले। सभी लोग पास खिसक आये। प्रभा ने पिता के माथे पर हाथ रख कर जरा तेज आवाज में पूछा जैसे वह समझती थी कि धीरे से बोले बोल शायद उनके कान स्वीकार न करें—

"बाबूजी ! कुछ कहिएगा क्या ?"

एक बार, दो बार, तीन बार !

शायद कुछ उत्तर मिले ! ओठों की थरथराहट तो बढ़ी, लेकिन शब्द नहीं।

फिर महेन्द्र ने कान के बहुत पास मुँह ले जाकर कहा, "शरद भाई आये हैं !"

कोई प्रतिक्रिया नहीं।

दूसरी बार फिर महेन्द्र ने कहा।

इस बार जैसे सारे शरीर को हिला कर बेनीपुरी किसी तरह आधी आँखें खोल सके। सभी उनके चेहरे की ओर झुक गये। मैं भी आगे खिसका। उनकी भावनाहीन, शून्य दृष्टि में कितनी भावना थी, कितनी अर्थपूर्ण दृष्टि थी वह, कैसे लिखूँ !

मैंने उनकी अधखुली आँखों में आँखें डाल कर देखने का प्रयास किया।

धीरे-धीरे उनकी आँखें पूरी खुल गयीं। ओंठ प्रयत्न करके भी न हिल सके, जुबान खुल न सकी। और कुछ कहने में असमर्थता की विवशता व्यक्त हुई···

···आँखों में एकाएक गीलापन बढ़ा···दो बूँदें जाने कहाँ से सिमट कर दोनों आँखों की कोरों से लुढ़क पड़ीं—चेहरा फिर भी भावना-शून्य, पर व्यथा की भयानक छाया अपने आप व्यक्त हो ही गयी।

आँसू उनके गालों पर लुढ़के।

मेरा मन बुरी तरह तड़प कर मेरी अपनी असमर्थता पर खीझ रहा था। मेरा मन अजीब तरह से विचलित हुआ जा रहा था। मैंने अनुभव किया कि यही तिलमिलाहट, असमर्थता रुलायी में फूट पड़ती है। पर अपने को सम्हाल कर मैंने आगे बढ़ कर जरा जोरों से उनके माथे पर हथेली रख कर दबाया और तभी हथेली ने अनुभव किया कि शरीर की गरमी ठण्डी हो रही थी। मैं बेनीपुरी का कष्ट सहन करने में अपने को ही असमर्थ पा रहा था। तभी हिम्मत करके मैंने कहा, "आप अब जाइए, यहाँ की चिन्ता छोड़िए, आपको बहुत कष्ट हो रहा है, शांति से आप जायें।"

लगता है मेरे बोल उनके कानों में प्रवेश पा सके। तभी उनकी दृष्टि वेदना से डूब गयी। उन्होंने क्षण भर मुझे निहारा···वह दृष्टि···वह आदेश···वह संदेश···वह जीवन भर कि आखिरी बात···आखिरी दृष्टि···

फिर सचमुच उन्होंने अपनी दृष्टि समेट ली, आँखें बन्द कर लीं। चेहरा फिर पूर्ववत्, स्पंदनहीन, भावशून्य हो गया।

शायद बेहोशी का झोंका फिर···

तभी महेन्द्र ने कहा, "डाक्टर कहते हैं, ठीक हो जायेंगे।"

मैंने अपनी व्यवहारिकता दिखाने को कहा, "महेन्द्र, अब भूल मत करो, देवेन्द्र, जितिन—सब को तार दे दो।"

महेन्द्र कुछ कहना चाहते थे—"क्या···।"

"बस, अब देर मत करो।" मैंने कहा और मेरी बात मान कर महेन्द्र ने तार भेजने की व्यवस्था की।

फिर शाम बीती, रात आयी। पर बेनीपुरी की दशा में कोई सुधार न हुआ।

आधी रात होते न होते उल्टी चलने वाली साँस और तीव्र हो उठी।

हमलोग तो कुछ न समझे, पर दीदी (बेनीपुरी जी की पत्नी) शायद अब धोखे में आने वाली न थीं—समझ गयीं। उन्होंने प्रो० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित से कुछ कहा। दीक्षित जी क्षण भर को अन्यमनस्क से हो उठे, फिर तत्काल अपने को सम्हाला, गीता लेकर बेनीपुरी के सिरहाने बैठ गये। और गीता पाठ करने लगे। पता नहीं कितने शब्द बेनीपुरी सुन पाये। पर दीक्षित जी भावना में डूबे पाठ करते ही रहे।

और अचानक (बेनीपुरी के लिए स्वाभाविक) सबेरे, रात का अंधेरा छिप रहा था, प्रातः-ज्योति धुँधली होकर फैल रही थी···

पितृपक्ष का दिन प्रारम्भ होने वाला था कि···

कि एक झटके से बेनीपुरी के प्राण-पखेरु शरीर छोड़ कर दिग्दिगन्त के किस सुदूर कोने की ओर उड़ गये, कोई न देख सका।

□ □ □

असली अर्थों में बेनीपुरी चले गये।

दीदी का बहुत दिनों से रुका रोदन जैसे एकाएक बाढ़ की तरह उमड़ आया···

प्रभा पछाड़ खा कर चीख पड़ी···"हाय बाबूजी!"

दो पतोहुएँ बिलख पड़ीं······

बेटे, पोते सभी रो पड़े······

सचमुच बेनीपुरी नाम का व्यक्ति, हँसोड़, जीवन्त, कहकहा, सदा के लिए गुम हो गया। मेरा गुरु चला गया।

क्या एक क्षण को भी धरती की गति रुकी?

क्या एक क्षण को भी दुनिया का चक्र धीमा पड़ा?

बस, भारत देश का, सरस्वती का एक सपूत सदा के लिए चला गया···

मेरी आँखों के सामने छांसठ वर्ष का एक युग क्षण भर में मिट गया···

सभी वर्तमान इतिहास हो गया···

देवेन्द्र और महेन्द्र पहली बार अनाथ से लगे।

□ □ □

सात को सबेरे···

बेनीपुरी का शव पड़ा है। चादर से ढँका शरीर, फूलों से ढँका शरीर, सिरहाने धूप जल रही थी······

लोग आते-जाते रहे···मातमपुर्सी···संवेदना, करुणा के दो शब्द, सब निर्जीव !

देवेन्द्र और महेन्द्र से राय की। एक दर्जन तार लिख कर भेजे—जितिन, जयप्रकाश नारायण, गंगाबाबू, दिनकर, कर्पूरी ठाकुर, राष्ट्रभाषा परिषद्, साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा आदि सभी को तार से सूचना भेज दी।

'बेनीपुरी चले गए—' सूचना पा कर सभी को कैसा लगा होगा !

मैं जानता था कि किससे बेनीपुरी का कैसा संबंध था, किसके लिए बेनीपुरी ने क्या-क्या किया था। अतः मैं दोपहर आते-आते प्रतीक्षा करने लगा—बेनीपुरी के संगी-साथी, सहयोगी, मित्र, पटना वाले तो जरूर ही आवेंगे।

पर कोई नहीं आया।

□ □ □

ग्यारह बजते-बजते निर्णय हो गया कि बेनीपुरी का शव बेनीपुर ही ले जाया जाय।

किसी ने साधिकार कहा, "उनकी इच्छा थी कि बेनीपुर में अपने घर के सामने अपने ही हाथों लगाये गये मौलसरी के पेड़ के नीचे ही उन्हें जलाया जाय !"

उन्हीं की बात मानी जाय, अतः बस से एक आदमी को सूचना देने बेनीपुर भेजा गया।

एक ट्रक आयी, सजायी गयी।

बेनीपुरी की अंतिम-यात्रा की सजावट !

एक बजते-न-बजते बेनीपुरी का शव अरथी पर लिटा कर कई लोग उठा-कर नीचे लाये। सजी हुई ट्रक पर लिटाया। सभी अपने को कर्तव्यभार के कारण सँभाले थे, पर दीदी को कौन सम्हालता? प्रभा को कौन सम्हालता?

"..........."

और ट्रक पर फूलों से लदा था, सुलाया हुआ बेनीपुरी का शरीर! वही चेहरा, वही शरीर, वही संगी-साथी···पर बेनीपुरी कहाँ?

खैर,

दो मोटरें और साथ थीं—

सभी लोग ट्रक और मोटरों में ठसमठस भर गये। कौन भला बेनीपुरी की अंतिम-यात्रा में साथ न जाता?

और प्रभा को, दीदी को बिलखती छोड़ हम सब लोग चल पड़े।

कभी-कभी आदमी कितना पाषाण हो जाता है!

मुजफ्फरपुर के बीच से ट्रक चली जा रही थी। एक सज्जन सामने से रिक्शे पर आते दिखे। चिल्ला कर हाथ दे कर ट्रक रुकवायी। चुपचाप रिक्शे पर से उतर कर उन्होंने झोले में से लाल कपड़ा निकाला और ट्रक पर चढ़ कर शव पर उढ़ा दिया। यह था प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का झंडा। जिस झंडे के लिए बेनीपुरी प्रेरणा थे। यह झंडे का आखिरी सलाम था।

□ □ □

और वह दृश्य!

रास्ते भर महंत जी (बेनीपुरी जी के दामाद) चिन्तित थे—गाँव में चारो ओर पानी भरा होगा—कैसे अरथी को घर तक ले जाएँगे!

लेकिन पक्की सड़क छोड़ कर बेनीपुर जाने वाली सड़क के मोड़ पर अचानक ट्रक रुक गयी।

ड्राइवर की बगल में बैठा, मैंने बाहर सिर निकाल कर देखा···ट्रक लोगों से घिरी है। अनगिनत सिर, कोलाहल, झाँझ-मजीरा और ढोल-ताशे के साथ भजन का समवेत, 'बेनीपुरी जी अमर हैं' के नारे···

सभी ग्रामीण, गरीब, नंगे सिर, नंगे पाँव, नंगे शरीर, कोई अँगोछा पहने, कोई धोती लपेटे—बस इन्हीं के तो प्रिय थे न बेनीपुरी···!

और हम अवाक् देखते ही रहे···

अपार जनसमूह, सड़क के दोनों ओर पानी भरा···कहीं सूखी जमीन न दिखी।

और अभी क्या···कुछ लोग दौड़े आ रहे हैं—दूसरे गाँव वाले। जिसको जैसे खबर मिली, भागा आ रहा है।

मर्द और बच्चे, कोलाहल, नारे···
'बेनीपुरी जी अमर हैं।'
और हम सचमुच अवाक् देखते ही रहे···।
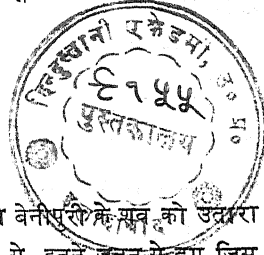
लोगों ने बिना पूछे-कहे ही लोगों ने ट्रक पर से बेनीपुरी के शव को उतारा और कंधों पर लाद कर अरथी ले चले। इतनी दूर से, इतने जतन से हम जिस शरीर को ले आये थे, उसे कौन अपना अधिकार समझ कर हमसे छीन कर ले चला ?

यही जनता जनार्दन है ! यही बेनीपुरी की जनप्रियता है ! और देखते-देखते लोग कंधे पर अरथी लिये पानी में उतर चले।

और अपूर्व दृश्य था वह !

गर्दन तक पानी, गँदले पानी पर केवल नरमुंड और कंधे पर लाल झंडे से ढँका शव। गँदला पानी, काले सिर और लाल अरथी—बस वहाँ तीन ही रंग थे। तिरंगों का अनोखा मेल।

इधर हम शहर के 'बाबू लोग' नावों की प्रबन्ध-प्रतीक्षा में व्यस्त और उधर जिनके थे बेनीपुरी, वे उन्हें लिये जा रहे थे—

ढोल-मजीरे का स्वर, रामायण की चौपाइयाँ और नारे···कोलाहल···कोलाहल···और हम खामोशी में डूबे नाव पर उनके पीछे-पीछे चले।

□ □ □

यह बेनीपुरी का ग्राम—बेनीपुर।

हर घर से बच्चे, स्त्रियाँ निकल कर अपने नायक को अंतिम प्रणाम देने को बाहर खड़े हैं। स्त्रियाँ शोक में डूबी, बच्चे उत्तेजित !

और हमसे पहले ही लोग शव को लेकर 'बेनीपुरी भवन' के सामने पहुँच गये।

बेनीपुरी के साथ कई बार यहाँ आया था। तब यह 'कहकहों का महल' था और अब, आज अपने निर्माता के शव के सम्मुख जैसे खमोश गरदन झुकाये खड़ा था।

गाँव वालों ने हमें तो जैसे दूर ही कर दिया था—वे ही लोग सब प्रबन्ध करते रहे।

'मौलसरी' का वृक्ष अपने नियामक को समेट लेने को हिलने-सा लगा।

उसी 'मौलसरी' के नीचे चिता बनी, बेनीपुरी के शव को स्नान कराया गया और विधिपूर्वक चिता पर···

चिता जल उठी···

धुधुआ कर जली···

लपटें उठ-उठ कर मौलसरी की पत्तियों को छूतीं, टंहनियाँ हिलतीं, पत्तियाँ मुर्भातीं···उधर चिता जल रही थी और उसे घेर कर बैठे ग्रामीण ढोलक पर भजन गा रहे थे—'रामा, हो रामा···'

बेनीपुरी का जीवन-सेवक गणेश पता नहीं, आतंक से या उत्तेजना से, सबसे ज्यादा चीख रहा था···और गाते-गाते चारो ओर अपने 'मालिक' को ढूँढ़ रहा था।

□ □ □

फिर सब कुछ वही हुआ जो होता है।

चिता बुझी, लोगों ने मिट्टी दी।

अब शरीर भी नहीं था!

केवल बेनीपुरी की याद थी, बस!

देवेन्द्र ने 'काम' किया था।

सिर के बाल उतरवा कर, एक धोती लपेटे खड़े देवेन्द्र को देख सकने को भी शक्ति चाहिए थी।

सब बाढ़ के पानी में नहाये—

और हम लोग वापस नाव पर आ बैठे।

अँधेरा हो रहा था। शाम झुक आयी थी।

हम वापस चले, गाँव के लोग अपने-अपने घर गये, अकेले देवेन्द्र दो-तीन लोगों के साथ खड़े रहे, वहीं, जहाँ उनका पिता राख किया गया था !

वह रात देवेन्द्र ने अकेले कैसी काटी होगी !

□ □ □

हम लौट कर मुजफ्फरपुर आये !

शहर में पूर्ववत् कोलाहल, सभी कामकाज पूर्ववत् ! कहीं कोई अंतर नहीं। केवल 'बेनीपुरी प्रकाशन' बंद था !

वहीं हम लोग मोटर से उतरे। शहर के सभी लोग अपने-अपने रास्ते गये।

मैं अकेला दीक्षित जी के साथ खड़ा था। शायद मुझ पर तरस खा कर दीक्षित जी ने कहा, "चलिए चाय पी लें, आप बहुत थक गये हैं।'

सचमुच थका तो था, पर चाय पीने को मन नहीं कर रहा था। लेकिन जाने क्यों मैं दीक्षित जी को 'न' नहीं कह पाया। मैं जैसे शून्य में खड़ा था—कुछ गति चाहिए, इसलिए उनके पीछे-पीछे चल पड़ा—

होटल ! चाय आई। दो ही घूँट पी पाया था कि होटल के मैनेजर की मेज के पीछे रखा रेडियो बज उठा। पटना केन्द्र से बेनीपुरी के लिए संवेदनाएँ प्रसारित हो रही थीं...

जयप्रकाश बोल रहे थे—'...बेनीपुरी के निधन से मेरी व्यक्तिगत क्षति हुई...वे महान थे...महान् लेखक...'

मैं उठ कर बाहर आ गया। चाय की याद ही नहीं रही ! मन में एक हल्का सा प्रश्न उठा—जयप्रकाश क्या आ नहीं सकते थे ?

कोई साथी क्यों नहीं आया ?

तभी याद आया—बेनीपुरी लेखक थे—मंत्री नहीं।

□ □ □

बेनीपुरी को—अपने गुरु को जला कर, खाक करके, दीदी को सांत्वना देकर, प्रभा के आँसू पोंछ कर, महेन्द्र को समझा-बुझा कर वापस आ गया।

महेन्द्र और प्रभा, देवेन्द्र और जितिन ने पिता खोया—मैंने गुरु खोया ! कौन किससे बड़ा अनाथ है आज ?

□ □ □

फिर कामों में फँस गया हूँ। रोटी-दाल, यश-अपयश की चिन्ता। जीने के प्रयोजन।

बेनीपुरी जी थे—बहुत अच्छे थे—बस, कभी-कभी यादों में कुछ चमक जाता है—फिर सब बेखबर !

बेनीपुरी का अंतिम बार आँखों का संदेश याद आता है। पता नहीं उन आँखों ने क्या कहा था ! पता नहीं मैंने क्या समझा था !

बेनीपुरी क्या कहना चाहते थे, जो वे कह न सके...अभी बहुत काम बेनीपुरी के अधूरे ही हैं—देश में समाजवाद अभी नहीं आया है...उनकी कई पुस्तकें अभी भी अप्रकाशित हैं...बेनीपुरी ग्रंथावली के सात-आठ खंड अभी भी छपने हैं...

लेकिन कौन करेगा उनके अधूरे कामों को पूरा ?

यह दुनिया है !

[सन १९६९]

महादेवी जी

आज से बारह साल पहले ।

सचमुच उस दिन आरा स्टेशन का प्लेटफार्म, सारा वातावरण, सारा वायु-मण्डल मुखरित हो रहा था । प्लेटफार्म पर तिल रखने की जगह न थी ।

यह पहला अवसर था जब जनता ने देखा था, पहचाना था कि अब तक वे जाने किस भ्रम में खोये थे और आज सरस्वती की वरदानी महादेवी जी की जैजैकार करके वे अपने को धन्य मना रहे थे । यही नहीं, आज की जैजैकार में एक नयी अनुभूति प्राप्त हुयी थी, वह यह कि साहित्यकार की जैजैकार अपनी जैजैकार है । साहित्यकार का सम्मान अपना सम्मान है । जनता को पता लग गया कि उसके जीवन के यदि कोई अधिकतम निकट है तो वह साहित्यकार है और साधारणतम व्यक्ति के जीवन के सुखदुख को अपने-ऊपर ओढ़ लेने को तैयार रहने वाला केवल साहित्यकार ही है ।

इसी भावना से प्रेरित होकर उस दिन आरा की जनता, बिहार की जनता महादेवी जी को अपने बीच पा कर आत्मविभोर हो रही थी । महादेवी जी बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का उद्घाटन करने आरा गयी थीं । बिहार की जनता

में साहित्य और साहित्यकारों के लिए कितना आदर और स्नेह है यह मुझे उसी दिन ज्ञात हुआ।

महादेवी जी जब कभी जनता के बीच हों, तब उनके बड़े भव्य दर्शन होते हैं। जैसे कोई स्नेह का समुद्र अपने में समेटे अमृत वर्षा करता चले। महादेवी जी जिस जनता के लिए आज पैंतालिस साल से लिखती पढ़ती रही हैं, उनसे मिल कर उन्हें भी प्रसन्नता क्यों न हो। महादेवी जी के हृदय की विशालता मुझे यहाँ अपने विस्तृत रूप में देखने को मिली। एक अप्रिय घटना हो गयी थी जिसका यहाँ जिक्र करूँगा।

बात यह थी कि महीने भर से हम लोग पत्रों में पढ़ रहे थे कि उपरोक्त सम्मेलन का उद्घाटन श्रीमती महादेवी वर्मा कर रही हैं। उस दिन महादेवी जी के साथ मैं भी आरा के लिए रवाना हुआ। शाम को अंधेरा गिरते-गिरते आरा स्टेशन पर गाड़ी पहुँची। आरा स्टेशन की धुँधली रोशनी, अपार जनसमूह ! महादेवी जी कहाँ हैं? नहीं आई क्या ? नहीं आएँगी तो सम्मेलन बेकार हो जायगा। यही फुसफुसाहट हर ओर से आ रही थी।

तभी गाड़ी से महादेवी जी उतरीं। जनता में आशा व उत्साह के साथ-साथ तेजी की एक लहर दौड़ गयी। मानो उस धुँधले प्रकाश में ही एकाएक रोशनी कौंध गयी और सारी दिशाएँ हँस उठीं। महादेवी जी के पाँव आरा की धरती पर पड़े और लोगों का कंठ फूट पड़ा—

महादेवी जी, जिन्दाबाद !

स्टेशन पर ही ज्ञात हो गया था कि सम्मेलन का उद्घाटन वहाँ के प्रबन्धकों ने भारत सरकार के मन्त्री श्री कन्हैयालाल मनिकलाल मुन्शी द्वारा दोपहर को दो बजे ही करा लिया था। सूचना देने वाले व्यक्ति से ही मैंने प्रश्न किया, "और महादेवी जी ?"

"समय तो दो बजे का था। आप की गाड़ी साढ़े पाँच बजे आयी।"

मैं चुप ! सम्मेलन के सभापति थे श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। मुझे विश्वास था कि बेनीपुरी जी अपनी जान में यह अनर्थ न होने देंगे। मैं बेनीपुरी से शीघ्र मिलने को उत्सुक हो उठा ताकि जान सकूँ ठीक-ठीक, साफ-साफ बात !

मेरा मन क्रोध, अपमान और जाने किस-किस प्रकार के घुटन से घुट

रहा था। तभी महादेवी जी ने शायद समझ लिया था—पूछा, "तेरा मुँह क्यों फूल गया ?"

मुझे तो गुस्सा चढ़ा ही था। कहा, "जब मुन्शी को ही उद्घाटन करना था तो आपको क्यों बुलाया ?"

महादेवी जी हँस पड़ीं। उनके अट्टहास से मुझे लगा कि यह सब क्रोध-अपमान का गुबार बेकार है। उन्होंने कहा, "उद्घाटन का ठीका तो मैंने नहीं ले रखा। तू क्यों बिगड़ रहा है? उनकी जैसी व्यवस्था रही हो, मुझे आना था, सो आ गयी।"

"सो सब ठीक है ! परन्तु मुझे बेनीपुरी जी से अवश्य ही बातें करनी है।"

"नहीं, कुछ झगड़ा न कर बैठना। मैं तो तेरे इस क्रोध से परिचत ही न थी। इसी डर से तो मैं बसन्त को नहीं लायी।"

तभी बेनीपुरी जी आ गये और मैं उन पर झुंझला उठा। उन्होंने बताया कि जाने कैसे प्रबन्धकों को सूचना मिली कि महादेवी जी नहीं आवेंगी इसीलिए यह प्रबन्ध किया गया।

अब इसका पता लगाने से लाभ ही क्या कि सूचना किसने और कैसे दी। परन्तु मैं बड़ी देर तक यही सोचता रहा कि इस समय महादेवी जी के स्थान पर कोई और व्यक्ति होता तो इसे क्या मानता ! महादेवी जी के हृदय की विशालता थी कि उन्होंने कुछ भी न जाना, न माना, बल्कि मंच पर पहुँच कर सीधे-साधे देरी के लिए क्षमा माँगी और उत्सव को अपने आशीर्वाद से अमर बना दिया।

यह महादेवी जी के गुणों में एक है कि कोई भी साहित्य सम्बन्धी आयोजन हो, उनका आशीर्वाद अवश्य मिलेगा। भला एक माँ अपने परिवार की वृद्धि पर आशीर्वाद से उन्हें वंचित रख कैसे सकती है !

□ □ □

एक दूसरी घटना ! इसके और पूर्व ! सन १९४८।

सुबह-सुबह ही पत्रों में समाचार मिला कि हिन्दी कोकिला सुभद्रा कुमारी चौहान की मोटर दुर्घटना में मृत्यु हो गयी ! सारे राष्ट्र के साहित्य प्रेमियों

पर सियापा छा गया। मन रोने-रोने को हो रहा था। तब मैं 'संगम' के सम्पादकीय विभाग में था। मान्यवर जोशी जी ने कहा कि सुभद्रा जी का चित्र कहीं से खोजना है। बहुत खोज की, जब कहीं न मिला तो मैं महादेवी जी के पास पहुँचा। महादेवी जी को देखते ही मेरी आत्मा हिल गयी। उनकी आँखें बरस रहीं थीं। रोते-रोते लाल हो गयी थीं। उनके पास केवल एक चित्र था—काफी पुराना। हिन्दी की दोनों कवयित्रियाँ—सुभद्रा और महा-देवी साथ बैठी थीं।

चित्र देते समय महादेवी जी से पड़ीं, "जीवन भर बेचारी संघर्षों में रही। अभी ही तो कुछ सुलझ पाई थी चिन्ता से कि बेचारी चली गयी।" और फिर महादेवी जी रो पड़ीं। किसी के रुदन में क्या इतनी करुणा होगी जितनी महादेवी जी के उस रोने में थी! सचमुच महादेवी जी की छाया खो गयी थी।

यह तो बात रही महादेवी जी के स्नेह की सुभद्रा जी के प्रति, पर मैंने देखा है कि जब भी कभी किसी साहित्यिक के यहाँ कोई विपत्ति आयी कि लगता है जैसे वह विपत्ति महादेवी जी पर ही आयी हो। उन दिनों महादेवी जी का स्वास्थ भी ठीक नहीं था परन्तु सुभद्रा जी की अस्थियाँ जब प्रयाग आयी थीं, संगम में प्रवाह के लिए, तो स्टेशन से संगम तक, पाँच मील से अधिक ही पैदल चल कर महादेवी जी ने अपने हाथों ही राख गंगा में प्रवाहित की थी।

कुछ इसी तरह का दृश्य उस दिन भी उपस्थित हो गया था जब पटना से शिवपूजन जी की अस्थियाँ-प्रवाह के लिये उनके पुत्र प्रयाग पधारे। सारा आयोजन अपने ऊपर उठा लिया महादेवी जी ने और संगम में राख प्रवाहित करके उनके पुत्र से बोलीं, "देखो, कोई चिन्ता मत करना। मैं हूँ, लिखते रहना। शिवजी तो 'शिव' थे। कोई भी जरूरत हो तो सूचना देना।"

यह सब देख कर कभी-कभी लगता है जैसे सबों के दु:ख-सुख का ठेका ले रखा है क्या महादेवी जी ने?

हाँ, साहित्य-सेवियों के परिवार के सिवा उनका अपना और है कौन?

□ □ □

महादेवी जी का अपना कहा जाने वाला कोई परिवार या कुटुम्ब नहीं

है। लेकिन जिन्हें महादेवी जी ने अपना सगा माना, आज उनमें से अनेक उन्हें अकेला छोड़ कर चले गये हैं। सुभद्रा जी को बहन माना था, वे भी चली गयीं। और डेढ़ वर्ष हुए, वह भी चला गया, जिसे भाई बनाया था। महादेवी जी के बन्धु, महाप्राण निराला। वाह, क्या दृश्य होता था जब हर साल नया कुरता पहन कर, सिर पर पगड़ी बाँध कर निराला जी बहन महादेवी से राखी बँधवाने आया करते थे और अपनी निर्धनता के बावजूद भी बहन के हाथ में कुछ रखना न भूलते थे। ऐसा भाई, ऐसी बहन !

उस दिन को कौन भूल सकता है, जब निराला जी को खोकर महादेवी जी स्तब्ध रह गयीं थीं। लोगों ने उस दिन उन्हें बुलवाने की कितनी चेष्टा की थी पर महादेवी जी की वाणी जैसे जम गयी थी। दिल पर पत्थर रख कर भाई की जलती चिता को कितनी करुण, कितनी बेबस, कितनी निरीह आँखों से वे देख रही थीं। क्या उस करुण-मूर्ति का चित्रण शब्दों में किया जा सकता है ?

साहित्य का जो मंदिर महादेवी जी ने बनाया था उसका कंगूरा ही टूट था गया।

आज महादेवी जी अकेली खड़ी हैं। साहित्यधारा के बीच, सरस्वती की प्रतिमा-सी।

□ □ □

महादेवी जी को लोग साहित्यिक व्यक्तित्व के रूप में ही जानते हैं पर मूलतः वे महान विद्रोहिणी और राष्ट्र-सेविका हैं।

सन् ४३ मे जब बंगाल का अकाल पड़ा था तब 'बंगदर्शन' का संकलन प्रकाशित करके जाने कितना रुपया भेजा था अकाल-पीड़ितों के लिये और आज जब देश पर चीनी आक्रमण हुआ है, राष्ट्र-रक्षक हिमालय आक्रमकों द्वारा रक्तरंजित हो रहा है, तब महादेवी जी व्यस्त हैं 'हिमालय' के संकलन में। ताकि विश्व को बताया जा सके कि हिमालय कितना महिमावान है, कितना गरिमावान है, कितना विशाल हैं।

□ □ □

होली के दिन हम विशेष रूप से उल्लास से भर जाते हैं, क्योंकि इसी

होली के दिन आज से ५६ वर्ष पूर्व महादेवी जी ने जन्म लिया था। तब एक सम्वत् जल रहा था और महादेवी जी के रूप में एक नया युग निर्माण पा रहा था। इन छप्पन बरसों में हिन्दी का भाग्य कितना चमका है, यह तो वही बतावे, जो हिन्दी का इतिहास लिखे। हम तो हिन्दी के मंदिर के पुजारी हैं, जिसकी देवी महादेवी हैं। बसन्त-जन्मे निराला की बहन, होलिका-जन्मी महादेवी, कवयित्री महादेवी, गद्यकार महादेवी, सम्पादिका महादेवी, चित्रकार महादेवी, राष्ट्रसेविका महादेवी, मीरा महादेवी।

आज उन छप्पन होलियों को प्रणाम! साहित्य की अर्द्ध शताब्दी को प्रणाम!

[सन् १९६३]

राहुल बाबा

आज से सत्तर साल पहले, उस दिन उस ब्राह्मण परिवार में एक झंझट उठ खड़ी हुई ।

"तुम्हें हिन्दी नहीं, उर्दू ही पढ़नी होगी !"

नाना रामशरण पाठक ने अपने पंचवर्षीय भोले नाती केदारनाथ पांडेय को डाँटा । बालक केदार मन ही मन कुढ़ा, पर चुप रहा । मन ही मन रटा—क, ख, ग...और जोर से कहना पड़ा—अलिफ, बे, पे...

नाना के युग में उर्दू का ही बोलबाला था । अगर अच्छी उर्दू पढ़ी हो और काम चलाऊ अंग्रेजी तो सरकारी नौकरी जल्दी मिल सकती थी । इसी सम्भावना-वश नाना ने उर्दू का पक्ष लिया । पर प्रभु की कुछ और ही योजना थी । उर्दू के उच्चासन के नीचे ही नीचे हिन्दी पलती रही, पनपती रही । और आज सत्तर वर्षों में एक इतिहास बनता नजर आता है—अलिफ-बे बाँचने वाला वह केदार पांडेय, राहुल सांकृत्यायन के रूप में हिन्दी के गगन में सबसे अधिक चमकीला सितारा बन कर चमका जिसकी ज्योति किसी सूर्य या चन्द्रमा से तनीक भी कम सिद्ध न हुई ।

हिन्दी जगत का सबसे सशक्त और चमकीला सितारा ! हिन्दी का गौरव-पूर्ण यश—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन !

वही महान् सितारा गत १४ अप्रैल, ६३ को धरती से उड़ कर आकाश के नक्षत्र-मण्डल में जा मिला। धरती तो सूनी हो गयी, पर आकाश की चमक बढ़ गयी।

राहुल जी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। लम्बे-चौड़े, भरे-पूरे शरीर के, गेहुँए रंग के एक औसत दर्जे के भारतीय। ३६ भाषाओं के पण्डित। वे भारत के सभी प्रांतों की भाषाएँ जानते और बोलते थे—बिहार में भोजपुरी, उत्तर-प्रदेश में खड़ीबोली, बंगाल में बंगला, मद्रास में तमिल, यानी जहाँ के लोग जो भी समझें।

उनसे पूछिये जिन्होंने राहुल जी के जीवन की प्रगति देखी है—बिहार प्रांत के बकाश्त आंदोलन के वे प्रणेता थे, किसान सभा के जन्मदाता, उत्तर प्रदेश के वे कामरेड थे, बम्बई के मजदूर नेता थे लाल झण्डेवाले, पंजाब के हत्याकांड के षड्यंत्री थे, सारनाथ के बौद्ध भिक्षु थे, धर्मी पण्डों और महन्तों के मठों के बाबा रामोदर दास थे। इतना ही नहीं, भारत में हिन्दी के महापण्डित, तिब्बत-के पण्डित, तेहरान के प्रोफ़ेसर और महादेश रूस के 'डाक्टर' थे।

जीवन के सत्तर सालों का अपना ही रंग था। जीवन की इस ऊँचाई तक चढ़ने के लिये राहुल जी को जितनी भी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ीं, सभी एक दूसरे से बड़ी, बढ़ा-चढ़कर। राहुल जी का जन्म हुआ था आजमगढ़ जिले के ग्राम कनैला में। उनके पिता का नाम था पण्डित गोवर्धन पाण्डेय। लड़कपन ननिहाल में बीता। पाँच वर्ष के हुए तो शिक्षा का प्रारम्भ 'अलिफ' से हुआ। मौलवी साहब सबक पढ़ाते और नानाजी बड़ी शान से अपने शिकार, यात्रा वृत्तान्त और फौजी जीवन की कहानियाँ सुनाते। नाना की लम्बी-चौड़ी बातें सुन-सुन कर नाती केदार पांडेय अपने मस्तिष्क में भूगोल की कल्पना करते जाते—आगे काम देगा यही ज्ञान।

ग्यारह के हुए तो तिलक लगा, बरात सजी, बाजे बजे, और शादी हो गयी। पिता ने सोचा कि शरारती लड़के को खूँटे से बाँध दिया। पर मनः स्थिति की प्रतिक्रिया किसी ने न देखी। यही विवाह बैरागी बनने का अंकुर था। गृह-बन्धनों से ऊब कर प्रतिज्ञा की कि पचास वर्ष की उम्र तक आजमगढ़ में पाँव न रखूँगा।

तेरह वर्ष की उम्र में माता का स्वर्गवास हुआ। पर फिर से ननिहाल का सहारा नहीं लेंगे यही निश्चय मन में कर के चौदह की उम्र में पहली बार उड़ कर कलकत्ता जा पहुँचे। पर विशाल नगरी में करें क्या? ऊब कर एक सट्टोरिया ब्राह्मण के यहाँ नौकरी कर ली। काम मिला—झाड़ू लगाना, पानी लाना और चिलम भरना। केदार पाण्डेय ने काम तो सम्हाल लिया पर चौथे महीने ही, मौका पाते ही, भाग निकले। ब्राह्मण मालिक को वैसा नौकर फिर न मिला।

पन्द्रह की कच्ची उम्र में ही हृदय पर तीन चोटें पड़ीं—एकमात्र बहन रामप्यारी राम को प्यारी हुई, नानी भी मरीं और बालबन्धु दलसिंगार भी मरे। ननिहाल की गृहस्थी छितरा गयी।

सोलह वर्ष की उम्र में किसी तरह उर्दू-मिडिल की परीक्षा पास की। नाना ने फिर बन्धन कसना शुरु किया, पर डर लगता था। नाती एक बार कलकत्ता की हवा खा चुका है। और अचानक दूसरी छलाँग। फिर कलकत्ता! फिर तो भागने का जो क्रम शुरू हुआ सो बराबर चलता रहा। इस बार कलकत्ता में दूसरे ढंग का काम मिला—सुंघनी साहु की प्रसिद्ध दूकान (बनारसवाली, स्वर्गीय प्रसाद जी की दूकान) की कलकत्ता वाली शाखा में चिट्ठियाँ नकल करना।

नाना की निगरानी में तो दो बार कलकत्ते का पानी पिया। अब पिता ने भी अपनी शक्ति आजमानी चाही। कलकत्ता से पड़क ला कर अपने साथ ही कनेला में रखा। घर के पास ही एक मठ था—परमहंस बाबा का। रोज ही वहाँ दो-एक साधु यात्री आते-जाते रहते। युवक केदार पांडेय उनके सत्संग में बैठते और बातों में मजा लेते। वैरागियों की बातें ध्यान से सुनते और 'वेदान्त' का मादक रस पीते जाते। पिता ने एक दिन कर्तव्य समझाया, "देखो, तुम्हारा ब्याह हो चुका है। एक स्त्री का जीवन भी तुम्हारे साथ जुड़ा है।"

केदार पाण्डेय ने कर्तव्य को पहचानना चाहा, पर वहाँ तो अपना व्यक्तित्व मिटता दिखाई पड़ा। तीसरी छलांग जो मारी तो कलकत्ता भूल कर हिमालय जा सिधारे। छ महीने तक उत्तराखण्ड में घूमते रहे, फिर लौट कर काशी में जमे और संस्कृत पढ़ने का निश्चय किया। काशी में ही एक नेपाली साधु से भेंट हुई। तब केदार पांडेय की उम्र अठारह की थी। साधु ने दुर्गा-पाठ की राय दी। केदार पांडेय ने शुरू किया। शर्त थी—अगर नौ दिन के पाठ के बाद भी दशभुजा दुर्गा को साक्षात् न देखा तो मर जाऊँगा।

और पाठ शुरू हुआ। नवरात्र समाप्त हुआ, पर दुर्गा न आयीं और अपनी शर्त के अनुसार केदार पांडेय ने काफी मात्रा में धतूरा खाया, मरने को। पर यदि केदार पांडेय मर जाते तो राहुल कौन होता? सो मृत्यु तो दूर ही रही, धतूरा भी पच गया, उपचार हुआ, चंगे हो गये।

उन दिनों 'सरस्वती' पत्रिका में श्री जगन्नाथ खन्ना की अमेरिका यात्रा का विवरण पढ़ा और विदेश भ्रमण का अंकुर मन में उपजा। उन्हीं दिनों सारन में एक मठाधीश से परिचय हुआ। मठाधीश को एक उत्तराधिकारी चाहिये था। तरुण केदार पांडेय पर नजर टिकी। और भला केदार पांडेय को क्या आपत्ति हो सकती थी? झट चोला बदल, रजिस्टर्ड मठी हो गये। अब केदार पाँडेय मठाधीश के उत्तराधिकारी बाबा रामोदर दास के रूप में प्रकट हुए। मठ का ठाठ! एक दिन मठाधीश ने कहा —"बच्चा, बहुत पोथी बाँच कर क्या करेगा? अपनी इतनी मूर्तियाँ हैं, प्रसाद तो आ ही जाता है। बस वसूल-तहसील में ध्यान दे।"

बस, फिर मन में विद्रोह भड़का। तभी पिताजी खोजते हुए आ पहुँचे। बाबा रामोदर रूपी केदार पांडेय को फिर गिरफ्तार किया। कुछ दिन तो पिता के साथ रहना ही पड़ा और इस बार मौका पाकर जो उड़े तो सीधे दक्षिण। एक मन्दिर में बकरे की बलि के विरोध में सत्याग्रह के लिए कुछ युवकों को इक्ट्ठा किया। सत्याग्रह चला, पुजारी हारे—अपनी जीत हुई। वहीं से आर्यसमाज का पीछा पकड़ा। तभी साहित्य में रुचि बढ़ी। सरस्वती (प्रयाग) और प्रताप (कानपुर) से नाता जोड़ा। घूमते हुए लाहौर पहुँचे और पँजाब हत्या-काण्ड में भी शामिल हो गये। राजनीति का भी नशा चढ़ा। कानपुर, गोहाटी और गया के कांग्रेस अधिवेशनों में प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया और जल्दी ही बिहार के किसान नेता हो गये। अकाल, भूकम्प और बकाश्त की बेदखली के नेता।

अट्ठाइस वर्ष की उम्र में छपरा में एक आन्दोलन में गिरफ्तार होकर पहली बार ६ महीने की जेल काटी। फिर बत्तीस की उम्र में (१९२५-२६) में दो साल की सजा पायी। हजारीबाग जेल में कारावास के समय ही 'शैतान की आँख', 'विस्मृति के गर्भ में', 'जादू का मुल्क' और 'सोने की ढाल' का अनुवाद किया।

१९२७-२८ में छूट कर लंका पहुँचे, पालि अध्ययन के लिए। फिर तिब्बत गये और वहाँ कुछ अप्राप्य ग्रंथों की खोज की, जिससे प्रभावित होकर प्रसिद्ध

रूसी महापण्डित चेवस्की ने उन्हें रूस बुलाया। जब रूस से लौटे तभी महा-युद्ध शुरू हो गया और सब कार्यक्रम रुक गया। १९४४ से १९४७ तक राहुल जी दूसरी बार रूस में रहे। इस बार रूस से जो साहित्य-सामग्री आप साथ लाये थे उनका हिसाब यह है—२४०० कापी साइज के पृष्ठों पर नोट्स, ४०० कापी साइज के पृष्ठों पर रूसी-संस्कृत शब्दावली के नोट्स, ११०० पृष्ठों में दो उपन्यासों का अनुवाद और ८०० पृष्ठों की डायरी।

राहुल जी के अब तक प्रकाशित साहित्य की नाप लगभग ३५,००० पृष्ठों की है। इनमें मौलिक, अनुवाद, सम्पादन और संकलन भी है। दूसरी भाषाओं में इनके साहित्य के अनुवाद का कोई पार नहीं। इनके साहित्य में साहित्य का सब भाग ढँका है—कथा, उपन्यास, धर्म, दर्शन, राजनीति, विज्ञान, इतिहास, जीवनी और आलोचना भी।

प्रगातिशील होते हुए भी उनका दृष्टिकोण कभी एकांगी नहीं रहा। वे ठोस सांस्कृतिक साहित्य के पक्षपाती थे। राहुल का साहित्य विशाल था। एकाग्रमन होना उसके चरित्र का प्रधान गुण था। चाय पीना शुरू करते तो आधे पर ही भूल भी जाते। सिगरेट लेते तो कश खींचना भी भूल जाते और पूरी सिगरेट बिना पीये ही राख हो जाती।

राहुल जी ३६ भाषाओं के पण्डित थे। उनके कपाल में कितने मस्तिष्क थे, राम जानें।

१९३९ में वे बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने और १९४७ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बम्बई अधि-वेशन के अध्यक्ष।

इधर दो वर्षों से उनका स्वास्थ्य साथ छोड़ बैठा था। आज राहुल के गत होने की, कल्पना करते ही लगता है, जैसे कोई पहाड़ धरती पर से गायब हो गया हो या कुतुबमीनार जैसे टूट गयी हो।

हिन्दी के मन्दिर का सबसे ऊँचा कंगूरा सचमुच टूट गया। सत्तर साल के अनुभवी, साधक, विद्वान् , घुमक्कड़ जीवन का एक अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया। अलिफ से शुरू हुए जीवन का अन्त हिन्दी के दो सौ गौरव ग्रन्थों की रचना के साथ हो गया।

[सन् १९६३]

'रजिन्नर बाबू'

भारत में अहिंसात्मक सत्याग्रह की शक्ति की पहली परीक्षा गाँधी जी ने लगभग ३४ वर्ष पूर्व चम्पारन जिले में की थी। देश में वह पहला सत्याग्रह था, जहाँ अहिंसा ने विजय प्राप्त कर के देश को इस मार्ग पर चलने को प्रेरित किया। गाँधी जी ने वहाँ अहिंसात्मक सत्याग्रह की विजय प्राप्त करने के अलावा अनेक महान राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को भी ढूँढ़ निकाला जिनमें डा० राजेन्द्रप्रसाद भी हैं।

देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद आज भारतीय जन-आन्दोलन के एक स्तम्भ हैं। त्याग की सजीव मूर्ति हैं। जब असहयोग आन्दोलन के अवसर पर डा० राजेन्द्रप्रसाद ने वकालत छोड़ी थी, उस समय आप के पास केवल १५ रु० बैंक के खाते में जमा थे। लेकिन आर्थिक परिस्थिति का विचार न कर आप गाँधीजी के साथ हो गये। बिहार के किसी निवासी से यदि आप डा० राजेन्द्रप्रसाद के बारे में बातें करें तो वह अपने प्रिय नेता के प्रति श्रद्धा से झूम उठेगा और कहेगा—"हमार रजिन्नर बाबू !"

देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद एक किसान का जीवन व्यतीत करते हैं। आप एक औसत दर्जे के भारतीय किसान मालूम भी पड़ते हैं। लम्बा-चौड़ा डीलडौल,

साँवला रंग, सफेद खादी की ऊँची धोती, ऊपर से खादी का सफेद कुरता। सिर पर उज्ज्वल गाँधी टोपी। आप रंग में, रूप में, पहनावे-ओढ़ावे में, सरलता और त्याग में एक भारतीय किसान की ही तरह हैं।

लगभग ६२ वर्ष पूर्व आपका जन्म बिहार प्रान्त के सारन जिले के जीरा-देई गाँव में एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ था। आप अपने परिवार में सबसे छोटे पुत्र हैं। आपके पिता जी मुंशी महादेवप्रसाद का स्वर्गवास जब आप बहुत छोटे थे तभी हो गया था, और आप के पढ़ाने-लिखाने का भार आपके ज्येष्ठ भ्राता बाबू महेन्द्रप्रसाद पर ही रहा। प्रारम्भिक शिक्षा आपको गाँव पर ही मौलवी साहब द्वारा दी गयी थी। फिर आप छपरा भेजे गये, जहाँ से आपने मिडिल पास किया। इन्ट्रेंस की परीक्षा आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में पास की। आप पहले बिहारी थे जिसने कलकत्ता विश्वविद्यालय की कोई परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। बी० ए० और कानून की परीक्षाएँ भी डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही सम्मान के साथ पास कीं।

विद्यार्थी-जीवन से ही डा० राजेन्द्रप्रसाद में देश-प्रेम की भावना प्रबल थी। आत्मसम्मान की भावना आप में शुरू से ही थी। अपने विद्यार्थी-जीवन में जब आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे तभी एक बार विद्यार्थी वर्ग में बिहारी और बंगाली का झगड़ा हुआ। बिहारियों को बंगालियों की सभा से अलग किये जाने पर आपने १६०२ में 'बिहारी विद्यार्थी-संघ' की स्थापना की। बिहारी विद्यार्थी कान्फरेन्स के जलसे के समय स्वर्गीय गोखले से आप का परिचय हुआ। गोखले जी पर आप के व्यक्तित्व का इतना असर पड़ा कि गोखले जी ने अपने साथ काम करने के लिये उनसे कई बार कहा। पर जब कभी राजेन्द्र बाबू आगे बढ़ते थे आपके बड़े भाई बाबू महेन्द्रप्रसाद उन्हें सदा रोक देते थे। पर यह कब तक चल सकता था! राजेन्द्र बाबू के प्रयत्नों से बंगाली-बिहारी झगड़ा बढ़ने नहीं पाया और आज बंगाल के सबसे बड़े मित्र डा० राजेन्द्रप्रसाद ही हैं।

काँग्रेस में शामिल होने के साथ ही राजेन्द्र बाबू ने अपनी वकालत छोड़ दी। गाँधी जी को ब्रजकिशोर बाबू के बाद बिहार में दूसरे सहयोगी डा० राजेन्द्रप्रसाद ही मिले। गाँधी के व्यक्तित्व और अहिंसा की नीति का राजेन्द्र प्रसाद पर बहुत बड़ा असर पड़ा। गांधी जी के आदर्श, राजेन्द्रप्रसाद के

आदर्श हैं। कांग्रेस में शामिल होने के बाद आपके अटूट परिश्रम से चिढ़ कर बिहार सरकार ने आपको २४ घंटे के भीतर बिहार प्रान्त छोड़ देने की आज्ञा दी। पर राजेन्द्र बाबू पर इसका असर न पड़ा। आज्ञा उल्लंघन के सिलसिले में कानूनी झंझट खड़ी हुई। पर कानून के इस पंडित के आगे कानूनी झंझट क्या थी! सरकार को झुकना पड़ा और १९१८ का 'एग्रेरियन एक्ट' आप और गांधी जी के ही पुण्य प्रयास के कारण बना।

असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भ से ही राजेन्द्र प्रसाद अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा और रचनात्मक कार्य-शैली के कारण बिहार के नेता बन गये। उसी असहयोग आन्दोलन के अवसर पर कांग्रेस ने ऐलान किया था कि सभी विद्यार्थी अपने स्कूल और कालेज छोड़ दें। राजेन्द्रप्रसाद उस समय पटना विश्व-विद्यालय के सीनेट और सिन्डीकेट के सदस्य थे। आपने कांग्रेस की आज्ञा पर दोनों पदों से इस्तीफा दे दिया और ६२,०० छात्र-छात्राओं को लेकर 'बिहार विद्यापीठ' नामक राष्ट्रीय संस्था को जन्म दिया था।

१९३४ के भूकम्प से राजेन्द्रप्रसाद भारत के कोने-कोने में प्रसिद्ध हो गए। भूकम्प के समय राजेन्द्र बाबू पटना जिला जेल में कैदी थे और बहुत बीमार थे। सरकार ने उनके जीने की आशा त्याग दी थी, और अस्वस्थता के कारण उन्हें छोड़ दिया गया। बीमार राजेन्द्र बाबू को अपने स्वास्थ्य का ख्याल न रहा और आप उत्तरी बिहार के पीड़ित 'जनता-जनार्दन' की सेवा में जुट गये। भूकम्प सहायता समिति के आप अध्यक्ष बनाये गये। समस्त भारत से रुपये की सहायता दी गयी। मौत की डयौड़ी पर खड़े राजेन्द्र बाबू के जीवन की आशा डाक्टरों ने छोड़ दी थी, पर त्याग-मूर्ति राजेन्द्रप्रसाद अपने लिए नहीं जीना चाहते थे। उनका जीवन बिहार के लिए आवश्यक था, इसलिए आप अच्छे हो गये।

शुरू से ही राजेन्द्रप्रसाद बिहार कांग्रेस के मंत्री रहे। पीछे आप प्रान्तीय अध्यक्ष हुये और पिछले वर्षों तक रहे। १९२२ से आज तक आप बरा-बर कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य रहे हैं। कुछ वर्षों के लिए बीच में आपने कांग्रेस के प्रधान मंत्री पद का भार भी सम्हाला है। गया में होने वाले कांग्रेस के अवसर पर जिसके सभापति देशबन्धु चितरंजन थे, आप कांग्रेस के महामंत्री चुने गये थे। १९३४ में बम्बई कांग्रेस के अवसर पर आप राष्ट्रपति चुने गये। फिर १९३९ में जब श्री सुभाषचन्द्र बोस ने अध्यक्ष-पद

से इस्तीफा दिया और कोई दूसरा व्यक्ति उस समय इस पद को लेने को तैयार न हुआ तब डा० राजेन्द्रप्रसाद ने ही वह गुरुतर भार सम्हाला था। उस समय का राष्ट्रपतित्व काँटों का ताज था और राजेन्द्र बाबू में ही वह शक्ति थी कि उसे पहना।

अपनी ४४ वर्ष की उम्र में (१६३८ में) प्रिवी कौंसिल के एक मुकदमें के सिलसिले में राजेन्द्रप्रसाद ने विदेश-यात्रा की थी। इसी अवसर पर आपने समस्त यूरोप के देशों का भ्रमण किया। जब आप आस्ट्रिया में थे तब तक अखिल विश्व सम्मेलन की ओर से आपको गाँधी जी की अहिंसा की शक्ति पर भाषण करने का निमंत्रण दिया गया, आपके भाषण का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। पर जब आप भाषण के पश्चात् कमरे से निकल रहे थे तभी आपको विरोधियों के एक दल ने शारीरिक कष्ट पहुँचाया, जिसके फलस्वरूप आप वहीं के अस्पताल में हफ्तों पड़े रहे।

राजेन्द्र बाबू बड़े विद्वान, राजनीतिज्ञ और शिक्षा-शास्त्री हैं। लेकिन इन सबसे अधिक आप सच्चे देश-भक्त हैं। और यही कारण है कि संसार आपकी सरलता और त्याग पर मुग्ध है। शत्रु और मित्र सभी आपके सम्मुख झुक जाते हैं। भारतवर्ष के आप एक रत्न हैं, इसीलिए 'देशरत्न' के नाम से पुकारे जाते हैं। जब आप अस्थायी सरकार में खाद्य-मंत्री थे तब देश को अकाल से बचाने की लड़ाई आपने बड़े धैर्य से लड़ी।

सादगी, सरलता, विद्वत्ता और प्रेम के जीवित आकार राजेन्द्र बाबू के सम्मुख पहुँचते ही श्रद्धा से सिर झुक जाता है। इस देश-सेवक ने अपनी प्रचण्ड विद्वत्ता और परिश्रम को देश के लिए अर्पण किया है। स्वास्थ्य की आपने कभी चिन्ता नहीं की जिसके फलस्वरूप दमा ने आपको धर दबाया है। इस महापुरुष ने अपना शरीर देश की स्वाधीनता के लिए बलि कर दिया है। अब जो कुछ बचा है वह केवल आत्मा की निखरी हुई उज्जवल ज्योति है।

□ □ □

राजेन्द्र बाबू की सरलता का अनुभव केवल वही कर सकते हैं जिन्हें उन्हें पास से देखने का अवसर मिला है। किसी परिवार में एक बार जाने पर वह सहज ही उस परिवार के मुखिया बन जाते हैं। कौन कहाँ है, किसका कैसा

स्वास्थ्य है, किसका कौन बच्चा है, कौन स्वस्थ है, कौन अस्वथ है, अस्वस्थ है तो क्यों है, सब की चिन्ता इन्हें होने लगती है। पटने में आप रहते हैं तो लोग गलियों के नाले, परनाले, तक की आपसे शिकायत करते हैं और आप उन सब की चिन्ता भी करते हैं।

आश्चर्य होता है कि इतना कार्य करके भी दिन भर में केवल चार छः सूखी रोटियाँ और फीकी तरकारियाँ ही इस शरीर को किसी प्रकार स्वस्थ रक्खे है। राजेन्द्र बाबू दमा से सदा पीड़ित रहते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि दमा ने इस कीमती शरीर को बिलकुल खोखला कर दिया है। राजेन्द्र बाबू इससे बहुत परेशान भी रहते हैं। कभी-कभी तो उनके लिए यह बीमारी काफी भयावह सिद्ध होती है। सभा में जाने को तैयार हुए या किसी से बड़ी महत्वपूर्ण बातें करने लगे, कि इसी बीच दमा का एक दौरा आया और उन्हें अपने कार्यक्रम को बदल देना पड़ा। इस तरह की घटना अक्सर हुआ करती है।

राजेन्द्र बाबू बड़े हास्यप्रिय और विनोदी प्रकृति के भी हैं। यद्यपि उनकी गम्भीर आकृति देख कर इस प्रकार की आशा नहीं की जा सकती। परन्तु जिन्हें उनका तनिक भी सानिध्य प्राप्त हुआ है वे इस रहस्य को अच्छी तरह जानते हैं।

एक घटना की चर्चा करूँ। एक ऐसी घटना है जिसे आज भी राजेन्द्र बाबू कभी कहने लगते हैं तो उनके चेहरे पर हँसी फूट पड़ती है। बहुत पुरानी बात है। बम्बई में कांग्रेस-अधिवेशन हो रहा था। उन दिनों खादी का आन्दोलन भी अपने बालपने से गुजर रहा था। मधुबनी की खादी अपनी बारीकी, सुन्दरता और मुलायमियत के लिये प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। गाँधी जी ने राजेन्द्र बाबू के पास लिखा कि कांग्रेस-अधिवेशन में आते समय मधुबनी के कुछ जुलाहों को लेते आवें जो अधिवेशन की प्रदर्शनी में खादी की बुनाई का प्रदर्शन करें।

राजेन्द्र बाबू कुछ जुलाहों को बम्बई लिवा ले गये।

दिन भर प्रदर्शनी के समय तो जुलाहे खादी बुनने का प्रदर्शन करते और बाद में खुद घूम-घूम कर प्रदर्शनी देखते और सैर-सपाटा करते। उनके लिये इससे अच्छा अवसर और क्या हो सकता था।

लौटते समय भी राजेन्द्र बाबू ने उन जुलाहों को अपने साथ ही रक्खा। रेलगाड़ी के एक तीसरे डिब्बे में सभी बैठे थे। राजेन्द्र बाबू ऊपर बर्थ पर लेटे हुए थे और जुलाहे नीचे की सीटों पर बैठे बातें कर रहे थे। पहले तो उन्होंने इधर-उधर की बातें की, बाद में जब उन्होंने अनुमान किया कि राजेन्द्र बाबू सो गये हैं तब उन्होंने बड़े खुले दिल से अपने उद्‌गार व्यक्त करने शुरू किये। लेकिन राजेन्द्र बाबू सोये नहीं थे।

एक ने कहा, "भाई, खद्दर की बदौलत हम लोगों ने बम्बई तो देख ली।"

दूसरे ने दो कदम आगे बढ़ कर कहा, "बम्बई के अलावा हम लोगों ने सभी नेताओं को भी तो देखा, मुहम्मद अली को देखा, गांधी को देखा, मोती-लाल को देखा, सी० आर० दास को देखा। सब को देखा। ऐसा मौका दुबारा नहीं आता।"

तभी एक तीसरे जुलाहे ने, जो सबों में अधिक वृद्ध, अनुभवशील और गम्भीर मालूम होता था, बहुत दुःख के साथ कहा :

"हाँ सभी नेताओं को तो देखा, परन्तु एक नेता जिसका आजकल इतना शोर है, इतना नाम है, कहीं न देखा। शायद उसको इन लोगों ने न बुलाया हो या वह खुद भी न आया हो, शामिल न हुआ हो।"

उसकी बात सुन कर सबों ने एक स्वर से पूछा, "कौन सा नेता?"

उसने उसी प्रकार गम्भीर वाणी में कहा, "ननकू परेशान को न देखा।"

"ननकू परेशान? हाँ ठीक, वह नहीं दिखाई पड़ा, जरूर ही उसे न बुलाया होगा, लेकिन उसकी प्रसिद्धि इन सभी से ज्यादा है।"

यह सुनते ही राजेन्द्र बाबू ऊपर से उतर पड़े और हँसते-हँसते फूट पड़े। भोले बिहारी जुलाहों का यह भोलापन!

बात यह थी कि वह असहयोग आन्दोलन का युग था और सभी ने 'नान को-आपरेशन' के बारे में काफी सुन रखा था। हर पढ़ा-लिखा आदमी बात बात में 'नान को-आपरेशन' का जिक्र करता था। फिर जिसका इतना नाम

हो उसे यदि इन निरक्षर भट्टाचार्यों के परिवार के जुलाहे गाँधी और मुहम्मद अली से भी बड़ा नेता मान लें तो क्या आश्चर्य !

राजेन्द्र बाबू ने घंटों समझाया कि यह उनका 'ननकू परेशान' कोई नेता नहीं, यह तो असहयोग का अंग्रेजी नाम है ।

इस घटना की मधुर स्मृति से राजेन्द्र बाबू सदा ही हँस पड़ते हैं ।

यह तो हुआ उनकी हँसी का एक उदाहरण । इसी समय एक घटना और याद आती है । जब राजेन्द्र बाबू फूट-फूट कर रो पड़े थे । कितना करुण दृश्य था वह !

सन् ४४ में राजेन्द्र बाबू जेलखाने में थे । जेल आये २ वर्ष हो गये थे । २ वर्ष तक परिवार वाले भी आपसे जेल में भेंट न कर सके थे । उन्हीं दिनों जेलखाने में राजेन्द्र बाबू बीमार पड़े । घर से कुछ लोग मिलने आने वाले थे ।

राजेन्द्र बाबू का एक पौत्र भी जो उस समय बहुत छोटा--चार साल का था, आया । उस बालक के लिये राजेन्द्र बाबू ने पहले से ही संतरे और फल मंगा रखे थे ।

बालक आकर अपने प्रिय 'बाबा' की गोद में बैठ गया । भेंट की अवधि तक, आधे घंटे तक—वह बाबा की स्नेहमयी गोद में बैठा फल खाता रहा । फिर जाने का समय हुआ । भेंट समाप्त हो चुकी थी । परिवार के सभी लोग जो आये थे उठ खड़े हुए । राजेन्द्र बाबू ने भी पौत्र को गोद से उतारा और खड़े हो गये । जब बालक के पिता (राजेन्द्र बाबू के सुपुत्र श्री मृत्युंजय) ने उससे कहा—"चलो, चलो ।"

इस पर बालक ने फौरन बाबा की धोती पकड़ ली और बोला— "बाबा तुम भी चलो । हम अकेले नहीं जायेंगे, तुम बहुत दिन से घर नहीं आये ।"

बाबा की आँखें बरसने लगीं—भला वे कैसे बतावें कि वह अंग्रेजी हुकूमत की कैद में हैं—जेल से घर नहीं जा सकते । पौत्र का स्नेह भी उन्हें नहीं लिवा जा सकता !

राजेन्द्र बाबू की आँखें बरस रही थीं, गला भर आया, ध्वनि रुक गयी !

फिर जब बिहार में दंगा हुआ । दंगा अपने पूरे जोश पर था । साम्प्रदा-

यिक आग में सारा विहार झुलस रहा था। उन दिनों राजेन्द्र बाबू केन्द्रीय सरकार के खाद्य-मंत्री थे। उन्हें दिल्ली से पटना आना पड़ा। पटना में ही एक पत्र मिला। वह श्री मृत्युंजय जी का था। राजेन्द्र बाबू का वह प्यारा पौत्र बीमार था।

राजेन्द्र बाबू दंगों की शान्ति के प्रयत्न में इस प्रकार व्यस्त थे कि जा न सके।

दो दिन पश्चात् फिर पत्र आया। बालक की बीमारी बिगड़ती जा रही है—वह 'बाबा' को याद करता है। बाबा को आना ही चाहिये।

पर बाबा को पटना से छुट्टी न मिली। बाबा ने पत्र पढ़ा और क्षण भर भावना में डूबे रहे, पर शीघ्र ही उन्हें यह मोह त्याग देना पड़ा।

और चौथे दिन तार आया कि बालक जाता रहा। राजेन्द्र बाबू के स्नेह-युक्त हृदय पर यह बहुत बड़ी चोट थी, पर इसे भी वे छिपाये ही रहे।

परिवार पर यह कितना बड़ा वज्रपात था, कल्पना की जा सकती है! उस प्यारे शिशु के लिये किसका हृदय तड़प कर रो न पड़ा होगा!

राजेन्द्र बाबू को फिर भी छुट्टी नहीं मिल सकी। तभी किसी ने कहा, "बाबू जी, परिवार पर यह दुःख का पहाड़ टूट पड़ा है।"

राजेन्द्र बाबू के हृदय का घाव किसी ने दुःखा दिया। वे तड़प उठे। अपने को बहुत सम्हाल कर कहा—

"देश पर जो दुःख का पहाड़ टूटा है, उसके आगे हमारा अपना दुःख शरमा जाता है।"

इतना कहते कहते राजेन्द्र बाबू रो पड़े थे! दिल में दबा हुआ रुदन प्रत्यक्ष हो गया था।

उनके स्नेहिल हृदय की और दूसरी झाँकी इतनी भावनामय तथा करुणामय नहीं हो सकती।

सरलता और स्नेह के अवतार राजेन्द्र बाबू का पूरा जीवन ही ऐसी छोटी-छोटी करुणामय और सरल तथा दिलचस्प घटनाओं से भरा पड़ा है।

[सन् १९५०]

महादेव भाई : कारावास की आहुति

आज से पूरे सत्ताइस वर्ष पहले। १५ अगस्त १९४२ को आगा खाँ महल में, बंदी गांधी जी की गोद में महादेव भाई देसाई का स्वर्गवास हुआ था, यह घटना लोग जाने क्यों भूल गये !

महादेव भाई का बलिदान देश के लिए एक महान् क्षति तो थी ही, गांधी जी की तो जैसे कार्यशक्ति ही क्षीण हो गयी थी।

…बाद में १५ अगस्त आजादी का दिन बना।

□ □ □

९ अगस्त १९४२। सुबह चार बजे। बिड़ला भवन, बम्बई।

महादेव भाई कह रहे हैं—"रात दो बजे तक मुझे फोन सताता रहा। दो बजे के बाद मैं सोया। बस यही चल रहा था कि गिरफ्तारी का सारा इंतज़ाम हो गया है। वे पकड़ने आ रहे हैं, वगैरा।"

सुन कर गाँधी जी ने बड़े विश्वास से कहा—"नहीं, कल के मेरे भाषण के बाद तो मुझे गिरफ्तार कर ही नहीं सकते। मैं उनको इतना मूर्ख नहीं

मानता । "और अगर इसके बावजूद मुझे पकड़ें तो इसका मतलब होगा कि उनके दिन अब पूरे हुए ।"

और गाँधी की शंका सच ही निकली । आधे घंटे बाद ही वे गांधी को पकड़ने आ गये । सचमुच अंग्रेजों के दिन पूरे हो चुके थे ।

बापू गुसलखाने में थे । बाहर से पुकार कर महादेव भाई ने कहा—"बापू पकड़ने आ गये ।"

भीतर से ही बापू ने पूछा—"तैयारी के लिए पूछो, कितना समय देंगे ?"
पुलिस कमिश्नर ने कहा—"आध घंटा ।"
बापू ने वारंट देखे ।

बापू, मीरा बहन और महादेव भाई के नाम 'भारत-रक्षा-कानून' के मातहत नजरबंदी की नोटिस थी । बा यदि चाहें तो इन्हीं शर्तों पर साथ जा सकती हैं । बापू ने बा से कहा—"तू न रह सकती हो तो चल, लेकिन मैं खुद यही चाहता हूँ कि तू बाहर रह, सेवाग्राम जा, मेरा काम कर ।"

बापू ने जल्दी-जल्दी नाश्ता किया । बिड़ला भवन में सभी चिंतित थे कि कहीं गांधी जी जल्दी ही उपवास न शुरू कर दें । उन्हें शांत करने को गांधी ने कहा—"मैं जल्दी करना भी नहीं चाहता । जहाँ तक हो सकेगा टालूँगा ।"

सभी को आराम मिला, सुन कर । महादेव भाई ने पहले रामधुन गाया; फिर—'हरि ने भजतां हजी कोईनी लाज जतो नथी जोई रे ।' भजन गाया ।

फिर सब सामान इकट्ठा हुआ । बापू तो गीता, कुरान, भजनावली, धनुषतकली, पूनी के साथ अरबी प्राइमर न भूले ।

सब ने बापू को प्रणाम किया ।

बापू अपनी लकड़ी ले कर चल पड़े । और बापू की छाया की तरह चले महादेव भाई ।

दो मोटरें थीं । एक में बैठे बापू और मीरा बहन और दूसरी में सामान सँभाल कर महादेव भाई ।

सभी के मन भरे थे । ऊपर से सभी हँस रहे थे पर भीतर से हाहाकार कर रहे थे । सभी जानते थे—यह भीषण लड़ाई होने जा रही है । कौन जाने कब फिर मिले—मिले या न भी मिले !

मोटर में बैठते समय बापू ने पुलिस कमिश्नर से कहा—"मुझे अफसोस है कि आप के दिए समय से मैंने आपको एक-दो मिनट ज्यादा रोका।"

तभी बिड़ला जी ने कहा—"ये लोग बकरी का आध सर दूध माँगते हैं।"

गाँधी ने हँस कर कहा—"चार आने रखवा लेना, तब देना।"

और बिड़ला भवन से हँसते हुए निकले गाँधीजी। अब वे पुलिस के हाथों बंदी थे। साथ में थे केवल महादेव भाई और मीरा बहन।

गांधीजी की गिरफ्तारी का देश के जीवन पर क्या असर पड़ा यह दुहराने की यहाँ जरूरत नहीं। लोग यह सब अभी भूले नहीं।

गांधीजी को बंदी रखने को खुला पूना के आगा खाँ महल का द्वार! और संगमरमर की सीढ़ियों वाली वह भव्य इमारत खामोश खड़ी थी। न वह प्रसन्न हो सकती थी न दुखी। गांधी के वहाँ पाँव पड़े पर बंदी दशा में।

और ११ अगस्त को फिर एक बार वह फाटक खुला। कस्तूरबा के साथ सुशीला नय्यर का स्वागत करने को।

धीरे-धीरे आगा खाँ महल में गाँधी का पूरा परिवार जुट गया। गांधी, बा, महादेव भाई, मीरा बहन, सरोजिनी नायडू और डा० सुशीला नय्यर।

बा को वहाँ पाकर सभी बड़े खुश हुए।

महादेव भाई ने कहा—"दो रोज हमने बापू की मालिश की। हम तो मालिश करना जानते नहीं। आज बापू मुझे सिखलाने वाले थे। अब सुशीला आ गई है, अपना काम सँभाले।"

इस महल में मच्छर और मक्खियाँ बहुत थीं। शहर के बाहर इतनी साफ-सुथरी इमारत में भी इतनी मक्खियाँ क्यों? पता लगा, यह मकान जाने कब से बंद पड़ा था। अभी-अभी खोला गया था। इसी से इतने तरह के जीव-जन्तुओं की वहाँ भरमार थी।

मालिश के समय बापू को नींद लग जाती। पर मक्खी-मच्छर परेशान करते। सो मालिश के समय भी महादेव भाई मक्खियाँ उड़ाने का काम करते। वह बापू की हर सेवा में खुश रहते और आनन्द का अनुभव करते।

महादेव भाई बापू का कितना काम करते थे इसका वह अन्दाज लगा ही

नहीं सकता जिसने देखा न हो। चिट्ठियों का जबाब, वक्तव्य तैयार करना, अखबार पढ़ कर सुनाना, चर्खा कातना, कपड़ा सीना, कपड़ा साफ करना, पंखा झलना भर ही नहीं, खाना खाने के बाद प्लेटें धोना, रसोईघर की व्यवस्था, मौसम्बी का रस निकालना, सब्जी लाना और काटना। जरूरत पड़ने पर खाना पकाना और बरतन भी धोना।

उस दिन खाने की व्यवस्था कुछ गड़बड़ थी। शाम को प्रार्थना के बाद बरामदे में पलथी मार कर बैठ गये और सबके लिए टोस्ट बना डाले।

मकान की निचली मंजिल में बापू का परिवार बंदी बना कर रखा गया था। ऊपर की मंजिल में जेलर मिस्टर कटेली रहते थे। नीचे वाले भाग का एक भाग ही खोला गया था। कई कमरे अभी भी बंद थे। एक बड़े कमरे में सरोजिनी नायडू थीं। उसी कमरे में संगमरमर की दो बड़ी मेजें थीं, जिस पर सब खाना खाते। एक कमरे में बापू, एक में मीरा बहन। बापू और सरोजिनी नायडू के कमरे के बीच में एक छोटा कमरा था। वहीं बा और महादेव भाई कभी-कभी बैठते थे। दो गुसलखाने थे, पर बड़े-बड़े। पखाना फ्लशवाला। बगीचा बहुत बड़ा था पर कँटीले तारों से घेर कर बहुत छोटा-सा दायरा बापू के लिए छोड़ा गया था। जब पानी न बरसता होता तो बापू उसी सीमित दायरे में घूमते।

उस रात बापू पर मच्छरदानी तान दी महादेव भाई ने।

बारह अगस्त को सबेरे ही बापू ने पूछा, "महादेव, नींद कैसी आयी ?"

महादेव भाई ने कहा, "कोई दो बजे आँख खुल गयी थी फिर शायद साढ़े तीन बजे नींद आयी होगी।"

महादेव भाई को नींद की सदा ही शिकायत रहती थी। मीरा बहन और सुशीला नय्यर ने बहुत कहा कि उनके सिर में मालिश कर दें। पर महादेव भाई को किसी की सेवा लेने में संकोच होता था। टाल गये।

उस दिन भी बापू को समय से खाना न मिला। बापू ने कहा, "अब हम सब आपस में काम बाँट लें।" महादेव भाई ने तत्काल कहा, "बाँटना क्या है? बँटा हुआ है ही। सुशीला आपकी सेवा में रहेगी। दोनों वक्त की सब्जी मैं बना दिया करूँगा।"

एक समय महादेव भाई ने प्लेटें धोते हुए कहा, "जब तक बापू के उपवास की तलवार मेरे सिर पर लटक रही है, मैं कुछ कर ही नहीं सकता। सन्' ३२ में बापू के छः दिन के उपवास में मैंने दस पौण्ड वजन खोया था, हालाँकि उन दिनो मैं बराबर भोजन करता था। तभी छः दिन में बापू बेहाल हो गये थे तो अब क्या होगा ? इस बार अपने साथ लिखने-पढ़ने का सामान भी ज्यादा नहीं लाया। केवल तीन-चार लेखों की सामग्री भर लाया हूँ। वह भी नहीं लिखा जाता। बापू के उपवास की सोच कर तो कुछ भी करने का मन नहीं होता।"

उस दिन बापू ने वाइसराय के नाम जो खत लिखा था उसमें वे सुधार कर रहे थे। बापू ने महादेव भाई से कहा, "अब तुम इसे पढ़ जाओ, बुढ़िया (सरोजिनी नायडू) को भी पढ़ाओ। और कुछ सुझाव देना हो तो दो।··· अगर सरकार मुझे फिर छः साल की सजा सुना दे तो मैं बहुत काम कर दिखाऊँ।" महादेव भाई को लगा कि क्या बापू छः साल साथ रहेंगे सही ? फिर उन्हें सत्यमूर्ति का वाक्य याद आया—"गुलाम हिन्दुस्तान की अपेक्षा आजाद हिन्दुस्तान में आपकी ज्यादा जरूरत रहेगी।"

उस रात महादेव भाई को अपने पुत्र बाबला (नारायण भाई) की बहुत याद आयी। फिर 'दीनानाथ दयाल नटवर' भजन रात में ही गाते रहे।

तेरह अगस्त को सबेरे से ही बा की तबीयत खराब थी। दस्त आ रहे थे। सुशीला नय्यर ने नुस्खा लिख दिया। नुस्खे के ऊपर लिखा था— कस्तूरबा गाँधी के लिये—और नीचे सुशीला नय्यर के दस्तखत थे। महादेव भाई ने वह नुस्खा ज्यों-का-त्यों जेलर मि० कटेली को दिया और दवा मँगा देने को कहा। मि० कटेली बाजार से मँगवाने को तैयार हो गये।

फिर वे बापू के सामने जाकर, अपने माथे पर हाथ मार कर, जेलर की मूर्खता पर हँसने लगे। गाँधी जी ने पूछा, "क्या बात है ?"

महादेव भाई हँसते हुए कहते गये, "सरकार ने तो हमारा यहाँ रहना गुप्त रखा है फिर बा के नाम का व सुशीला के दस्तखत का दवा का नुस्खा जेलर बाजार भेज रहा है। जब लोग बाजार में पढ़ेंगे कि दवा किसके लिये है और लिखा किसने है तब क्या खलबली नहीं मचेगी ?"

बापू भी हँसे। समझ गये कि महादेव शरारत व हँसी की धुन में हैं।

बोले, "नहीं, उन्हें सुझा दो। व्यर्थ ही उन्हें तकलीफ में नहीं डालना चाहिये। अगर सब जान-समझ कर भी वह नुस्खा ज्यों-का-त्यों बाजार में भेजने में खतरा न मानें और भेजना चाहें तो अलग बात है।"

महादेव भाई ने कटेली से कहा। वह तो नाच उठा। कितनी बड़ी भूल होने जा रही थी। महादेव भाई को बहुत धन्यवाद दिया और बिना नाम का नुस्खा अपने से नकल किया, तब भेजा।

रात भर जग कर महादेव भाई ने गांधी जी द्वारा वाइसराय को लिखे गये पत्र को पढ़ा और उस पर विचार किया था। सबेरे ही बापू ने पूछा, "खत पढ़ा ?"

महादेव भाई ने कई सुझाव सुझाये। बापू ने खत में सुधार किया और पक्की नकल के लिये महादेव भाई को सौंप दिया। महादेव भाई ने नकल करके जब पत्र बापू के सामने रखा तो आध मिनट तक गांधीजी महादेव भाई के मोती जैसे अक्षरों को देखते रहे। फिर दस्तखत कर दिये।

बापू ने पूछा—"नकल करने में कितना वक्त लगा ?"

"दो घंटे।"

सरोजिनी नायडू ने जिद करके उस दिन महादेव भाई से कढ़ी बनवायी। बहुत अच्छी बनी।

प्लेटें धोते समय फिर महादेव भाई बोले, "मैं परेशान हूँ। बापू कब क्या करेंगे, कुछ पता नहीं। खाना खाते समय भी मुझे तो यही विचार सताता है कि कितने दिनों तक हम चैन से खा सकेंगे। मन पर यह एक भयंकर बोझ है। मुझे बाहर से जो खबरें मिल रही हैं, उन्हें बापू जानेंगे तो पता नहीं, उन पर क्या असर होगा ?"

उस शाम महादेव भाई को फिर बाबला की याद आयी। सूत कातते-कातते अचानक बोले, "बाबला होता तो टाइप वगैरह करने में काफी मदद देता। वह बापू के हिन्दी भाषणों की बहुत अच्छी रिपोर्ट बनाने लगा है। पर वह अंग्रेजी काफी नहीं जानता।"

शाम को आसमान साफ था। टहलते वक्त महादेव भाई बापू से अहिंसा के बारे में चर्चा करने लगे। बोले, "व्यक्तिगत अहिंसा के बारे में तो किसी

को कोई शंका है ही नहीं। सब मानते हैं कि व्यक्तिगत रूप से अहिंसा सब कठिनाइयों को हल कर सकती है। किन्तु उसके सामाजिक प्रयोग के बारे में लोगों को अवश्य ही शंका है। सो आप उसका प्रयोग करके दिखा रहे हैं।" बाद में 'साहित्य में अहिंसा' की बात चल पड़ी। महादेव भाई ने बापू को 'रघुवंश' में से राजा दिलीप की गो-सेवा सम्बन्धी कहानी सुनायी जिसमें दिलीप के गाय की सेवा करने का वर्णन है। उन्होंने सुनाया कि किस तरह बाद में शेर गाय को खाने आता है और राजा का उसके साथ क्या संवाद होता है, आदि, फिर बोले, "मैं 'साहित्य में अहिंसा' विषय पर एक पुस्तक लिखना चाहता हूँ। मेरे पास कई किताबों के नोट्स कहीं पड़े हैं।" बापू ने कहा, "अच्छा विचार है।"

उस शाम प्रार्थना में महादेव भाई ने तुकाराम का अभंग गाया—'भक्त ऐसे जाणा जे देहीं उदास।"

शाम को ही महादेव भाई ने जरा फुर्सत पायी कि इधर-उधर पड़े लोहे के तारों को बटोर कर एक टोस्टर बना लाये। बापू को दिखाया। बापू बहुत खुश हुए। बोले, "नेसेसिटी इज दि मदर ऑफ इन्वेंशन।" फिर बोले, "इसकी गुजराती क्या होगी ?" महादेव भाई ने जरा सोच कर कहा, "गरज ए शोध नी जनेता छे।"

महादेव भाई ने बापू के पीछे कहा, "सरदार आ जायँ तो बापू को खूब हँसाया करें।...अगर बापू के उपवास की यह तलवार मेरे सिर पर न लटकती होती तो मैंने कुछ पौंड वजन कमा लिया होता और थोड़ा शक्ति-संचय कर लिया होता।"

सचमुच बापू के उपवास की सोच-सोच कर महादेव भाई के प्राण सूखते जा रहे थे।

चौदह अगस्त को वाइसराय को पत्र गया। विचार था कि पत्र के साथ बापू के भाषण का सार भी भेजा जाय, मगर वह तैयार न था। इसलिये बापू ने पत्र तो भेज दिया और महादेव भाई से सार तैयार करने को कहा। बापू के भाषण के कोई नोट्स आदि न थे। सब कुछ स्मरण से या जबानी ही करना था। शाम के पहले ही महादेव भाई ने तैयार करके उसे बापू के सामने रख दिया।

उस दिन महादेव भाई ने फिर कहा, "इस बार मैं अपने साथ कुछ सामान ही नहीं लाया। दिल होता है कि 'गीतांजलि' भी होती तो उसके कुछ गीतों का गुजराती अनुवाद ही कर डालता।"

शाम को महादेव भाई ने बापू के लिये रस निकाला। सब के लिये टोस्ट सेंका। और घूमते समय बापू से साबरमती आश्रम की किताबों के बारे में कहते रहे।

आज प्रार्थना में उन्होंने तुकाराम का अभंग गाया—'जे का रंजले गांजले, त्यांसी, म्हणे जो आपुले।'

उस दिन सुशीला को जुखाम था, अतः बापू के सिर की मालिश महादेव भाई को ही करनी थी।

बापू पाखाने गये थे। उस समय महादेव भाई सरोजिनी नायडू से बातें कर रहे थे। महादेव भाई उनको अपने बापू के पास आने का किस्सा सुना रहे थे। किस तरह बापू ने पहले उन्हें वकालत छोड़ने से मना किया था फिर कैसे एक दिन उन्हें बापू का पोस्टकार्ड मिला। उसमें एक ही वाक्य था—'हुँ तुमने मारी सोड़मां इच्छुं छुं'—और बस मैं चला आया। यह कहते समय उनकी आँखों में प्रेम के आँसू छलक आये थे।

फिर कहा, "बापू के हरिजन-उपवास के दिनों में पं० सातवलेकर ने एक पंचांग भेजा था जिसमें करीब एक साल पहले से बापू के उपवास की निश्चित तारीख दी हुई थी। इस बार फिर वही पंचांग मँगवाया। पर पंचांग न मिला। सुना कि छपना ही बन्द हो गया है।"

बापू का उपवास महादेव भाई के लिये सचमुच भारी बोझ बना था।

रात जब सब सो गये तो महादेव भाई बापू के सिर की मालिश कर रहे थे और शायद उपवास के बारे में सोच रहे थे। दुख आने वाला है—यह प्रतीक्षा ही कितनी दुखदायी है!

तब शायद भगवान हँस रहा था!

अगले दिन की घटना का किसी को भी आभास होता तो क्या उस रात कोई भी सोता! क्या बापू ही सोते!

□ □ □

१५ अगस्त—रोज की तरह आज भी सुबह हुई। रोज की तरह ही सूरज

भी निकला। महादेव भाई जरा देर से सो कर उठे, साढ़े चार बजे। छः बजे जब बापू आये तब तक महादेव भाई ने उनके लिये रस निकाल कर तैयार रखा था। टोस्ट सेंक रखे थे और चाय बना कर मेज पर ढंग से सजा रखी थी। नहा कर आईं सरोजिनी नायडू ने आकर नाश्ते का यह आयोजन देखा तो मुस्करा पड़ीं, फिर महादेव भाई की ओर देख कर बोलीं, "आज तो हजामत बना कर खूब सजे-बजे बैठे हो ?"

महादेव भाई ने भी जवाब दिया, "हाँ, अब मुझे आसानी से किसी जगह खानसामा की नौकरी मिल सकती है।"

सरोजिनी नायडू ने फिर व्यंग्य किया, "हाँ, बापू की गृहस्थी में।"

सुन कर बापू मुस्कराये।

सरोजिनी नायडू ने आगे बात चलायी, "आज जब मैं नहाने गयी, मैंने महादेव को बड़े आईने के सामने बैठा देखा। वह हजामत बना रहे थे, अपनी मूँछों को छाँट रहे थे और नाखून काट रहे थे— मैंने कहा, महादेव को यह क्या हो गया है ! अचानक यों सजने को क्यों सूझी ? जैसे ससुराल जाने वाला हो।"

मगर कौन जानता था कि यह तो कुदरत ही उनसे किसी यात्रा की तैयारी करवा रही थी—

करले सिंगार चतुर अलबेली
साजन के घर जाना होगा।

आज महादेव भाई बहुत प्रसन्न दिख रहे थे। बापू के पूछने पर बताया, "आज पहले दिन गहरी नींद आयी। इसीसे जल्दी उठ भी न सका।"

बापू ने संतोष से कहा, "तेरी नींद सुधर जाय तो सब ठीक हो जाय।"

उस दिन इन्सपेक्टर जेनरल आने वाला था—खूब सफाई हो रही थी।

दोपहर के पहले ही इन्सपेक्टर जेनरल आ गया। उस समय बापू मालिश करा रहे थे और सरोजिनी नायडू के कमरे में महादेव भाई इन्सपेक्टर जेन-रल से बातें कर रहे थे। हँसी-मजाक की भी बातें हो रही थीं। उधर बापू का एक पैर पूरा करके सुशीला नय्यर ने बापू का दूसरा पैर शुरू किया

था कि एकाएक सरोजिनी नायडू की चीखती-सी आवाज आयी, "सुशीला, कहाँ हो ? यहाँ आओ !"

साथ ही दूसरी आवाज भी आयी, "सुशीला, जल्दी !"

और तभी बा हाँफती-भागती आयीं, "महादेव को कुछ हो गया है। उसे फिट आ गया है। मिरगी-सी दिखती है।"

एक मिनट की अवधि के भीतर ही यह सब हुआ। बापू का पाँव अधूरा छोड़ कर सुशीला नय्यर भागती-भागती पहुँचीं।

सरोजिनी नायडू के कमरे में एक पलंग पर महादेव भाई बेसुध पड़े थे। चेहरे पर ऐंठन हो रही थी। देखते-देखते सिर से पैर तक एक जोर का झटका-सा लगा। नाड़ी भी नहीं मिल रही रही थी। रक्त का दबाव—कहीं कुछ नहीं। हृदय पर सुशीला नय्यर ने स्टेथेस्कोप रखा—खामोशी। हृदय की धड़कन भी नहीं समझ आ रही थी। सुशीला चीख उठीं, "बापू को बुलाओ, ये जा रहे हैं।"

ओठों पर झाग, साँस टूट-टूट कर, अटक-अटक कर चल रही थी। सुशीला चिल्लायीं, "ब्राण्डी लाओ।"

हाथ-पाँव ठन्डे होने लगे। वहाँ कोई दवा न थी। इन्सपेक्टर जेनरल भण्डारी दवा लेने दौड़े। सरोजिनी नायडू ने ओ-डि-कोलोन और शहद मिला कर दिया, कहा, "यह ब्राण्डी का काम करता है।"

वही मिश्रण महादेव भाई के मुँह में डाला गया। अभी निगलने की ताकत थी, निगल गये।

फिर उल्टी होने लगी।

बापू कभी महादेव भाई का हाथ पकड़ते, कभी सिर पर हाथ रखते। बापू लगातार महादेव भाई की आँखों की ओर टकटकी लगाये रहे। कहा, "मुझे विश्वास है कि एक बार भी महादेव मेरी ओर देख लेगा तो उठ कर खड़ा हो जायगा।"

सरोजिनी नायडू ने बतलाया, "भण्डारी से हँसी-मजाक चल रहा था। हँसी भी हो रही थी कि महादेव बोले—मुझे चक्कर आता है। भण्डारी बोले—बदहजमी होगी, लेट जाइए। फिर पलंग तक जाने को महादेव तीन

गज चले और पलँग पर लेट गये। भण्डारी ने नाड़ी देखी तो बहुत तेज व कमजोर थी। वे फौरन् सिविल सर्जन को फोन करने ऊपर भागे। मैंने सुशीला को पुकारा। महादेव गरम बास्कट पहने थे। खाट पर लेटते समय उसे उतारना चाहा, पर पूरी उतार भी न सके।"

उल्टी के साथ वह कराहने भी लगे। भयानक कराह, जैसे किसी गुफा से आवाज आ रही हो। बापू के चेहरे से लगता था कि कराह उनसे सही नहीं जा रही है। साँस रुक रही थी। बीच-बीच में कँपकँपी होती। एक समय चेहरा बिल्कुल टेढ़ा हो गया, जैसे एक भाग पर लकवा···। पर महादेव भाई जैसी सुकृत आत्मा अपंग क्योंकर होती! फिर एक बार जोरों का झटका लगा। जबड़ा इतनी तेजी से भिड़ गया कि लगा जैसे हड्डी टूट जाएगी—फिर ढीला पड़ गया। कराहना मंद हुआ। साँस धीमी पड़ी।

सुशीला ने रोती आवाज में कहा, "बापू, ये जा रहे हैं।"

बापू महादेव भाई के मुख पर टकटकी लगाये रहे। एक बार आभास हुआ, जैसे महादेव भाई ने आँखें खोलीं और बोलने की कोशिश कर रहे हों, लेकिन यह भ्रम था। साँस धीमी पड़ गयी। शरीर काला पड़ने लगा।

बापू अभी भी पूर्ववत् टकटकी लगाये थे। अपनी सारी शक्ति एकाग्र करके वे इसी में लगे थे कि महादेव की आँख एक बार उनकी आँख से मिल जाय तो महादेव उठ बैठें।

तब तक भण्डारी दवा लेकर आ गये। तत्काल ही सुशीला नय्यर ने दो सुइयाँ लगायीं—एक पुठ्ठे पर, एक नस में।

महादेव भाई अब पसीने से भींगने लगे। पहले से ही उनका चेहरा और हाथ संगमरम की तरह सफेद पड़ गये थे। अब संगमरमर पर मोती छिटक आये।

सुई का असर न हुआ।
नाड़ी बंद, साँस भी बंद।

सिविल सर्जन आये। तब तक पंछी उड़ गया था, खेल खतम हो चुका था।

"मुझे अफसोस है···।" कह कर वे चले गये।

बा अधीर हो रही थीं। सुशीला नय्यर को एक ओर खींच ले गयीं और पूछा, "महादेव का क्या हाल है?"

बा के कंधे पर हाथ रख कर रोती हुई नय्यर ने कहा, "बा, वे तो गये!"

बा चीख उठीं, "एँ, महादेव गये? कहाँ गये? अरे महादेव, तुम कहाँ गये?" बा फूट-फूट कर रो उठीं। बापू भी आकर उनके पीछे खड़े हो गये—दिलासा दिया।

महादेव के शरीर को सीधा किया गया। सुशीला नय्यर ने आधी खुली आँखें बंद कर दीं।

महादेव भाई के चेहरे पर अपूर्व शांति थी। जैसे कोई योगिराज समाधिस्थ हो कर पड़ा हो।

बापू बोले, "महादेव की जेबें खाली कर ले।"

पर किसकी हिम्मत पड़े! बापू की आँखों के आदेश से सुशीला ने अपने को सम्हाल कर हाथ बढ़ाया। कुरते की जेबें खाली थीं। वास्कट की एक जेब से पेन और दूसरे से गीता निकली। बापू कहने लगे, "वैष्णव जन गाओ, रामधुन चलाओ।"

बापू ने भण्डारी ने कहा, "बल्लभ भाई और खेर वगैरा को मेरे पास बुलवाइए। बाद में मैं विचार करूँगा कि मुझे शव किसके हवाले करना चाहिए।" भण्डारी सिर झुकाये चले गये। उन्हें सरकार को खबर देनी थी और इजाजत लेनी थी कि आगे क्या करना चाहिए।

बापू बोले, "मैं जल्दी से नहा लूँ। बल्लभ भाई वगैरा के आने के पहले तैयार हो लूँ।" कह कर वे गये पर फौरन लौट आये, बोले, "मैं पहले महादेव को नहला दूँ, फिर खुद स्नान करूँगा।"

भण्डारी के साथ ही मेजर अडवानी भी आ गये थे। अब अडवानी, कटेली और दो-तीन सिपाहियों ने मिल कर शव को उठाया और गुसलखाने में बापू ने उसे टब के पार रखवा लिया। बापू ने उनके कपड़े उतारने को कहा। धोती तो आसानी से निकल गयी। पर अडवानी और कटेली कुरता न उतार सके। सुशीला नय्यर ने बढ़ कर कुरता उतारा, तब भी महादेव भाई का शरीर इतना गर्म था कि उनके जिन्दा होने का शक होता था। निराशा की

आशा बड़ी ठगनी होती है। एक शीशा भी महादेव भाई की नाक के सामने रखा गया। कहीं कुछ न था। बापू भी भ्रम के शिकार हुए। बोले, "जिन्दा है, तो अभी गरम पानी डालने से उठ बैठेगा।"

सिपाही बाहर चले गये थे। बापू ने अडवानी, कटेली और सुशीला नय्यर से भी बाहर जाने को कहा।

सुशीला नय्यर ने बाहर आ कर झाँका। पानी का डिब्बा उठाते हुए बापू के हाथ जोरों से काँप रहे थे और सारा शरीर भी काँप रहा था। कहीं बापू भी न गिर पड़ें, अतः बिना पूछे ही सुशीला भीतर चली गयीं। बापू ने कुछ न कहा। उन्हें सचमुच मदद की जरूरत थी।

बापू शव के पास बैठ गये। सुशीला ने पानी डालना शुरू किया। मुँह पर पानी डाला तो लगा जोर से ओंठ बंद कर रहे हों। जैसे नहाते समय बच्चे ओंठ और आँखें भींचते हैं।

बापू तौलिए से रगड़-रगड़ कर महादेव भाई का शरीर साफ करने लगे। बापू ने एक-एक अंग साफ किया। महादेव भाई अक्सर नंगे पाँव घूमा करते थे, इसलिए तलवों का रंग गहरा गया था। बापू ने देख कर कहा, "पाँव बिल्कुल साफ होने चाहिए।"

कैसा करुण दृश्य !

पिता के हृदय की वेदना और कर्त्तव्य की गंभीरता का वह क्षण !

तौलिये में साबुन लगा कर बापू व सुशीला ने अच्छी तरह तलवों की घिसाई की। पैर साफ हुए। फिर सुशीला ने शव को करवट कर लिया और बापू ने पीठ साफ की।

स्नान समाप्त हुआ। महादेव भाई ने अपने पहनने के कपड़े पहले ही साफ कर के रखे थे। उसी में से एक धोती लायी गयी।

भूरा और मगन दो भक्त कैदी बुलाये गये। उन्होंने अकेले ही शव को उठाया। बापू व सरोजिनी नायडू के कमरों के बीच वाले छोटे कमरे में शव को लिटाया गया। यहीं बैठ कर सबेरे महादेव भाई ने हजामत की थी। और परसों शाम यहीं बैठ कर कात रहे थे तथा मगन होकर गा रहे थे—

'मारी नाड़ तमारे हाथे हरि संभाल जो रे,
दिवस रह्या छे टांचा वेला वाल जो रे।'

[हे हरि, तुम्हीं सम्हालना, मेरी नाड़ी तुम्हारे ही हाथ में है। अब दिन थोड़े ही रह गये हैं।]

बापू ने शव के नीचे जेल की चादर बिछवायी और एक ऊपर ओढ़वायी। बोले, "वह कैदी है और कैदी की तरह ही उसे जाना चाहिये।"

बापू का चेहरा शान्त, गम्भीर, विचारमग्न था। आवाज धीमी थी, जैसे बड़े श्रम से अपनी वाणी का कंपन और आँसू रोक रहे हों।

बापू ने चन्दन का लेप महादेव भाई के माथे और छाती पर लगाया। मीरा बहन ने बगीचे से फूल चुन कर हार बनाया। उसे भी बापू ने अपने हाथों ही पहनाया। मीरा बहन ने शव को फूलों से सजाया। मगन और भूरा ने फूलों की जाली बनायी।

बापू फिर स्नान करने गये। जिस तौलिये से उन्होंने महादेव भाई का शरीर साफ किया था उसी से अपना भी बदन पोंछा।

फिर आकर शव के पास बैठ गये। और गीता पाठ करने लगे।

तभी भंडारी आये। बापू ने पूछा, "वल्लभ भाई आते हैं क्या ?"

"नहीं।"

"खेर ?"

"नहीं। एक लारी और एक ब्राह्मण···।"

बापू चौंके, "किसलिये ?"

"यहाँ कुछ पूजा-पाठ कराना हो तो···।"

खट्टे दिल से बापू ने कहा, "यहाँ का पूजा-पाठ हो चुका है।"

भंडारी ने बताया कि सरकार शव किसी को देना नहीं चाहती। भंडारी खुद जा कर घाट पर जला आयेंगे। बापू ने पूछा, "तो क्या हममें से कोई शव के साथ जा सकते हैं ?"

उत्तर मिला, "नहीं।"

"तो क्या मैं यहाँ अपने सामने शव को जला सकता हूँ ? मैं लाश को आपके सुपुर्द कैसे करूँ ? क्या कोई पिता अपने पुत्र की लाश अजनबी आदमियों के हाथ सौंप सकता है ?"

भंडारी फिर भाग कर बम्बई सरकार को फोन करने गये।

बापू बोले, "श्रद्धानन्द जी के कातिल की लाश फाँसी के बाद जनता को दे दी गयी थी। लोगों ने उसको शहीद बनाया। जुलूस निकला। उससे तो हिन्दू-मुस्लिम फसाद खड़ा हो सकता था पर सरकार ने परवा न की। आज वह महादेव का शव नहीं देने देगी। मैं सोच रहा हूँ कि क्या मुझे इस प्रश्न पर लड़ लेना होगा या कड़ुआ घूंट पीकर रह जाना होगा। मैं इस बात पर अड़ सकता हूँ कि शव को मित्र ही जलायेंगे। पर यह महादेव की मृत्यु को राजनीतिक रंग दे कर उससे फायदा उठाने जैसी बात हो जायगी। एक पिता अपने पुत्र की मृत्यु का ऐसा उपयोग कैसे कर सकता है ?"

सभी भंडारी की पतीक्षा कर रहे थे। देखें क्या जवाब लाते हैं !

बड़ी देर बाद भंडारी मुश्किल से इजाजत पा सके।

अब दाहक्रिया के लिये जगह ढूँढ़ी गयी।

तारों के पास घास का एक खेत था। वहीं जगह साफ की गयी। ब्राह्मण ने वहाँ जल छिड़क कर पूजा की।

बगीचे के दरख्तों की टहनियाँ काट कर अरथी बनायी गयी।

बापू लगातार गीता पढ़ते रहे। बा उनके निकट ही बैठी थीं। महादेव भाई की बाईं आँख थोड़ा-सा खुल गयी थी। बाईं ओर ही बापू बैठे थे। लगता था जैसे अपनी मृत अवस्था में भी महादेव भाई बापू के दर्शन करना चाहते थे।

पाँच ब्राह्मण थे। उन्होंने कुरते उतारे। जनेऊ दाहिनी ओर किये और मंत्र पढ़ते-पढ़ते शव को अरथी पर रखा।

अरथी उठा कर सीढ़ी के नीचे लाये। फिर उसे कंधों पर उठा लिया। छः लोगों ने अरथी उठायी। बाकी पीछे चले। बापू ने आग की हाँडी उठायी। बा को भी वे सम्हाल रहे थे।

शव चिता पर रखा गया। बा के लियें जरा दूर पर एक कुर्सी रख दी गयी। अग्निदाह की क्रिया वे देख कर सह न पातीं। वे दुख से पागल हो रही थीं। बार-बार दोनों हाथ उठा कर आकाश की ओर देखतीं और रोती हुई

कहतीं, "भाई तुं ज्यां जजे सुखी रहेजे। भाई तुं सुखी रहेजे। तें बापूजी की घणी सेवा करी छे। बधा ने सुख पहोंचाड्यु छे। तुं सुखी रहेजे।"

शव पर लकड़ियाँ रखी जाने लगीं। चेहरे पर लकड़ी रखने के पहले बापू अपने आप दो कदम आगे बढ़ आये और अंतिम बार महादेव भाई के दर्शन करके पीछे हट आये।

अन्त में बापू ने उन्हें अग्नि दी।

पूरे डेढ़ घंटे बापू खड़े रहे। फिर बहुत कहने पर कुर्सी पर बैठे। बापू ने कटेली से कहा, "हममें से अगर कोई जिंदा वाहर न निकला तो आपको यह जगह महादेव के लड़के को दिखानी होगी।"

पूरे तीन घंटे बापू वहीं रहे। बा लगातार रोती रहीं।

पूरा महल सूना लग रहा था।

कई दिन पूर्व बापू के उपवास की चिन्ता करते हुए महादेव भाई ने कहा था—"ईश्वर से मैं एक ही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे बापू के पहले उठा ले। और साथ ही यह भी कह दूँ कि ईश्वर ने मेरी प्रार्थना कभी ठुकरायी नहीं। हमेशा पूरी की है।"

सचमुच महादेव भाई की ईश्वर ने सुन ली।

रात लेटने के पहले बापू ने तार का मजमून लिखना शुरू किया—चिमन लाल भाई के नाम।

लिखा—"Sorry, Mahadeo died suddenly" फिर रुके। खेद क्यों? महादेव भाई तो धर्म का पालन करते हुए गये हैं। यह मजमून काट कर फिर लिखा—

"Mahadeo died suddenly. Gave no indication. Slept well last night. Had breakfast, walked with me. Sushila, Jail doctors did all they could, but God had willed otherwise. Sushila and I bathed body. Sushila and I recited Gita, Mahadeo has died yogi's and patriot's death. Tell Durga, Babla and Sushila no sorrow allowed. Only joy over such noble death. Cremation taking place front of me. Shall keep ashes. Advice Durga remain

Ashram but she may go to her people if she must. Hope Babla wil be brave and prepare himself fill Mahadeo's place worthily. Love—Bapu."

बापू ने अधिकारियों से आग्रह किया कि तार तुरन्त सीधा और बिना काट-छाँट के जाना चाहिये।

रात भर बापू सोये नहीं। करवटें बदलते रहे।

सबेरे ही बापू चितास्थान पर गये। अभी भी चिता जल रही थी, अंगारे धधक रहे थे। वहीं खड़े होकर बापू ने गीता के बारहवें अध्याय का पाठ किया। फिर बापू ने सरोजिनी नायडू से कहा, "महादेव का बलिदान कोई छोटी चीज नहीं है। अकेला ही वह बहुत काम करेगा।"

मिसेज नायडू बोलीं, "अगर कभी किसी ने दूसरे के लिये अपना जीवन दिया है तो वह महादेव हैं। यीशु प्रभु की तरह वे इसलिये मरे कि बापू जी सकें। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की इससे बढ़ कर क्या सेवा कर सकता है कि वह उसके लिए अपने प्राण भी न्योछावर कर दे।"

शाम को बापू ने जाकर राख बटोरी और एक डिब्बे में भर ली। वह डिब्बा वे सदा अपनी मेज पर रखते और राख की एक बूंद रोज अपने माथे पर लगाते।

बा ने यह देख कर कहा था, "शंकर तो विभूति लगाते थे लेकिन मनुष्य को ऐसा करते देखा नहीं था।"

महादेव भाई बापू की छाया थे।
छाया चली गयी।

कौन जाने! यदि उस १५ अगस्त ४२ को महादेव भाई यों न जाते तो शायद ३० जनवरी ४८ को दिल्ली वाली वह घटना भी न घटती। और तब शायद गोडसे की गोली भी महादेव भाई अपने पर ही झेल लेते और बापू जीवित बने रहते।

पर कौन जाने!

[सन् १९५९]

राष्ट्रकवि

यदि आपने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को ने देखा हो तो कल्पना कीजिये --गोस्वामी तुलसीदास यदि बीसवीं शताब्दी में होते तो कैसे होते ! उनका रूप होता—खद्दरधारी, धोती व कुरता, चप्पल, गाँधी टोपी, छड़ी, घड़ी, गले में कंठी, माथे पर तिलक और ओठों पर राम का नाम। संभवतः यही रूप होता ।

और यही रूप था अपने राष्ट्रकवि का ।

साँवला रंग, शुद्ध भारतीय। लम्बी काया, इकहरा बदन, सौम्य प्रकृति, आँखों में चमक—गाँधी जी वाली, ओठों पर मुस्कान और चाल में उत्साह। ऊपर से देखने में देशभक्त और भीतर से कवि। हृदय ऐसा कि सब को गले लगाने को हर क्षण बेचैन। इसीलिये जो भी राष्ट्रकवि के सम्पर्क में कभी भी आया, क्षण भर को ही आया, उन्हीं का होकर रह गया। उनके व्यक्तित्व में एक अजीब चुम्बकीय शक्ति थी—इसीलिये आज के युग का कोई भी साहित्य-प्रेमी ऐसा न मिलेगा जिसे राष्ट्रकवि के स्नेह का प्रसाद न मिला हो। और सादगी ऐसी कि तुलना में राष्ट्रपति बनने के पूर्व के राजेन्द्र बाबू का नाम ही लिया जा सकता है। देखते ही लगता—चिरगाँव का चिर-ग्रामीण।

ऐसे सीधे-सादे-सरल थे मैथिलीशरण जी, जिन्होंने देश में राष्ट्रीय काव्य की नई धारा बहायी और स्वयं भी राष्ट्रप्रेम के सागर में आजीवन बहते रहे। साहित्य व काव्य को राष्ट्र से जोड़ने वाले वे ऐसे सेतु थे जिनकी रची हर पंक्ति में राष्ट्रीय जागरण की धड़कन हर समय सुनायी पड़ती थी।

□ □ □

भारतवर्ष का मध्य-क्षेत्र—बुंदेलखंड—झाँसी जनपद। झाँसी जो सन् १८५७ के विद्रोह की प्रेरणा थी। वहीं रानी लक्ष्मीबाई के किले से मात्र अठारह मील दूर चिरगाँव नामक एक गाँव है—राष्ट्रकवि की जन्मभूमि। संयोग की बात—एक ओर राष्ट्रीयता की प्रतीक—झाँसी, और एक ओर महाकवि केशव की जन्मभूमि ओरछा, और बीच में बसा चिरगाँव। देशभक्ति और काव्य का मिलन हुआ चिरगाँव में—मैथिलीशरण के जन्म से।

□ □ □

चिरगाँव के प्रतिष्ठित वैश्य परिवार, कनकने वंश के कर्ता थे श्री रामचरण जी। उनके पाँच पुत्र थे, जिनमें तीसरे थे मैथिलीशरण। जैसे पाण्डवों में अर्जुन।

मैथिलीशरण का जन्म सन १८८६ में हुआ। सावन का महीना, शुक्ल पक्ष की दूज।

रामचरण जी सम्पन्न गृहस्थ थे। उदार प्रकृति के, भजन-पूजा वाले। दस-बारह गाँवों की जमींदारी। तिलहन, गल्ले, घी और कपास-कपड़े का चलता व्यापार। दयालु और गुणी। काव्य-प्रेमी भी।

स्नेही पिता की देख-रेख में बालक मैथिलीशरण का बचपन बीतने लगा। गाँव की पाठशाला में ही शिक्षा शुरू हुई। पढ़ाई के बाद का अधिकांश समय पतंग उड़ाने में बीतता। लट्टू, गुल्ली-डंडा और गेंद के खेल भी।

मैथिलीशरण का बचपन बड़े उन्मुक्त वातावरण में बीता, पर पारिवारिक नियंत्रण भी कम न था। पिता श्री रामचरण जी हर साल रामलीला और रासलीला कराते, रामायण का मास-पाठ होता। इन चीजों से बालक मैथिली-शरण के मन में भक्ति-भावना अंकुरित हुई।

गाँव की पाठशाला से तीसरी श्रेणी पार करते न करते उन्हें झाँसी भेज दिया गया और अँग्रेजी हाई-स्कूल में शिक्षा चालू हुई। लेकिन जब वे मात्र नौ साल के थे तभी उन्हें झाँसी छोड़ कर फिर चिरगाँव आना पड़ा। नावें वर्ष में ही मैथिलीशरण जी का विवाह कर दिया गया। ससुराल दतिया में थी।

स्कूली पढ़ाई तो नियमित न चल सकी, अतः मैथिलीशरण ने घर पर ही अध्ययन-क्रम चालू किया। साहित्य का चस्का लगा। घर पर 'श्री वेंकटेश्वर समाचार,' 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारतमित्र' आने लगे। कमरे की आलमारी में 'भर्तृहरिशतक,' 'हितोपदेश', 'कामंदकीय नीति', 'चाणक्य नीति', चन्द्र-कान्ता', 'चन्द्रकान्ता-संतति' और बहुत से बंगला से अनूदित जासूसी उपन्यास भर गये। एक ब्राह्मण गुरू से संस्कृत का भी अध्ययन प्रारम्भ किया।

मैथिलीशरण १४-१५ के थे। साहित्य विशेषकर काव्य की ओर उनकी रुचि क्रमशः बढ़ती गयी और मित्रों के साथ बैठ कर वे अन्य कवियों की रचनाओं का पाठ नियमित रूप से होने लगा। मैथिलीशरण भी स्लेट पर तुकबन्दी करते और संकोचवश किसी को न दिखा कर मिटा देते। लेकिन इसी रूप में एक महाकवि अपना रूप सँवार रहा था, यह भला तब कौन जानता था!

मैथिलीशरण काव्य रचते हैं, यह बात मित्रों से छिपी न रही, फिर मित्रों ने यह शुभ-सूचना पिता श्री रामचरण जी तक पहुँचा दी। पिता मन ही मन प्रसन्न हुए। तरह-तरह से अप्रत्यक्ष रूपों से पुत्र के काव्य-प्रेम को बढ़ावा देते रहे।

सन १९०३ के लगभग कलकता से प्रकाशित 'वैश्योपकारक' नामक एक जातीय पत्र में मैथिलीशरण के स्फुट छंद और छप्पय छपे। इसी वर्ष मैथिली-शरण एक पुत्री के पिता बने। लेकिन बीमारी के कारण एक माह के भीतर ही नवजात पुत्री और पत्नी का देहावसान हो गया। इसी वर्ष प्लेग की बीमारी भी आयी और जाते-जाते पिता श्री रामचरण को भी लेती गयी। १९०४ में माता का भी देहान्त हो गया। यानि एक वर्ष में घर के चार-चार प्राणी जाते रहे। पिता, माता, पत्नी और पुत्री। मैथिलीशरण चारों ओर से मुसीबतों से घिर गये। घर का व्यापार भी अव्यवस्थित होकर बन्द हो गया।

पारिवारिक विवशताओं के कारण मैथिलीशरण जी को एक वर्ष बाद ही दूसरा-विवाह करना पड़ा।

इन दिनों मैथिलीशरण जी मात्र अठारह-उन्नीस वर्ष के थे।

□ □ □

मानसिक संघर्ष के ऐसे दिनों में मैथिलीशरण जी की भेंट झाँसी में "सरस्वती' सम्पादक, आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी से हुई। तब द्विवेदी जी झाँसी के रेलवे दफ्तर में काम करते थे और वहीं से 'सरस्वती' का सम्पादन भी करते थे, जो इन्डियन प्रेस, इलाहाबाद से छपती थी।

यह बात १६०५ की है। मैथिलीशरण गुप्त ने पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं० श्रीधर पाठक के खड़ी बोली अभियान से प्रभावित होकर खड़ी बोली में ही धड़ल्ले से कविताएँ लिखना शुरू किया। एक कविता 'हेमन्त' लिख कर 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेज दी। आशा थी कि द्विवेदी जी से परिचय हो ही चुका है, अतः कविता छपने में दिक्कत न होगी। परन्तु तीन महीने बीत गये और 'सरस्वती' में कविता न छपी। निराश होकर वही कविता कन्नौज से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'मोहनी' में भेजी और वहाँ वह तत्काल छप गयी।

इधर कविता पाकर द्विवेदी जी ने उसे सुधार कर छापने का निर्णय किया था। उन्हें कविता को परिष्कृत रूप देने में महीनों लगे। और वर्ष के मध्य में वह 'सरस्वती' में सुधर कर छपी। द्विवेदी जी के संशोधनों से 'हेमन्त' का रूप ही बदल गया। 'मोहिनी' और 'सरस्वती' में छपी एक ही कविता दो रूपों में सामने आ गयी। 'सरस्वती' में 'हेमन्त' देख कर मैथिलीशरण गुप्त का उत्साह बढ़ा। उन्होंने द्विवेदी जी को अपना साहित्यिक गुरु मान लिया और द्विवेदी जी ने भी युवक कवि को अपना लिया। जल्दी ही गुप्त जी द्विवेदी जी के बहुत निकट आ गये।

गुप्त जी की साहित्य साधना का द्विवेदी जी का पूर्ण निर्देशन प्राप्त हो गया। सन् १६०६ में 'सरस्वती' में गुप्त जी की दूसरी कविता 'प्रणय की महिमा' छपी। सन् १६०७ में 'सरस्वती' में गुप्त जी की आठ कविताएँ, १६०८ में बारह और १६०६ में २० कवितायें छपीं। सन् १६१० में सत्रह, १६११ में अट्ठारह तथा १६१२ में बारह कवितायें छपीं।

और देखते-देखते, द्विवेदी जी के आशीर्वाद के साथ मैथिलीशरण गुप्त, खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवि बन गये।

'सरस्वती' के माध्यम से गुप्त जी की कविताएँ लोकप्रिय तो हुई हीं, उनकी कविताओं को पुस्तक रूप में छापने की माँग भी बढ़ती गयी। पुस्तक के लिए इधर-उधर से पत्र आने लगे।

१६१० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से गुप्त जी की प्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' छपी और इसी वर्ष 'जयद्रथ-वध' उन्होंने स्वयं प्रकाशित करायी। 'जयद्रथ-वध' पुस्तक का संस्करण देखते ही देखते समाप्त हो गया। पुस्तक अत्यधिक लोकप्रिय हुई।

सन् १६१२ में गुप्त जी की 'पद्य-प्रबंध' नामक कृति का प्रकाशन हुआ। यह गुप्त जी की पुस्तकाकार तीसरी रचना थी।

सन् १६१२ में गुप्त जी ने 'भारत-भारती' की रचना की। यह वर्ष गुप्त जी का भाग्य-निर्णायक वर्ष सिद्ध हुआ। देश में राष्ट्रीय जागरण प्रारम्भ हो चुका था। लोकमान्य तिलक 'स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' —मंत्र दे चुके थे। गुप्त जी राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर कुछ लिखने को बेचैन हो रहे थे। फलस्वरूप 'भारत-भारती' का जन्म हुआ जो १६१४ में छपी।

'भारत-भारती' के महत्व को देश ने तत्काल स्वीकारा। देखते-देखते बारह सौ प्रतियाँ बिक गयीं। इस युग में किसी काव्य-कृति का ऐसा स्वागत एक अनोखी घटना थी। १६१५ में ही 'भारत-भारती' का दूसरा संस्करण हुआ।

'भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती'—'भारत भारती' का वह वाक्य स्वभाषा, स्वदेशी और स्वतंत्रता, इन तीनों के सौंदर्य का उपस्थापन करने वाला मूल-मंत्र बन गया।

इन्हीं दिनों गुप्त जी का ध्यान बंगला के उन्नत काव्य की ओर आकृष्ट हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबुल-पुस्कार मिल चुका था। इससे बंगला भाषा की प्रतिष्ठा खूब बढ़ी। इन्हीं दिनों गुप्त जी ने 'मधुप' उपनाम से 'ब्रजांगना' का हिन्दी में अनुवाद किया। फिर तो अनुवादों का क्रम भी खूब चला। बंगला से कई कृतियाँ गुप्त जी ने अनूदित करके हिन्दी को दीं। 'मेघनाथ-वध', 'प्लासी का युद्ध' और 'स्वप्न-वासवदत्त आदि के नाम प्रसिद्ध हुए।

गुप्त जी को क्रमशः काव्य-रचना में सफलता और साहित्य जगत में प्रसिद्धि मिलती गयी। वे साहित्य-सागर में डूबते गये। साहित्य में व्यस्त रहते हुए वे व्यापार से बिलकुल ही दूर होते गये।

चिरगाँव भी साहित्य-सृजन की भूमि बन कर हिन्दी साहित्याकाश में

नाम पैदा करने लगा। लेकिन इन दिनों कवि मैथिलीशरण गुप्त निरंतर रुग्ण और रोगाश्रित बने रहे। अविराम साहित्य-सेवा ने स्वास्थ्य को काम का न रखा। गुप्त जी रह-रह कर बीमार हो जाते।

गुप्त जी का दाम्पत्य जीवन भी अधिक सुखी न रहा। ९ वर्ष की आयु में पहली शादी हुई थी, सत्रह वर्ष में ही विधुर हुए। फिर १९ वें में दूसरा ब्याह रचाया पर अट्ठाइस वर्ष की आयु तक संतान—सुख से वंचित रहे। उंतीसवें वर्ष में एक पुत्र को जन्म मिला लेकिन तीन दिन जी कर ही बच्चा जाता रहा और थोड़े दिनों बाद पत्नी भी चल बसीं। गुप्त जी उन्तीस वर्ष की आयु में दूसरी बार विधुर हुए।

गुप्त जी का जीवन करुणा में डूब सा गया।

अब गुप्त जी ने अपने को साहित्य और देश के कामों में पूरी तरह व्यस्त करने की योजना बनायी।

प्रथम महायुद्ध चल रहा था। गाँधी-युग भी प्रारम्भ हो रहा था। इस काल-खण्ड में, सन १९२० तक गुप्त जी ने अपनी शक्ति भर साहित्य रचना कीं। उनकी अनेक प्रसिद्ध कृतियों का सृजन इसी काल-खण्ड में हुआ।

१९२१ में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के संपादन-भार से मुक्ति ली। इसके साथ ही गुप्त जी का भी 'सरस्वती' से संबंध टूट सा गया।

□ □ □

अब तक गुप्त जी के स्वतंत्र साहित्य-व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो चुका था। अब वे चिरगाँव में रह कर एकांत-साहित्य सेवा में खोये रहते थे। बीच-बीच में घर के व्यापार में भी हाथ बँटाते। खाली समय में व्यस्तता के लिए बाग-बगीचे का भी शौक पाला। अब तक गुप्त जी की पुस्तकों की संख्या भी काफी हो गयी थी जिनका प्रकाशन चिरगाँव से ही होता था, उसकी देख-रेख भी करने लगे।

इधर घर के लोग गुप्त जी पर फिर से विवाह करने को जोर-दबाव डालने लगे। गुप्त जी दो-दो बार विवाह के नाम पर धोखा खा चुके थे। वे किसी प्रकार फिर विवाह के लिये तैयार न हुए। लेकिन घर के प्राणियों के सतत आग्रह से उन्हें अपना मन मारना पड़ा। विवश गुप्त जी को दूसरों का मन

रखने को ३१ वर्ष की आयु में तीसरी बार दूल्हा बनना पड़ा। दो-दो बार का वैधव्य उन्हें उत्साह कैसे देता ? फिर भी तीसरी पत्नी घर आ गयीं। गुप्त जी ने नये सिरे से दाम्पत्य-सूत्र जोड़ा।

तभी जालियाँवाला काण्ड हुआ। चिरगाँव के पास कुछ युवकों ने रेल की पटरी उखाड़ी। 'भारत-भारती' के छपने के बाद से ही सरकार की कोप-दृष्टि गुप्त जी के परिवार की ओर से सतर्क रहती थी। यही बहाना पा कर गुप्त परिवार के दो युवकों को गिरफ्तार किया। गुप्त जी पर सीधा कोई आरोप सरकार न लगा सकी पर तंग करने का सामान जुटा दिया। धरा-पकड़ी और राजद्रोह के इन मुकदमों में गुप्त जी को काफी परेशान होना पड़ा।

इन्हीं दिनों गुप्त जी की घनिष्ठता काशी में श्री जयशंकर 'प्रसाद' से बढ़ी।

सन् १६२० से १६३० तक गुप्त जी की अधिकांश कृतियों की रचना हुई। १६२३ में 'पत्रावली', १६२५ में 'पंचवटी' व 'स्वदेश संगीत', १६२६ में 'अनध', १६२७ में 'हिन्दू', १६२८ में 'त्रिपथगा', 'शक्ति', 'गुरुकुल', 'विकट भट', १६२६ में 'स्वप्न वासवदता,' व 'झंकार', १६३० में 'सिद्धराज'।

१६३० ई० तक गुप्त जी की १६ कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। समस्त देश में जहाँ भी हिन्दी भाषा के छात्र थे, उनको गुप्त जी का नाम कंठस्थ हो गया।

इन्हीं दिनों गुप्त जी महात्मा गाँधी के निकट सम्पर्क में भी आये। गाँधी जी गुप्त जी का बड़ा सम्मान करते थे। एक बार गाँधी जी चिरगाँव में गुप्त जी के घर ठहरे भी।

गाँधी जी के सम्पर्क से गुप्त जी देश-सेवा के कामों में पूरी तरह जुट गये। खद्दर पहनने लगे। वेशभूषा सादी हो गयी। गाँधी जी के प्रभाव के कारण गुप्त जी सन् १६४१ में जेल भी गये।

भारत की स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को हिन्दी भाषा के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय संसद में सदस्य बना कर भारत सरकार ने सम्मान दिया। गुप्त जी की राष्ट्रीय सेवाओं व साहित्यिक कार्यों के लिये उन्हें सरकार ने 'पद्मविभूषण' की उपाधि से भी अलंकृत किया था।

गुप्त जी ने लम्बी आयु पायी। सन् १९६४ के दिसम्बर में गुप्त जी गोलोकवासी हुए।

□ □ □

गुप्त जी राष्ट्रकवि थे।

गुप्त जी एक महान् मानव थे।

उन्होंने साठ वर्षों की साहित्य-साधना से हिन्दी को गौरव ही नहीं, प्रतिष्ठा और अमरता भी दी। वे साहित्य-साधना की असुविधाओं को जानते थे, शायद इसीलिये उनके सामने छोटों को प्रोत्साहन देना सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। नई पीढ़ी को सम्बोधित करके उन्होंने कहा था—"महाराज, जो कुछ हमसे बन पड़ा, किया, अब आप लोग उसे सँभाल लें, यह समय आप ही लोगों का है।"

□ □ □

गुप्त जी राम-भक्त थे, पर आधुनिक भक्त। राम ही उनके जीवनाधार थे।

राम के प्रति अपनी भक्ति-भावना, राष्ट्र के प्रति प्रेम और साहित्य के लिये सर्वस्व अर्पण की लालसा, उनकी खूबी थी।

इसीलिये उन्हें इस सदी का तुलसीदास कहना कदापि गलत न होगा। उन्होंने ही कहा था—

राम, तुम्हारा वृत स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।

[सन् १९७०]

टण्डन जी : एक इस्पाती व्यक्तित्व

राजर्षि टंडन जी !

नाम लेते ही एक इस्पाती व्यक्तित्व सजीव हो उठता है। इस्पात ही इस्पात ! सिर से पाँव तक इस्पात ! भीतर बाहर सब इस्पात !

इस्पात, इस्पात !

गौरवपूर्ण इस्पात !

तमतमाता रंग, चमकती पेसानी, उलझे-छितरे बाल, ऋषि जैसी दाढ़ी, अपने ढंग की अनूठी, मझोला कद, इकहरा-तपा बदन, खादी का पैबन्द लगा कुरता, धोती, गोरक्षक चप्पल और पतली, लचीली छड़ी। और इस स्वरूप के बीच दो बहुत गहरी, तेज व चुमने वाली आँखें।

चेहरे पर अनगिनत झुर्रियाँ कि जैसे सारे तप और कष्ट व त्याग की निशानियाँ।

टण्डन जी के त्यागमय, तपोमय जीवन को आदर्श कहा जाता है। ठीक भी है। उनका जीवन था ही त्याग व तप का प्रतीक। शौर्य, वीरता और स्वाभिमान का नमूना।

उनकी दिव्यदृष्टि ! याद है ! भारत को आजादी मिलने के बाद उन्होंने सर्वप्रथम नारा दिया था—देश के हर नागरिक को जरूरी तौर पर राइफल शिक्षा दी जाय। अहिंसक देश ने बात को टाल दिया था। क्या टण्डन जी को चीन या पाकिस्तान की नियत का आभास मिल गया था !

इस देश ने टण्डन जी को समझा नहीं, बात नहीं मानी। अपनी शक्ति बिना देश व आजादी की रक्षा सम्भव नहीं। टण्डन जी यही तो कहते थे—अपनी शक्ति बढ़ाओ। और देश बढ़ा रहा था वाह्य-प्रतिष्ठा। आज नतीजा सामने है।

आज टण्डन जी की बातें याद आती हैं।

कुछ साल पूर्व तक—चार-पाँच वर्षों पहले तक, हम लोग उनके पास बैठते थे। उनसे प्रेरणा लेते थे।

आज वे नहीं हैं। बहुत सी बातें याद आ रही हैं।

□ □ □

सन् १६३६-४० का जमाना।

टण्डन जी संयुक्त प्रांत विधान सभा के स्पीकर थे। पूरे प्रान्त भर में उनका साक्षरता आन्दोलन चल रहा था। यह आन्दोलन उन्हीं का था। प्रान्त का कोई भी व्यक्ति निरक्षर न रह जाय—यही उनका सपना था।

इलाहाबाद में घंटा घर के नीचे, चौड़ी सड़क पर, एक दिन सुबह-सुबह दोनों ओर पट्टियाँ बिछा दी गयीं। और उस पर बैठाये गये गरीब, मजदूर, बूढ़े जो निरक्षर थे। उन्हें एक-एक स्लेट दी गयी और टण्डन जी उन्हें अक्षर-ज्ञान करा रहे थे।

तब हम सब थे उनके सिपाही। हजारों की संख्या में बैठे लोग अक्षर-ज्ञान कर रहे थे और टण्डन जी एक सार्वजनिक शिक्षक बने सबों को ककहरा सिखा रहे थे। यह क्रम विभिन्न रूपों में—रात्रि पाठशाला और सामूहिक विद्यालय---की शक्ल में भी हम लोग बहुत दिनों तक चलाते रहे। असंख्य लोग टण्डन जी की प्रेरणा से साक्षर हुए। हजारों लोग 'अँगूठा टेक' के अभिशाप से मुक्त हुये।

□ □ □

सन् १९४५ के वाद से तो टण्डन जी को बहुत ही निकट से देखा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कामों के सिलसिले में।

सन् १९४७ की एक घटना का और जिक्र करूँ।

तब लालबहादुर जी उत्तर प्रदेश के पुलिस मंत्री थे।

इलाहाबाद की प्रसिद्ध स्वदेशी नुमाइश को टंडन जी का सदा ही आशीर्वाद प्राप्त रहा था। इस वर्ष सितम्बर में ही टंडन जी से प्रार्थना कर दी गयी थी कि इस बार प्रदर्शनी का उद्घाटन उन्हीं को करना है क्योंकि यह आजाद भारत में पहली नुमाइश होगी।

अक्टूबर आया। नुमाइश की तैयारियाँ लगभग पूरी हो गयी थीं, अचानक इलाहाबाद में भीषण साम्प्रदायिक दंगा हो गया। बीस-बीस घंटों के कर्फ्यू लगने लगे। शहर का जीवन तबाह था। हमारा प्रयत्न था कि नुमाइश हर हालत में हो। एक तो इस कारण कि बीसों हजार रुपये तैयारी में खर्च हो गये थे, दूसरे इस कारण भी कि नुमाइश लगेगी तो शहर के वातावरण से तनाव जरा कम होगा। और शहर के बड़े-बड़े नागरिक और कुछ राजनीतिक दल के लोग कटिबद्ध थे कि नुमाइश न हो। नुमाइश में स्त्री-बच्चों की सुरक्षा नहीं है।

जनमत भी विरोधियों के संग था। हमने वातावरण सुधारने का लाख प्रयत्न किया पर हम असफल रहे। २८ अक्टूबर को नुमाइश खुलनी थी। २६ को शाम तक हम सफल न हो पाये।

तब घबराहट व निराशा के वातावरण में टण्डन जी याद आये। २६ की रात की गाड़ी से हम लोग चले और २७ को सवेरे लखनऊ पहुँचे। रास्ते भर सोचते गये थे कि टंडन जी से आदेश लेकर नुमाइश इस वर्ष बन्द ही कर दी जाय। हम भी इतना बड़ा खतरा उठाने में हिचक रहे थे।

स्टेशन से सीधे गये टण्डन जी के बँगले पर। वहाँ सूचना पाते ही उन्होंने हमें भीतर बुलवा लिया। हम मन कड़ा कर के भीतर घुसे। और हमें देखते ही, प्रणाम-आशीष के पहले ही, हमारे कुछ कहने के पहले ही, वे तनिक आक्रोश में हुँकार उठे,

"क्यों आये हो? बोलो, क्या नुमाइश बन्द करने की बात लेकर आये हो? यह नहीं हो सकता, समझे! फौरन वापस जाओ। मैं कल सुबह

पहुँचूंगा। मैं खुद नुमाइश खोलूँगा। मैं लालबहादुर से कहता हूँ। सारा प्रवन्ध वह करें। मुजफ्फर से भी कहता हूँ—यहाँ क्यों बैठे हैं। इलाहाबाद जाएँ। नुमाइश लगनी ही है।''

हम चकित, काठमारे से खड़े रहे। वे कहते गये—''शहर—कुछ दो-चार गुण्डों के कारण शहर का इतना बड़ा जलसा बन्द नहीं होगा। और गुण्डों से इतना डरा जायेगा तो कैसे काम चलेगा? जानते हो?.. ....सन् में इसी तरह दंगा था। दशहरा नहीं हो रहा था। रामलीला नहीं हो रही थी। कोई अपने लड़कों को राम-लक्ष्मण बनने न देता था। डर था, दंगे में वे लड़के मारे न जाएँ। इतना खराब वातावरण था। तब मेरे चार बेटे थे। मैंने दो को राम-लक्ष्मण बनने को भेज दिया और कहा कि अगर ये दोनों मारे जाएँ तो बाकी दोनों को और ले जाना। जानते हो, फिर रामलीला भी हुई और दशहरा भी मना......और तुम लोग नुमाइश खोलने से डरते हो? जाओ, पहली गाड़ी से जाओ। मैं कल सुबह पहुँचूगा।''

टण्डन जी के इतना कहने के बाद फिर क्या वहाँ एक क्षण भी रुकना सम्भव था?

हम सब वापस आये। तैयारी शुरू की। २८ को सुबह टण्डन जी भी आ गये। शाम को चार बजे जैसे-तैसे नुमाइश खुली। डरे-डरे दिल से लोग काम में लगे रहे। ६ बजे से कर्फ्यू था। अतः ६ बजे नुमाइश भी बन्द कर दी गयी। और सात बजते-बजते नुमाइश के विरोधियों ने शहर भर में यह अफवाह फैला दी कि नुमाइश में आग लग गयी है। कई दुकानें जल कर खाक हो गयीं। यह खबर हम तक भी आयी। पर हमने इस पर ध्यान नहीं दिया। और आठ बजे, रात का सन्नाटा, कर्फ्यू का भयावह वातावरण, हम लोग नुमाइश से निकले और शहर की ओर चले कि एक फर्लांग गये होंगे कि देखा—देखते ही धक् से रह गये—यह क्या?

उस सुनसान, सन्नाटी, खतरनाक सड़क पर अकेले पैदल, छड़ी टेकते टण्डन जी नुमाइश की ओर भागे आ रहे थे। देखते ही जी परेशान हो उठा—यह बूढ़ा पागल हो गया है क्या? जान की भी परवाह नहीं। शहर भर में आग फैली है। कहीं कोई दुर्घटना.. हमने पूछा, ''बाबू जी, आप कहाँ?''

''तुम लोग तो ठीक हो? सुना कि नुमाइश में आग लगा दी गयी, क्या बात है? कैसे क्या हुआ?''

"कहीं कुछ नहीं है बाबू जी, अभी हम लोग नुमाइश बन्द करके आ रहे हैं।"

"वाह ! यह अजीब बात है ?"

"जी, वही विरोधी लोगों ने यह अफवाह......।"

"अच्छा, वापस चलो ! नुमाइश चलो।"

"आप, आप क्यों.........."

"नहीं, चलो, दूर-दूर के दूकानदार आये हैं। उनके मन में कोई डर नहीं बैठना चाहिये।"

फिर नुमाइश आकर टण्डन जी ११ बजे रात तक एक-एक दूकानदार को समझाते रहे, हिम्मत बँधाते रहे। यही नहीं, पूरे एक हफ्ते तक, जब तक नुमाइश जम नहीं गयी, शहर का वातावरण ठीक नहीं हो गया, टण्डन जी इलाहाबाद में ही रहे और रोज नुमाइश आकर सारा प्रबन्ध देखते रहे।

क्या किसी दूसरे लीडर की ऐसी मिसाल आप बता सकते हैं ?

तो मैंने ठीक कहा न, कि वह एक इस्पाती व्यक्तित्व था !

[सन् १९७१]

पं० इलाचन्द्र जोशी

"अरे तू कैसे अपने आप इतनी अच्छी बँगला सीख गया ?" आश्चर्य से बड़े भाई ने पूछा ।

"बँगला में कौन-कौन सी किताबें पढ़ीं ?" पुनः प्रश्न हुआ ।

"रवीन्द्रनाथ और डी० एल० राय का पूरा सेट समाप्त कर लिया ।" यह उत्तर था ।

"और अंग्रेजी की कौन सी किताबें पढ़ीं ?" बड़े भाई ने फिर पूछा ।

"सभी जो आप की 'लाइब्रेरी' में थीं ।"

यह उत्तर सुन कर बड़े भाई हेमचन्द्र जोशी चकित रह गये । और दूसरे ही क्षण मन में डर भी हुआ कि इलाचन्द्र शायद इन्हीं किताबों में उलझ कर स्कूल की पढ़ाई चौपट न कर दे ।

बालक इलाचन्द्र सातवें दर्जे के विद्यार्थी ! बड़े भाई हेमचन्द्र जोशी (अब डाक्टर) मैट्रिक पास कर के प्रयाग आ गये थे, युनिवर्सिटी की पढ़ाई के लिये । पहली बार घर जाते ही उन्होंने पाया कि उनकी सारी लाइब्रेरी उनका छोटा भाई चाट गया है । एक अंग्रेजी-बँगला कोश था । बस उसी के

सहारे रवीन्द्रनाथ, डी० एल० राय ही नहीं, माईकेल मधुसूदन का प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाथ-वध' भी पढ़ा और इस तरह पढ़ा जैसे कोई विद्वान आलोचक पढ़े। उसी उम्र में, शायद बारह या तेरह वर्ष की, इनसे अच्छी तरह रवीन्द्रनाथ और माईकेल के काव्य पर बहस की जा सकती थी। हेमचन्द्र जी को उसी समय यह आभास मिल गया कि इलाचन्द्र की प्रतिमा किस ओर जा रही है।

बड़े भाई साहब खोज-खोज कर किताबें लाते और छोटे भाई साहब उनसे पहले ही उन्हें चाट जाते।

यह जोशी जी की साहित्यिक रुचि की पहली झाँकी है। दो साल के भीतर ही जोशी जी ने अंग्रेजी और बँगला साहित्य का इतना अध्ययन कर लिया जो शायद कोई और बीस साल में पूरा कर पाता। और वह भी अल्मोड़ा में जो रेलवे लाइन से करीब तीस मील दूर! जोशी जी से पूछ कर देखिए तो—उन्होंने मैट्रिक पास करने के बाद रेलगाड़ी का दर्शन किया।

पं० इलाचन्द्र जोशी का आज हिन्दी साहित्य में जो स्थान है उसके पीछे सचमुच एक लम्बा इतिहास है।

सातवें दर्जे की पढ़ाई—तेरह की उम्र, स्कूली किताबों में जी न लगे। अल्मोड़ा में एक बाल-पुस्तकालय था। उसके मंत्री श्री गोविन्द बल्लभ पंत थे जो आज हिन्दी जगत के माने हुए नाटककार व उपन्यासकार हैं। उनसे इलाचन्द्र जी ने केवल इसलिए मित्रता की कि उन्हें वे उनकी पसन्द की पुस्तकें देते रहे।

उन्हीं दिनों अल्मोड़ा के कुछ लड़कों ने मिल कर एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकाला। नाम था 'सुधारक'। पत्रिका बहुत दिनों न चल सकी तो इलाचन्द्र जी के हाथ में उसका भार आया। सर्वप्रथम ही आपने पत्रिका का नाम बदला—सुधारक के क्या माने—हमें कोई सुधार करना है? साहित्यिक नाम होना चाहिए! केवल 'र' व 'क' का स्थान बदलना होगा—'सुधाकर'!

और तेरह वर्ष की अवस्था में ही 'सुधाकर' के सम्पादक हो गये, इलाचन्द्र जोशी। उस समय उस पत्रिका के लेखक कौन-कौन थे सो तो स्वयं

सम्पादक को याद नहीं, केवल एक नाम याद है—श्री पं० सुमित्रानन्दन पंत ! तब कौन जानता था 'सुधाकर' के लेखक पं० सुमित्रानन्दन पंत एक दिन हिन्दी कविता की धारा अपने हाथ पर उठा लेंगे और सम्पादक इलाचन्द्र जोशी एक सफल सम्पादक ही नहीं, हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हो कर रहेंगे।

इसी वर्ष 'प्रभा' में जोशी जी ने एक लेख डी० एल० राय पर लिखा और पुरस्कार स्वरुप ५) रु० मिले। उस समय बहुत जाने-माने लेख़कों को भी पुरस्कार नहीं मिलता था, परन्तु नवें क्लास के इस विद्यार्थी ने उसी समय अपनी प्रतिभा का एलान कर दिया था। इन्हीं दिनों 'इन्दु' के सम्पादक श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी गल्पमाला' का प्रकाशन शुरू किया। युवक जोशी जी ने उसमें कहानियाँ लिखना शुरू किया। और बहुत कम समय में ही इनकी रचताएँ (गद्य और पद्य) हिन्दी की तत्कालीन प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं-'प्रताप', 'मर्यादा', 'प्रभा' आदि में छपने लगीं।

इन्हीं दिनों सोलह वर्ष की अवस्था में हाई स्कूल पास किया। आगे की पढ़ाई का विकट प्रश्न उठ खड़ा हुआ। पता नहीं क्यों पढ़ाई की ओर अधिक रुचि न हुई, क्योंकि इनके मस्तिष्क में जाने यह बात कैसे घर कर गई थी कि अधिकांश बहुत बड़े लोग युनिर्वसिटी में पढ़े न्हीं होते। दुर्भाग्यवश उसी साल पिताजी का देहान्त हो गया और पढ़ाई की समस्या सदा के लिए समाप्त हो गयी। उन दिनों बड़े भाई शाहजहाँपुर में थे, उन्होंने इन्हें बुलाया। अकेले सर्वप्रथम बार रेल-यात्रा इलाचन्द्र जी के लिए एक परेशानी थी। किसी तरह पहुँचे और टाइप करना सीखा।

परन्तु सारी योजना गड़बड़ हो गयी क्योंकि बड़े भाई साहब को शाहजहाँपुर भी छोड़ना पड़ा। अत: इलाचन्द्र जी को भी टाइप की प्रैक्टिस अधूरी छोड़ कर शिमला जाना पड़ा। वहाँ 'आर्मी हेडक्वार्टर्स' में डिसपैचर की जगह मिल गयी। बड़ा पद तो नहीं, परन्तु जिम्मेदारी इतनी अधिक कि अँग्रेज कमान्डर-इन-चीफ के कार्यालय के सभी गुप्त पत्रों का हिसाब-किताब रखना पड़ता। लेकिन वहाँ साहित्य से नाता टूटने लगा, अत: शिमला से भागने की छटपटी पड़ गयी।

अचानक सन् १६२१ का आन्दोल शुरू हुआ। डा० हेमचन्द्र जी ने आन्दोलन में भाग लिया और जेल चले गये। इलाचन्द्र जी ने पहले ही

हेमचन्द्र जी से कलकत्ता जाने की इच्छा प्रकट की थी परन्तु उन्होंने मना कर दिया था। उनके जेलखाने जाने से अवसर मिल गया। इलाचन्द्र जी ने नौकरी में लगभग १५०) रु० जुटा लिए थे। ४०) रु० में इन्टर का टिकट लेकर विशाल नगरी की ओर चल पड़े। वहाँ कहाँ जाएँगे—कहाँ ठहरेंगे, कुछ ठिकाना नहीं। दो-तीन दिन कलकत्ते में बड़े ठाठ से गुजरे कि जेब के सभी पैसे समाप्त हो गये। अब समस्या हुई कि क्या किया जाय!

तब जोशी जी केवल १६ वर्ष के थे। अचानक 'कलकत्ता-समाचार' दैनिक के कार्यालय में पहुँच गये। इनके बँगला व हिन्दी ज्ञान के कारण बिना अधिक परिश्रम के सम्पादकीय विभाग में नौकरी मिल गयी। उन्हीं दिनों बँगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार स्व० शरतचन्द्र चटर्जी से आपका परिचय हुआ और वही परिचय धीरे-धीरे घनिष्ठता में परिणत हो गया। जोशी जी ने उन्हें अपनी अब तक की प्रकाशित रचानाएँ, साहित्यिक निबन्ध और कहानियाँ पढ़ने को दीं जिन्हें पढ़ कर वे बहुत प्रसन्न हुए और बराबर अच्छी-अच्छी चीजें लिखते रहने के लिए जोशी जी को उत्साहित और प्रेरित करते रहे। उनके सुझावों और उपदेशों से जोशी जी ने बहुत लाभ उठाया।

कुछ वर्षों बाद स्वास्थ्य-संबंधी कारणों से जोशी जी कलकत्ता छोड़ कर इलाहाबाद चले आये। तब 'चाँद' अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। स्व० सहगल जी एक ही दिन के परिचय में इनसे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने जोशी जी को 'चाँद' का सहकारी सम्पादक नियुक्त कर लिया। उनके काम से वह इतने खुश थे कि 'चाँद' का सारा काम वह अकेले जोशी जी को ही सौंप देना चाहते थे। पर कुछ कारण ऐसे आ गये— जिनमें एक आर्थिक कारण भी था—जिससे वाध्य होकर जोशी जी को कुछ समय बाद ही 'चाँद' से संबंध तोड़ लेना पड़ा।

इसी बीच इनकी रचनाएँ हिन्दी की तत्कालीन सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में सम्मान के साथ छपती रहीं। वे केवल हिन्दी में ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी और बँगला में भी लिखते थे। बँगला में एक कहानी लिख कर एक बार उन्होंने नई जवानी की चंचलता-वश रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास भेज दी थी। रवीबाबू ने अपनी व्यस्तता में भी पढ़ने की कृपा की थी और उसकी काफी प्रशंसा करते हुए एक पत्र जोशी जी के पास भेजा था। स्व० डा० सच्चिदानन्द सिन्हा द्वारा सम्पादित 'हिन्दुस्तान रिव्यू' और स्व० रामानन्द चटर्जी द्वारा सम्पादित

'मार्डन रिव्यू' में जोशी जी के अंग्रेजी में लिखे लेख प्रकाशित हुए थे। इन्हीं दिनों प्रथम उपन्यास 'परदेसी' धारावाहिक रूप से 'माधुरी' में अधूरा छपा जो अब तक अधूरा ही पड़ा है।

'माडर्न रिव्यू' में सन् १९२८ के किसी अंक में इनका एक लेख तत्कालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों पर प्रकाशित हुआ था जिससे हिन्दी संसार में बड़ा तहलका मच गया था और प्रत्येक प्रमुख हिन्दी पत्र ने उस पर टिप्पणी प्रकाशित की थी। इसी वर्ष श्री दुलारेलाल भार्गव ने इन्हें 'सुधा' के संपादन के लिये बुलाया। कुछ समय तक उनके यहाँ भी आप ने काम किया पर उनसे कुछ सैधान्तिक कारणों से आप की नहीं निभी और काम छोड़ कर जोशी जी चले आये। उसी वर्ष आप का पहला उपन्यास 'घृणामयी' प्रकाशित हुआ जिसके सम्बन्ध में तत्कालीन सभी प्रमुख आलोचकों ने एक मत से अपनी यह धारणा प्रकट की कि हिन्दी उपन्यास की दिशा में वह एक नया और महत्व-पूर्ण मोड़ है।

सन् १९२९ में बड़े भाई डा० हेमचन्द्र जोशी के साथ आपने संयुक्त रूप से 'विश्ववाणी' नामक पत्रिका का सम्पादन किया। दो वर्ष बाद श्री मूलचन्द्र अग्रवाल के आग्रह से साप्ताहिक 'विश्वमित्र' का सम्पादन करने लगे। इसके बाद डा० हेमचन्द्र जोशी और इनके संयुक्त सम्पादकत्व में मासिक 'विश्वमित्र' का प्रकाशन आरम्भ हुआ जिसके सम्बन्ध में भी सभी प्रमुख साहित्यकारों व पत्रकारों ने यह सम्मति प्रकट की कि हिन्दी पत्र-जगत को उसने एक नई दिशा दिखायी हैं।

सन् १९३५ में इन दोनों भाइयों ने स्वयं अपने उद्योग से 'विश्ववाणी' का प्रकाशन नये सिरे से प्रारम्भ किया जिसमें देश-विदेश से सम्बन्धित महत्व-पूर्ण सामयिक विषयों पर निबंध प्रकाशित होते रहते थे और अधिकांश लेख इन्हीं लोगों द्वारा लिखे जाते थे।

सन् १९३६ का साल सम्भवत: जोशी जी के जीवन का बहुत महत्वपूर्ण था। आप की कविताओं का संग्रह 'विजनवती' निकलने की बात तय हुई। प्रकाशक के साथ यही संग्रह छपाने आप प्रयाग आये तो फिर सदा के लिये प्रयाग के ही होकर रह गये। क्योंकि इसी वर्ष शादी हो गयी थी और अब जिम्मेदारी के साथ कहीं जम कर रहने की विवशता भी हो गयी थी।

कलकत्ते के ऊबड़-खाबड़ जीवन का क्रम टूटा। जोशी जी के कलकत्ता-

प्रवास पर कुछ भी लिखने के अर्थ है कि एक पुस्तक अलग ही तैयार की जाये।

१९३७ में स्वर्गीया श्रीमती सरोजिनी नायडू एक बार प्रयाग पधारीं और आनन्द-भवन में ठहरीं, तब उनसे जोशी जी का परिचय कराया गया। उन्होंने आग्रह-पूर्वक जोशी जी से दो कविताएँ सुनीं। कविताएँ उन्हें इतनी पसन्द आईं कि उसके बाद दो बार स्वयं जोशी जी को बुलाया और अनेक कविताएँ सुनीं। इनकी कविताओं पर उन्होंने स्वयं प्रेरित होकर जोशी जी के पास यह सम्मति लिख भेजी थी—

"It has given me very great pleasure to hear you, your exquisite Hindi Lyrics, which have in them such delicate and flowery beauty of rhythm and music, rich imagery and tender emotion. You are among the poets who are born not made—a child of your own forests, mountains and shadowy skies."

प्रयाग में पहले तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन फिर साप्ताहिक 'भारत' में काम किया। बाद में 'संगम' का संपादन किया। बीच में प्राय: एक वर्ष के लिये 'टाइम्स आफ इंडिया' कार्यालय से प्रकाशित 'धर्मयुग' का भी संपादन किया।

अब तक जोशी जी का प्रकाशित साहित्य लगभग १०,००० (दस हजार) पृष्ठों का है। पुस्तकों की संख्या इतनी है कि अधिकांश तो प्राप्य नहीं और अनेक के नाम तो सम्भवत: जोशी जी स्वयं भूल गये हैं।

जोशी जी का व्यक्तित्व विशाल है। साहित्य के लिये साधना और एकाग्रमन होना आपकी विशेषता है। साहित्य का अपमान न हो चाहे खुद लुट जाना पड़े। किसी भी लेखक की किसी समस्या का सवाल हो, जोशी जी खुद अपने को बेच कर उसकी सहायता करेंगे। जोशी जी एक औसत मनुष्य हैं परन्तु कैसा मस्तिष्क पाया है, वही जानें। चेहरा देख कर प्रथम परिचय में ही आप के बारे में बिना पूछे वे सब जान जायेंगे।

[सन् १९५२]

जोशी जी : कुछ संस्मरण

सन् १९४४—४५ का जमाना था। मैं साहित्य की दुनिया में प्रवेश पाने की कोशिश कर रहा था। उन दिनों अक्सर शाम को मैं प्रयाग स्थित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय से एक व्यक्ति को बाहर आकर कर्नल-गंज जाने वाली सड़क पर अकेले आगे बढ़ता देखता था। यह व्यक्ति मुझे बड़ा विचित्र-सा दिखाई पड़ा। कभी भी किसी के साथ मैंने इन्हें न देखा, जैसे इनका किसी से कोई परिचय न हो। सिर के लम्बे बालों की चोटियाँ यह घोषणा करती थीं कि यह व्यक्ति सर्वसाधारण से भिन्न तो अवश्य ही है। बहुत लम्बा और पुराना गरम ओवरकोट, हाथ में एक झोला। कद असाधारण रूप से लम्बा, अपेक्षाकृत दुबला-पतला शरीर। और आँखों पर पुराने फ्रेम में फिट मोटे शीशे का चश्मा और 'चेन स्मोकिंग'। सब मिला कर मेरी रोज इच्छा होती कि मैं यह जान लूँ कि ये महाशय हैं कौन ! यह तो अपने आप ही जान गया था कि ये साहित्यकार होंगे। पर हैं कौन ? खुद मिल कर परिचय प्राप्त करने की हिम्मत यों नहीं पड़ती थी कि देखने में ये महाशय बहुत रूखे-सूखे अपने आप में ही सीमित से ज्ञात हुए। कभी इनके साथ किसी को देखा नहीं था कि उस माध्यम से जानता। फिर डर यह लगा रहता था कि कहीं ऐसा न हो कि पूछते ही बिगड़ उठें !

उन दिनों मैं इंडियन प्रेस के सम्पादकीय विभाग में जाया करता था। एक दिन दोपहर को जब मैं यहाँ बैठा था तो देखा कि सामने फाटक से मेरे कुतूहल का यह नायक भीतर आ रहा है! मैं जरा सतर्क होकर बैठ रहा। आकर ये सज्जन सीधे 'सरस्वती' के तत्कालीन सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल की मेज के पास ही बैठ गये। कमरे में चारों ओर देखा भी नहीं कि और कौन-कौन है। वहीं मुझे बताया गया कि यह सज्जन पं० इलाचन्द जोशी हैं। इन दिनों जोशी जी का उपन्यास, 'निर्वासित' धारावाहिक रूप से 'सरस्वती' में छप रहा था। फिर तो संयोगवश मैं जोशी जी के घनिष्ठ सम्पर्क में आता गया। मैं जितना उनके निकट आता गया मुझे यह लगा कि मेरी सारी पूर्व धारणा और कल्पना कितनी गलत थी। अवश्य ही यह व्यक्ति ऊपर से देखने में अति कठोर और सीमित है परन्तु भीतर से वह उससे अधिक, स्नेहशील, कोमल, भावुक और विस्तृत-विशाल है।

जोशी जी का संबंध साप्ताहिक 'भारत' से हो गया था। मैं कहानियाँ लिखता और सीधा वहीं पहुँचता। जोशी की बड़ी कृपा करके मेरी काफी लम्बी कहानियाँ भी 'भारत' में छापते रहे। एक तरह से 'भारत' में कहानियों का प्रकाशन करके जोशी जी ने मेरी पीठ सहलायी और प्रत्येक रचना के छपने के बाद मैं दूने उत्साह से दूसरी चीज लिखने लगा। इन्हीं दिनों एक बार मिरजापुर के एक साहित्य-प्रेमी सज्जन आये। जन्माष्टमी से अवसर पर कोई साहित्यिक समारोह करना चाहते थे। मैं उन्हें लेकर जोशीजी के पास पहुँचा। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि जहाँ मैंने यह सुन रखा था कि जोशी जी कहीं नहीं आते-जाते वहाँ मेरे केवल एक बार प्रार्थना करने पर ही वे चलने को राजी हो गये। मुझे बहुत आश्चर्य था पर अपने साथी के सम्मुख मैं भला आश्चर्य क्यों प्रकट करता—बल्कि उसे तो मैंने यही बताया कि जोशी जी कहीं नहीं आते-जाते परन्तु वह मेरा अपना असर है कि वे तैयार हो गये। परन्तु सचाई यह है कि सचमुच निश्चित तिथि को जब हम लोग गाड़ी पर बैठ गये तभी मुझे पूर्ण विश्वास हुआ।

मिरजापुर की यह यात्रा मैं शायद जीवन में कभी न भूलूँ। साहित्यिक समारोह तो एक बहाना था। सच में तो वहाँ के पहाडी स्थलों को देखने की बात थी। हम लोगों की इस यात्रा के साथी थे पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय और श्री अनन्त प्रसाद विद्यार्थी। पाण्डेय जी की मस्ती और अक्खड़पन और जोशी जी का संकोच-शील स्वभाव दोनों के बीच हमारी यात्रा इतनी अच्छी हुई कि कुछ न पूछिए!

इस यात्रा के पश्चात् तो हमारे बीच इतनी घनिष्ठता उत्पन्न हो गयी कि मैं अक्सर जोशी जी के यहाँ पहुँचने लगा। सुबह जा कर गरम जलेबी और गरम चाय के नाश्ते के पश्चात् मैं उपन्यास-कला या साहित्य सम्बन्धी कोई विषय छेड़ देता। फिर क्या था, जोशी जी हुक्का पीते हुए घंटे—डेढ़ घंटे तक लगातार मुझे बताते रहते। सच पूछा जाय तो बहुत सी बातें मैंने केवल जोशी जी से चर्चा कर के ही सीखी, पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

जोशी जी के विशाल अध्ययन और गहरी सूझबूझ का पता उनकी रचनाओं से अधिक उनसे बातचीत करके ही लगता है। ऐसा नहीं कि यह केवल मेरे अनुभव हों वरन् इस युग के कई नये लेखकों को भी जोशी जी की यह कृपा प्राप्त है। जोशी जी की यह एक खूबी है कि वे नये लेखकों को प्रोत्साहित करने में कुछ भी उठा नहीं रखते। अक्सर जोशी जी के पास नये लेखकों की बीसों कृतियाँ संशोधन और सुझावों के लिये पड़ी रहती हैं। कोई और व्यक्ति हो तो अवश्य ही ऊब जाये परन्तु यह जोशी जी की धीरता और साहित्य के प्रति लगन है कि अपना काफी समय नये लेखकों के लिए गँवा कर भी ये बुरा नहीं मानते।

'संगम' का प्रकाशन मुझे जोशी जी के अत्यन्त निकट खींच लाया। सन् ४७ के अगस्त का प्रारम्भ था। एकाएक एक दिन जोशी जी ने कहा—'जल्दी में ही सब तय हुआ है। सचमुच वक्त नहीं है। पन्द्रह अगस्त को अंक निकल जाएगा। एक कहानी, अच्छी सी लिख कर फौरन दीजिये।'

जोशी जी की इस प्रकार की स्नेहपूर्ण आज्ञाएँ अक्सर मुझे मिलती रहती हैं। मैंने तत्काल कहानी लिखी और दे आया। 'संगम' का प्रथम अंक १५ अगस्त को आ गया—मेरी कहानी थी ही। कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आयीं कि चौथे अंक से मैं 'संगम' परिवार का सदस्य बन गया, जोशी जी का सहकारी। अब जोशी जी के साथ प्रति दिन सात घंटे बैठ कर काम करने का अवसर भी मिला। जोशी जी के सम्पादक-रूप की कल्पना वह व्यक्ति नहीं कर सकता जिसने उन्हें सम्पादक की मेज पर देखा न हो। मेज पर महीनों से इकट्ठी हो रहीं चिट्ठियों का अम्बार। जरूरी से जरूरी चिट्ठी भी उस अम्बार में अक्सर ऐसी गुम हो जाती कि खोजना मुश्किल होता। इसी भीड़ में अक्सर बहुत से ऐसे अखबार भी रह जाते जिनका कि रैपर तक फाड़ने का अवसर न आता। सम्पादक की मेज पर जोशी जी जौहरी बन कर बैठते हैं। कूड़े

से सोना पहचानते हैं। जाने कहाँ के अखबार, कहाँ-कहाँ की पुस्तकें—और उनमें से सत्त की तरह निचोड़ा जा रहा है—अच्छा-अच्छा मैटर ! 'संगम' की लोकप्रियता का कारण था उसकी नवीनता—विविधता। और इसके पीछे थी जोशी जी की सूझबूझ, परिश्रम। जोशी जी को मैंने लगातार बीस-बीस घंटे काम करते देखा है। हिन्दी में दूसरे ऐसे कौन सम्पादक हैं जो बीस घंटे काम करें—प्रूफ की अशुद्धि न रहे, इसके लिये छपाई समाप्त होने तक लगातार प्रूफ की पढ़ाई चलती रहे।

'संगम' के समय के जोशी जी के मेरे संस्मरण बिलकुल निराले हैं। वहाँ मैंने अनुभव किया कि जोशी जी बहुत कुशल 'प्रधान' नहीं हैं। उनके 'सहयोगी' उनके स्नेह का अक्सर अनुचित लाभ उठा लेते हैं। कारण, जोशी जी बड़ा से बड़ा नुकसान सह कर भी कभी कोई कड़ी बात अपने सहयोगी से नहीं कह सकते—अपने को ही चाहे जितना कष्ट दे लें—सह लें।

मैं तो केवल अपनी बात कहता हूँ कि पूरे डेढ़ वर्ष तक जोशी जी का सहकारी रह कर एक दिन भी मैं समय से दफ्तर नहीं पहुँचा। कभी कोई गड़बड़ी हो जाने पर जोशी जी मन ही मन कुपित होते, शाम को शहर के श्रेष्ठतम होटल में ले जाकर चाय पिलाते और तब कहीं बहुत कठिनाई से इतना कह पाते कि हमें ऐसा न करके ऐसा करना चाहिये। एक प्रधान के रूप में जोशी जी के जमाने में मैंने जितनी मौज की उतनी किसी अन्य नौकरी में नहीं।

'संगम' से अलग होने पर भी मैं इलाहाबाद में ही रहा और जोशी जी का स्नेह दिन प्रति दिन बढ़ता ही गया। अचानक एक दिन सुना कि जोशी जी बम्बई जा रहे हैं—'धर्मयुग' नामक कोई साप्ताहिक निकलने वाला है।

जोशी जी को हम लोग बहुत भारी दिलों से एक दिन बम्बई मेल पर चढ़ा आये। जोशीजी के बम्बई जाने से ऐसा ज्ञात हुआ जैसे हमारे परिवार का कोई बूढ़ा व्यक्ति कहीं दूर चला गया हो और किसी बुजुर्ग की स्नेह छाया हम सब पर से उठ गयी हो। परन्तु मेरे दिल में जाने क्यों एक विश्वास था कि जोशी जी प्रयाग से और हम लोगों से दूर नहीं रह सकते।

□ □ □

बम्बई में जोशी जी का एक पत्र आया था—"बम्बई में सब है लेकिन

अपनी वह मण्डली कहाँ ! आप लोगों का अभाव इस प्रकार खटकता है कि लगता है कि किसी दिन भाग कर इलाहाबाद आ जाऊँ !" और जब दिल में यही बना हो तो कोई कहीं रह कैसे सकता है ! पाँच छः महीने बाद ही एक दूसरा पत्र मिला।—"आखिर 'धर्मयुग' से संबंध तोड़ ही लिया, अब एक सप्ताह बम्बई घूमूँगा फिर इलाहाबाद आ जाऊँगा।"

पत्र पाकर मैं हैरान—आखिर क्या कारण हो सकता है ! एक हजार रुपये महीने की नौकरी यों ही कैसे छोड़ दी ! क्या एक हजार रुपये का कोई आकर्षण नहीं ! पर यह सोचना मेरी महान मूर्खता थी। जोशी जी को क्या रुपये की कोई भी रकम बाँध सकती है ?

जोशी जी फिर इलाहाबाद में आ गये। हमारी मंडली फिर जुट गयी। शाम का जमघट फिर जुटने लगा—बम्बई से जोशी जी लौटे तो केवल दो अन्तर आया—ओवरकोट नया था और चश्मे की कमानी नयी थी. बस। उनका मन किसी प्रकार भी नहीं बदला। बम्बई से आने पर मेरा एक और सौभाग्य उदय हुआ। जोशीजी मकान बदल कर पड़ोस में आ गये। पड़ोसी रूप में जोशी जी को जिस रूप में मैंने पाया उसके लिए यही कहूँगा कि अगर आज के युग में किसी तपस्वी व ऋषि—मुनि की कोई कल्पना की जा सकती है तो उदारहणार्थ जोशी जी अकेले ही सामने आते हैं। सचमुच उनका जीवन एक ऋषि का जीवन है। सादगी की हद। पड़ोस में आये तो एक दिन बोले, "वहाँ तो दो टीन की कुर्सी और एक तखत में ठाट से काम चलता था लेकिन यहाँ तो कुछ फर्नीचर खरीदने ही पड़ेंगे।" और फर्नीचर एक महीने तक जोशी जी के लिए सिर-दर्द बना रहा।

जोशी जी के यहाँ नौकर कभी नही टिकते। इतना आदर-सम्मान उन्हें मिलता है कि उनका भाग जाना आवश्यक हो जाता है। आते ही एक नौकर बीमार पड़ा। जोशी जी तो नर्स बन गये। सवारी पर बैठाकर डाक्टर के यहाँ ले जाना। बुखार बढ़ने पर डाक्टर को बुलाना और घड़ी देख कर समय से ही दवा पिलाना। कभी-कभी चुपचाप सिर भी दबा देना।

और जब नौकर अच्छा हुआ तो जोशी जी ने आज्ञा दी—"देखो ज्यादा काम न करना—कमजोर हो अभी।" सो वह केवल जोशी जी के लिए हुक्का भरता, बस। और जब अच्छा हुआ तो इतने आराम के बाद काम क्या करता !

एक दिन गायब ! जोशी जी ने हँस कर कहा, "मैं तो पहले ही जानता था कि वह यहाँ रह नहीं सकता।"

स्नेह की प्रतिमा श्रीमती जोशी को देख कर किसी भी सुखी परिवार की लक्ष्मी की कल्पना ही सजीव हो उठती है। जाने परिवार में कहाँ-कहाँ के रिश्तेदारों को जोड़ रखा है। अपना रिश्तेदार होकर उसे यदि यह अनुभव करना पड़ा कि संसार में उसका कोई नहीं तो इससे बड़ा दुख और क्या होगा—-सो जितना बड़ा अपना परिवार, उतने ही अपने आश्रित ! यह किस प्रकार चलता है—जोशी जी जाने या राम जानें !

इस प्रकार जोशी जी के विषय में कम से कम मेरे पास तो अनन्त सामग्री है, जिसके बीच से छाँटना कठिन हो जाता है कि क्या लिखूं. क्या नहीं। हाँ, अगर जोशी जी के मानव और कलाकार-जीवन को देखना है तो उनके व्यक्तिगत जीवन को जरा पास से से देखना होगा। मेरा यह तो सौभाग्य है ही कि साहित्य की दुनिया में पाँव रखते ही मुझे जोशी जी जैसा महान् व्यक्ति मिला जो मुझे सदा प्रोत्साहित करता रहा—फिर मेरे सौभाग्य का क्या कहना जो आज पड़ोसी के रूप में उन्हें देखने का मुझे अवसर मिल रहा है।

[सन् १९५२]

राजा साहब

राजा साहब के बारे में तनिक भी सोचने पर कोई भी व्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न कर सकता है कि राजपरिवार के जेष्ठ रत्न होकर उनका झुकाव राजाओं के लिए स्वाभाविक श्रृंगार-प्रियता और ऐश-आराम की ओर न होकर साहित्य सेवा की ओर क्यों हुआ ? लेकिन इसका उत्तर फौरन मिल जाएगा यदि एक सरसरी दृष्टि से इनके संघर्षपूर्ण जीवन का लेखा-जोखा देख लिया जाय। पता नहीं क्या कारण है कि राजा होकर भी राधिकारमण प्रसाद सिंह जी के हृदय में दीन-दुखियों और गरीबों के प्रति ममता, स्नेह तथा करुणा की जो सरिता लहरें लेती रहती हैं, उसके फलस्वरूप साहित्य-सेवी हो जाना किसी प्रकार असम्भव नहीं है। राजा होकर भी राजसी ठाठ की बू नहीं, चाह भी नहीं। धनवान होकर भी धन के प्रति वह मोह नहीं जो मानव को दानव बनाता है। और साधारण प्राणी की ही तरह रहने की लालसा ही तो है जिसने सदा ही राजा साहब को सादगी से परिपूर्ण जीवन की ओर आकर्षित किया है। और राजा साहब ने सचमुच अपना जीवन इतना सादा बना लिया है कि तनिक पास से इन्हें देखा जाये तो या तो इनके राजा होने पर शक होगा अथवा इनकी सादगी को देख कर महान आश्चर्य !

इनकी सादगी का केवल एक नमूना ही काफी है कि राजा साहब सदा

शीतल-पाटी बिछा कर जमीन पर ही सोते हैं। और जो हो, लेकिन पलंग की गुलगुल दुनिया को छोड़ कर कठोर धरती से सामीप्य बनाये रखने की यह साधना ही किसी राज परिवार के व्यक्ति के लिये महान त्याग तो है ही।

राजा साहब के इस जीवन को देखने के लिये उनके सुसंस्कृत और महान परिवार तथा गौरवपूर्ण वंश-परंपरा को भी देखना होगा।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के पितामह सूर्यपुराधीश, दीवान श्री रामकुमार सिंह जी बिहार प्रान्त के उच्चतम कायस्थ परिवार के एक रत्न थे। सुप्रसिद्ध 'डुमराँव राज्य' की दीवानी का सम्बन्ध बहुत जमाने से पूर्वजों में चला आता था। इसीसे उनके और उनके पूर्वजों के नाम के पहले 'दीवान' की उपाधि अवश्य लिखी जाती थी। श्री दीवान साहब बहुत ही साहित्य प्रेमी व्यक्ति थे। साहित्यिक व्यक्तियों का आदर व सम्मान करना तो उनका स्वभाव था ही साथ ही आप भी खुद ब्रजभाषा के अच्छे और माने हुए कवि थे। 'कुमार' उपनाम से आपने कुछ कविताएँ लिखी थीं जिससे उनकी कवित्वशक्ति का पूरा परिचय मिलता है।

आपके ही सुपुत्र का नाम था राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह, जो भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि कवि, 'प्यारे कवि' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। 'प्यारे कवि' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के खास मित्रों में थे। बाद में तो आपकी बहुत अधिक घनिष्ठता की चर्चा करते हुए कुछ लोगों ने लिखा है कि भारतेन्दु और प्यारे कवि मन से ऐसे घनिष्ठ मित्र थे कि दोनों मित्रों का गोलोक-गमन अत्यल्पावस्था में ही हुआ— भारतेन्दु का ३५ वर्ष की आयु में और प्यारे कवि का ३७वें वर्ष में।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं ? लेकिन मन का सम्बन्ध ऐसा ही होता है।

केवल सोलह वर्ष की अल्पायु में ही राज्य की व्यवस्था का भार प्यारे कवि के कंधों पर आ गया था। लेकिन साहित्य का काम कभी राज्य के झंझटों के कारण नहीं रुका। आपका हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी, संस्कृत, अरबी, फारसी और बंगला भाषाओं पर समान रूप से अधिकार था। आपके दरबारी कवियों में कविवर लछिराम, कवि प्रभाकर (महाकवि पद्माकर के पौत्र), कवि सन्त, मिश्र श्यामसेवक (रींवा निवासी) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कवीन्द्र रवीन्द्र, सर रमेशचन्द्र दत्त, महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर आदि सम्भ्रांत व्यक्तियों से आपकी बड़ी घनिष्ठता थी और शम्शुल-उलमा नवाब इमदाद इमाम साहब, मौलवी फज़ल इमाम, मिस्टर राबिन्सन, श्री अनुकूल चन्द चटर्जी आदि आपकी विद्वत्सभा के सदस्य थे।

इतना ही नहीं कि इन व्यक्तियों से आपकी घनिष्ठता ही रही बल्कि आपस में, साहित्यिक कार्यों में सहयोग का भी आदान-प्रदान होता रहा। जब रवीन्दनाथ ठाकुर अपनी प्रसिद्ध नाटिका 'चित्राङ्गदा' की रचना कर रहे थे तब साथ ही साथ प्यारे कवि उसका हिन्दी अनुवाद भी करते जा रहे थे। चित्राङ्गदा का आपका यह अनुवाद नवीन शैली के कारण अपना विशेष महत्व रखता है।

ऐसे ही साहित्यिक रुचि रखने वाले महान पिता के सुयोग्य पुत्र हैं, आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अनूठे शैलीकार राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह। राजा राधिकारमण खुद भी साहित्यिक प्रवृत्ति के हैं और फिर यह गौरवमयी वंश-परम्परा ! सोने में सुगंध !

राजा राधिकारमण प्रसाद का जन्म सन १८६१ में हुआ था। आपके अनुज स्वर्गीय कुमार सर राजीवरंजन प्रसाद सिंह भी एक ही व्यक्ति थे। सूर्यपुरा के बड़े-बूढ़े अब भी कभी चर्चा करते है कि राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह (प्यारे कवि) अपने युग के बड़े सजीले जवान थे। लम्बा कद, गौर वर्ण, गठीला और बलिष्ठ शरीर। बड़ी-बड़ी तरल आँखें और घुँघराले केश। और वाह्य सौंदर्य के साथ ही महान विद्वान् और रसीले कवि। आपके दोनों गुण—शरीर और मन का सौंदर्य—आपके दोनों बेटों के रूप में मूर्तिमान हो गया। प्यारे कवि की साहित्यिक रुचि, विद्वत्ता और सरलता पड़ी थी राधिकारमण प्रसाद सिंह के हिस्से में और उनके सौंदर्य, तेज और राजनीतिक कुशलता के अधिकारी हुए कुमार राजीवरंजन जी। कुमार साहब अँग्रेजी के प्रकांड विद्वान थे। १६१७ ई० मैं आपने एम० ए० में प्रयाग विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया था। तभी आपको अँग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ छात्र होने के कारण 'जुबली पदक' भी दिया गया था। कुमार साहब का नाम आज के बिहार के निर्माताओं में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। कुमार साहब १६३७ ई० से १६४८ ई० तक बिहार कौंसिल के अध्यक्ष थे। १४६१ में आप को सर की उपाधि भी मिली थी।

राजा राधिकारमण प्रसाद के साहित्यिक कार्यों की प्रगति में कुमार साहब का बहुत बड़ा सहयोग इस रूप में रहा कि राजासाहब को जब-जब कोई विशेष साहित्य-सर्जन की प्रवृत्ति जगी या साहित्यिक आयोजनों में अधिक समय देने की आकांक्षा उठी, कुमार साहब ने उस अवधि में राज-काज का सारा भार अपने कंधों पर सहर्ष लेकर उन्हें साहित्य-सेवा के लिए निश्चिन्त कर दिया। अक्सर ही राजा साहब जब इसका जिक्र करते हैं तो उनकी आँखें भर आती हैं। आज के युग में भी राम-लक्ष्मण के अलौकिक भ्रातृस्नेह का स्वरूप देखना हो तो राजा साहब और कुमार साहब के स्नेह- संबंधों को देखा जा सकता है।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का बचपन बड़ी सादगी में बीता जैसा शायद ही किसी राजकुमार का बीत सकता है।

राजा साहब का बचपन अजीब संघर्षपूर्ण युग में पला। उस समय बिहार और बंगाल प्रान्त अलग न थे। भारत में अँग्रेजी राज्य अपनी जवानी पर था। कलकत्ता ही संयुक्त बिहार और बंगाल की राजधानी था, यानी यों कहा जाए तो गलत न होगा कि तब के बिहार व बंगाल में कलकत्ता ही एकमात्र शहर था और आज के पटना की उस समय कोई स्थिति नहीं थी।

राधिकारमण प्रसाद जी का अधिकांश बचपन कलकत्ता ही में बीता। कलकत्ता में आपका घर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पड़ोस में था। रवीन्द्रनाथ की आपके पिता से मित्रता थी। यही कारण था कि राधिकारमण जी भी रवीन्द्रनाथ के परिवार में बहुत घुलमिल गये थे और रवीन्द्रनाथ के परिवार में साहित्यिक वातावरण का जो रूप राधिकारमण सिंह को देखने और समझने को मिला, उसने इन्हें भी साहित्यिक बना दिया। होता यह था कि आपके पिता अधिकतर, राज-काज के कारण सूर्यपुरा में ही रहते थे इसलिए उनकी अनुपस्थिति में राधिकारमण के अभिभावक होते थे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर। उन्हीं के संपर्क का यह परिणाम था कि बचपन में ही राधिकारमण जी को बंगला साहित्य से अनुराग हो गया। और जब बचपन में ही किसी व्यक्ति के सिर पर साहित्य का भूत सवार हो जाता है तो स्कूली पढ़ाई-लिखाई कहाँ चल पाती है! हुआ यही कि मैट्रिक की परीक्षा में साहित्य के निकट जो विषय थे—संस्कृत और अँग्रेजी, उनमें तो राधिकारमण प्रथम आये और

साहित्य से दूर जो विषय था गणित का, उसमें फेल ! किसी तरह सभी नम्बर जोड़-जोड़ कर पास तो कर दिये गये।

लेकिन इतने में क्या साहित्य का नशा फीका पड़ने वाला था ! उधर मेज पर पड़ी इन्टर क्लास की पाठ्य पुस्तकें गर्द खा रही हैं, अपने कर्म को रो रही हैं और इधर अंग्रेजी और फ्रेंच की साहित्यिक पुस्तकों का गहरा अध्ययन चल रहा है।

यह वह युग था जब हिन्दी को भारतेन्दु एक नया रूप दे चुके थे। हिन्दी अपना विकास पा रही थी। नई-नई प्रतिभाएँ साहित्य-गगन में चमकने लगी थीं। बंगाल के गढ़ कलकत्ता में भी हिन्दी की हवा आ चुकी थी। यद्यपि बंगाल की हिन्दी पर बंगला साहित्य का गहरा प्रभाव होता था लेकिन जमीन के भीतर पनपने वाला अंकुर एक-न-एक दिन जमीन की कठोर परत में भी छेद कर देता है और मुक्त वातावरण में अपना सिर तान कर खड़ा हो जाता है। बंगाल में भी हिन्दी का अंकुर धरती फोड़ने की कोशिश कर रहा था। राधिकारामण प्रसाद ने इसी युग में कलम सम्हाली।

यहीं एक दिलचस्प घटना का भी जिक्र कर देना अति आवश्यक है कि इन्टर की पढ़ाई के पूर्व यह समस्या उपस्थित हुई कि राधिकारमण संस्कृत पढ़ें या फारसी। अभी तक तो एक पंडित जी और एक मौलवी साहब, संस्कृत और फारसी दोनों पढ़ा रहे थे। लेकिन अब एक ही विषय को प्रमुख बनाने की बात थी।

लगे पंडित जी और मौलवी साहब अपने-अपने देवताओं की खुशामद करने। बात ठहरी कि राधिकारमण ही जिसे मान लें। लेकिन राधिकारमण को दोनों ही भाषाओं से अत्यन्त प्रेम था---वे क्यों किसी के साथ पक्षपात और किसी के साथ अन्याय करते ! अन्त में झगड़े से बचने का रास्ता निकाला गया। साँप तो मरे पर लाठी न टूटे।

पाँसा फेंका गया। मौलवी साहब और पंडित जी दिल दबा कर बैठे थे। देखें, किसका भाग्य ऊँचा रहता है !

यह क्या, संस्कृत की जीत ! पंडित जी कि बाँछें खिल गयीं। और मौलवी साहब का चेहरा रोने-रोने हो गया। रोजी का प्रश्न था।

लेकिन राधिकारमण ने नीति से काम लिया। भाग्य ने तो संस्कृत को

जिता दिया लेकिन फारसी को भी नीचा नहीं देखना पड़ेगा। तय हुआ कि संस्कृत तो पढ़ी ही जाएगी लेकिन फारसी भी बंद क्यों हो? मौलवी साहब भी बने रहे।

और राधिकारमण को दोनों ही उच्च भाषाओं का पूरी तरह अध्ययन करने का मौका मिल गया। शायद यही कारण है कि आज भी राजा राधिकारमण की शैली और भाषा में जो जोर है वह अन्य किसी को सुलभ नहीं। इसका कारण यही है कि उनका संस्कृत और फारसी दोनों का गहरा अध्ययन है।

इसी बीच पिता की मृत्यु के कारण कुछ दिनों के लिए पढ़ाई का सिल-सिला टूट गया। राधिकारमण प्रसाद सिंह को कलकत्ता छोड़ कर सूर्यपुरा वापस आना पड़ा। ये अभी नाबालिग थे अत: सारी रियासत 'कोर्ट आफ् वार्ड्स' के अधीन चली गयी और दोनों भाइयों की अभिभावक बनी अंग्रेजी सरकार।

यों कानूनी अभिभावक के पद की पूर्ति तो सरकार ने कर दी, पर पारि-वारिक ममता और स्नेह-संस्कृति के अनुकूल दोनों भाइयों की शिक्षा-दीक्षा और चरित्र-निर्माण की आन्तरिक देख-रेख के अभिभावक रहे मुजफ्फरपुर के उनके मामा रायबहादुर श्री द्वारकानाथ जी। श्री नन्दकुमार लाल जी शिक्षक नियुक्त हुए और उनके श्रेष्ठ व्यक्तित्व एवं उज्जवल चरित्र का असर दोनों भाइयों पर यथेष्ठ रूप से पड़ा।

अंग्रेजी सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए एक 'गार्जियन' के साथ दोनों भाई उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए फिर कलकत्ते आये। इन्टर क्लास की पढ़ाई शुरू हुई। अङ्गरेजी स्कूल में नाम लिखाया गया। पूरा अङ्गरेजी वाता-वरण। उस कालेज में बहुत कम भारतीय पढ़ते थे। जो थे उनमें इनकी दोस्ती जिन सहपाठियों से थी उनमें दो व्यक्ति आज काफी नाम कमा चुके हैं। एक हैं श्री शुहरावर्दी, भूतपूर्व प्रधान-मंत्री, बंगाल और दूसरे थे स्वर्गीय श्री किरण शंकर राय, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ।

कलकत्ते के इस बार के रहने में एक बड़ी मारके की घटना हुई। राधि-कारमण और उनके छोटे भाई राजीवरंजन तरुण हो चुके थे। दुनिया को थोड़ा-बहुत समझने भी लगे थे। ये रहते थे एक ऐसे मुहल्ले की ऐसी

अजीब वातावरण था, कृत्तिम और पूरी तरह विदेशी। वहाँ इन्हें रख कर अङ्गरेजी सरकार निश्चित थी। राधिकारमण सिंह का परिचय अपने एक पड़ोसी अङ्गरेज से अच्छा-खासा हो गया था। वह अङ्गरेज बूढ़ा था लेकिन एक युवती क्रिश्चियन महिला से शादी कर ली थी जो हर समय उस पर हावी हुई रहती। उसकी ही एक लड़की थी जिसकी करुणापूर्ण परिस्थितियों ने इन्हें बहुत आकर्षित किया था। हमारा इशारा उसी लड़की से है जो मोनी के रूप में राजा साहब की पुस्तक 'पूरब-पच्छिम' में अवतरित हुई है। उसी के स्नेह और मोह के कारण इनको काफी घनिष्ठता साहब से हो गयी थी। बाद में उसी साहब की मित्रता इनके लिए जहर भी हो गयी।

बात यह हुई कि कलकत्ते में उन दिनों स्वदेशी आन्दोलन की बहुत धूम थी। क्रांतिकारियों का दल काम कर रहा था, गुप्त रूप से, लेकिन उनकी पिस्तौलों की आवाजें और बमों के धड़कन की आवाजें भी कभी-कभी जनता तक आ जाती थीं। जिसके कारण नये खून वाले नये जवानों—कालेज के विद्यार्थियों में बहुत सरगरमी थी। उस सरगरमी का धीरे-धीरे और गुप्त असर इन भाइयों पर भी पड़ता रहा।

'फिरंगी नाशक प्रेस' [कोई गुमनाम प्रेस] से कभी-कभी एक छोटा-सा अखबार निकल आता था। उसके अङ्क अङ्गारे की तरह होते। एक अङ्क आता कि शहर भर का वातावरण गर्म हो जाता और लगते उसके पीछे-पीछे पुलिस वाले भागने। यानी एक अजीब क्रांतिकारी वातावरण फैल गया था।

उन्हीं दिनों अक्सर बीडन पार्क में बड़े-बड़े नेताओं के भाषण होते और बंगाल के मतवाले युवक हर समय डी० एल० राय का मशहूर गीत गाया करते—

'बंग आमार जननि
आमार धात्री आमार
आमार देश!'

इस 'आमार देश' का पूरा प्रभाव इन दोनों भाइयों पर भी पड़ा। जमाने के नशे से दूर कैसे रहते? और दूर रहना सम्भव भी कहाँ था! जब एक बार बीडन पार्क में विपिन पाल की दहाड़ सुन चुके थे, सुरेन्द्र नाथ की ओज-

और उनके दर्शन की व्याख्या उन्हीं के श्रीमुख से सुन चुके थे।

अरविन्द के उस रूप को जिसने देखा हो वही उनके प्रभाव की गवाही भी दे सकता है। आज तो हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं। उसी समय अरविन्द को 'युगावतार' की उपाधि भी मिल चुकी थी यानी बंगाल एक अजीब कशमशक में था।

श्री अरविन्द उन्हीं दिनों एक पत्र भी निकालते थे—वन्दे मातरम् ! यह वन्दे मातरम् हर जवान के कंठ का हार ही नहीं था बल्कि हर घर का अतिथि भी। प्रत्येक घर में इसके नये अङ्क की प्रतीक्षा रहती थी।

अरविन्द और उनके 'वन्दे मातरम्' ने इन दोनों भाइयों के हृदयों पर भी असर कर लिया था। यही नहीं कि केवल उसे पढ़ा जाता बल्कि सहेज कर उसकी फाइल बनायी जाती थी। और कमरे की दीवार पर अरविन्द का भव्य चित्र भी टँग गया था।

इसी समय एक दिन किसी काम से पड़ोसी साहब इनके घर आया और इनकी मेज पर वन्दे मातरम् की फाइल देख कर यों चौंका जैसे मेज़ पर फन काढ़े बैठे नाग को देखा हो ! और जब नजर दीवार पर टंगे अरविन्द के चित्र पर पड़ी तो फिर न पूछिये। लगा वे किसी बारूद के घर में आ गये हैं जहाँ बस आग लगनी भर बाकी है।

एक और अवसर पर जब साहब आये तो राधिकारमण और उनके भाई दोनों ही गायब थे। नौकर ने बता दिया कि बीडन पार्क गये है श्री अरविन्द का भाषण सुनने। फिर क्या था---साहब को लगा कि राजपरिवार के— अँग्रेजी सरकार के सहायक ये लड़के विद्रोही दलों में खिंचे जा रहे हैं अतः इसका कुछ-न-कुछ उपाय करना ही पड़ेगा। उस साहब ने इनकी शिकायत लिख भेजी।

फल यह हुआ कि उसी सप्ताह आरा के जिलाधीश जाँच-पड़ताल के लिये आ पहुँचे। जाँच-पड़ताल तो उन्होंने जाने क्या की, पर फल यह हुआ कि एक रात जब दोनों भाई घूमघाम कर वापस आये तो देखा कि नौकर और 'गार्जियन' सारा सामान घोड़ा-गाड़ी पर लादे दरवाजे पर बैठे इनका इन्तजार कर रहे थे। देख कर ये हैरान हुये तब पता चला कि सरकारी हुक्म आया है

कि चौबीस घंटे के अन्दर शहर छोड़ दें और आगरा चले जाएँ। आगे की शिक्षा का सरकार ने वहीं प्रबन्ध किया है। लदे-बँधे उसी क्षण चल दिये। इतना भी समय नहीं मिला कि जरा मोनी से मिल लेते या साहब को उसकी करतूत पर बधाई दे पाते।

और आगरा पहुँच कर पढ़ाई का सिलसिला नये सिरे से जोड़ा गया। एक वर्ष तक वहीं आगरा कालेज में किसी तरह पढ़ाई चली लेकिन वहाँ मन न लगता था।

अन्त में कई पैंतरे लगाने के बाद थोड़ी सफलता मिली। कलकत्ता जाने की अनुमति तो सरकार ने न दी। उसे डर था कि ये दोनों युवक भी कहीं बंगाली क्रांतिकारी युवकों से मिल गये तब क्या होगा। लेकिन किसी तरह इलाहाबाद में आकर पढ़ने की अनुमति मिल गयी। एक वर्ष इस प्रकार बरबाद ही गया लेकिन किया भी क्या जाता? इस प्रकार बी० ए० की पढ़ाई कुछ कलकत्ता में चली और कुछ आगरा में, लेकिन दोनों अधूरी।

इलाहाबाद में राधिकारमण जी के दो घनिष्ठ मित्र उसी छात्र-जीवन में जो बने सो आज तक उनकी मित्रता निभी जा रही है। एक हैं श्री कमलाकांत वर्मा, भूतपूर्व चीफ जस्टिस, इलाहाबाद हाईकोर्ट और दूसरे हैं श्री महावीर प्रसाद, जो आजकल बिहार के एडवोकेट जनरल हैं।

राधिकारमण की साहित्यिक रुचि को इलाहाबाद में पुनः थोड़ा-सा पनपने को अवसर मिला। संस्कृत में तो आपके जोड़ का विद्यार्थी था ही नहीं। यद्यपि आश्चर्य की ही बात थी कि एक कायस्थ होकर भी फारसी से वह अनुराग नहीं जो संस्कृत से था। सम्भवतः यह नवीन घटना ही थी। इसी से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उस वर्ष भी फारसी पढ़ने वाले लड़कों की तदाद १०० के लगभग थी और संस्कृत पढ़ने वालों की केवल दस और इस दस में ये ही अकेले कायस्थ थे। कायस्थ-परम्परा और संस्कृत का मोह, दोनों दो अलग चीजें थीं।

बी० ए० में राधिकारमण जी को संस्कृत में सर्वप्रथम आने के कारण इलाहाबाद विश्वविद्यालय का 'स्वर्ण पदक' भी मिला था। यह १९१२ का जमाना था। इसी वर्ष तत्कालीन वाइस चाँसलर सर गंगानाथ झा के यहाँ सरस्वती-पूजा के अवसर पर एक नाटक खेलने की बात चली। लेकिन कोई

रामवृक्ष बेनीपुरी

महादेवी जी

राष्ट्रकवि
मैथिलीशरण गुप्त

इलाचन्द्र जोशी

टंडनजी

डा० राजेन्द्र प्रसाद

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ग़ालिब

कार्ल मार्क्स

Das Kapital.

Kritik der politischen Oekonomie.

von

Karl Marx.

Erster Band.

Buch I: Der Produktionsprocess des Kapitals.

Hamburg

Verlag von Otto Meissner.

1867.

New-York: L. W. Schmidt. 24 Barclay-Street.
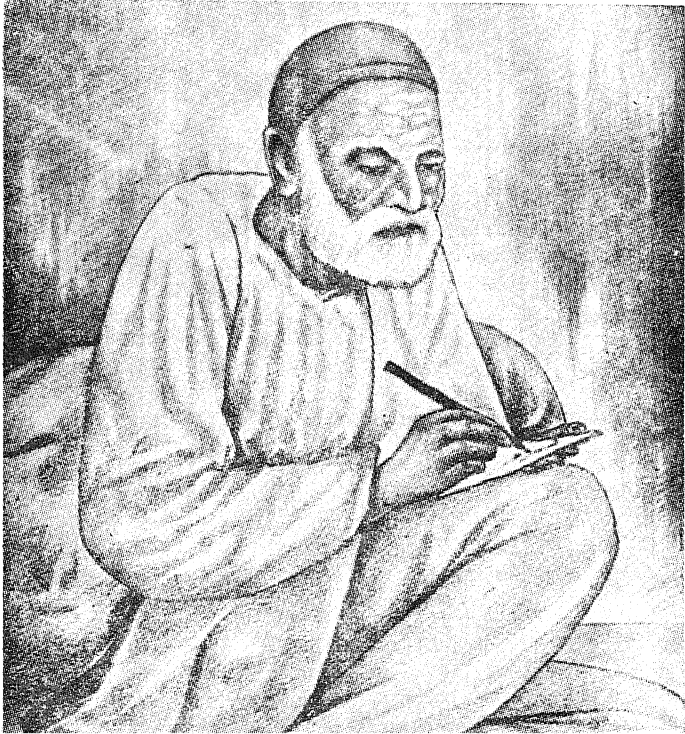
कैपिटल के पहले
संस्करण का मुखपृष्ठ

पृथ्वीराज कपूर

राहुल जी

महादेव भाई

नाटक मिला नहीं था। तब झा साहब ने राधिकारमण जी से कोई नाटक तैयार करने को कहा। राधिकारमण ने केवल पाँच दिनों में एक नाटक तैयार कर डाला—नये रिफार्मर—और वह नाटक इतना पसन्द किया गया कि सभी आश्चर्यचकित रहे। फिर तो इस नाटक की जो धूम बँधी वह आश्चर्य की ही बात है। आज के बिहार के एडवोकेट जनरल श्री महावीर प्रसाद उस नाटक के नायक थे।

बी० ए० तो पास हो गये। आगे एम० ए० करने की तीव्र आकांक्षा थी लेकिन अङ्गरेज कलक्टर जो 'गार्जियन' था, कह रहा था, समझा रहा था—'बी० ए० तक बस काफी है। राजा के बेटे हो। आगे पढ़ कर क्या करोगे? कोई नौकरी करनी है भला! अपने स्टेट का ही काम देखो। इतनी शिक्षा काफी है। आगे पढ़ाई नहीं होगी।'

कलक्टर की बात—ब्रह्मा के वचन थे। पढ़ाई का सिलसिला तोड़ दिया गया। कलक्टर ने कृपा करके राधिकारमण सिंह को उन्हीं के स्टेट का सहकारी मैनेजर बनाया ताकि मैनेजर के साथ रह कर राजकाज सीख जाएँ। यह सब राधिकारमण जी सहते रहे। मन में विद्रोह पलता रहा। लेकिन राजा के बेटे थे न! खुल कर विद्रोह कर भी तो नहीं सकते थे—स्टेट तो जाती ही, जीवन भर को मुसीबत की फाँसी पड़ जाती। सो ऊपर से तो मन लगा कर स्टेट का काम करते रहे, भीतर ही भीतर एम० ए० की तैयारी होती रही। विषय चुना इतिहास। आरा में रहते थे—पटना दूर नहीं था। वहाँ उन दिनों थे प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता—सर यदुनाथ सरकार। राधिकारमण जी पर उनकी कृपा हुई और १६१४ में चुपचाप कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० पास कर लिया।

यहीं से एक तरह से राधिकारमण प्रसाद सिंह के जीवन का संघर्षकाल आरम्भ होता है। जीवन करवट भी तो तभी लेता है जब एक-पहलू समाप्त हो और दूसरा शुरू हो। विद्यार्थी-जीवन समाप्त हुआ और अब शुरू हुआ रियासत का जीवन।

राधिकारमण जी को साहित्य की रुचि तो लड़कपन से ही लग गयी थी। रवीन्द्र नाथ का प्रभाव सिर पर चढ़ा था। सन् १६०८, १६०६ और १६१० में बंगला में काफी लिख चुके थे। कविताएँ और कहानियाँ। फिर कुछ अङ्गरेजी में

भी। उस समय कलकत्ते से निकलने वाली अङ्गरेजी व बंगला पत्रिकाओं में वे रचनाएँ छपी थीं और आदर पा चुकी थीं।

१९११ ई० के आस-पास की घटना है। कलकत्ते में ही बिहार के संत साहित्यक, आचार्य शिवपूजन सहाय से भेंट हो गयी। उन्होंने हिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी। फिर धुन आ ही तो गयी। अङ्गरेजी और बंगला छोड़ आ गए हिन्दी के मैदान में। एक लघु उपन्यास लिखा—'नवजीवन' और कहानियों का संग्रह निकाला—'गल्प-कुसुमाँजलि'। इन रचनाओं पर बंगला की स्पष्ट छाप है और विशेषकर रवीन्द्रनाथ की छाप। इतने बरसों से जिस वातावरण में साँस लेते आये हैं उसका असर एकदम से कैसे छूट जाए? और उस समय को रचनाओं में एक बात और थी—भाषा में संस्कृत की भरमार। संस्कृत से भरी हुई हिन्दी। राजा साहब की तब की भाषा और आज की भाषा में जमीन-आसमान का अन्तर है। लेकिन यह साहित्यिक कार्य भी सन् १९१२ तक ही चल सका। उसके बाद तो बस स्टेट का काम.........।

साहित्य की तड़प मन में पल रही थी लेकिन कलम तक नहीं आ पाती थी।

सन् १९१५ तक सहकारी मैनेजर रहे—अपनी ही रियासत के। फिर कहीं जाकर मैनेजरी मिली। अब तक राधिकारमण जी इस कार्य में भी बहुत कुशल हो गये थे। दो साल के सतत परिश्रम का यह परिणाम हुआ कि १९-१७ में स्टेट 'कोर्ट आफ वार्ड' से मुक्ति पा गयी।

एक बार फिर सूर्यपुरा में स्वतंत्र वातावरण खिल उठा। हाँ, एक ही नुकसान हो रहा था कि साहित्यिक काम रुक गया था, सो रुका ही रहा। लेकिन उस समय आवश्यक था कि राधिकारमण जी राज्य-काज में थोड़ा परिश्रम करके उसकी जड़ मजबूत कर देते। सो ऐसा ही किया भी उन्होंने। साहित्य तो छूटा लेकिन जमींदारों के समाज में यश फैलता रहा। रियासत की जड़ मजबूत होती रही। जो शासक हृदय का भला होता है—उसकी रियाया उस पर जान देती है। सूर्यपुरा ऐसी ही खुशनसीब रियासतों में एक है जिसे अपने शासकों से कोई शिकायत नहीं और इसका श्रेय है हमारे चरित-नायक को।

लेकिन धन्य है बिहार की जनता कि राधिकारमण प्रसाद सिंह के साहि-

त्यिक रूप को वह भूल न पायी थी। १९२० में जब आपकी उम्र २९ वर्ष की ही थी तभी बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बेतिया में होने वाले तृतीय अधिवेशन के आप सभापति चुने गये। अन्तर में करवटें लेने वाला सहित्यकार अंगड़ाई लेने लगा। राधिकारमण प्रसाद सिंह ने उस सम्मेलन में सभापति के पद से जो भाषण दिया वह अपने ढंग का एक ही था। अपूर्व, अनोखा। और उसकी बड़ी चर्चा भी रही। यहाँ तक कि उस सम्मेलन में देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी भी शरीक हुए थे और अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने उक्त सम्मेलन के विषय में लिखा है—

'.........बेतिया में बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। मैं उसमें शरीक हुआ। सुरुजपुरा (सूर्यपुरा) के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी, जो उन दिनों हिन्दी के एक होनहार प्रभावशाली गद्य-लेखक थे, सभापति हुए। उन्होंने जो भाषण यहाँ किया था वह इतना मनोहर और सुन्दर था तथा उसमें भाषा और भाव दोनों का ऐसा अच्छा सम्मिश्रण था कि उसका असर मेरे दिल पर आज तक है।...........'

देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद के इस कथन के पश्चात् अब इस सम्मेलन के राजा साहब के भाषण के लिए कुछ भी लिखना बाकी नहीं रह जाता।

इन्हीं दिनों राधिकारमण प्रसाद सिंह को अङ्गरेजी सरकार ने 'राजा' की उपाधि से गौरवान्वित किया। उपाधि को स्वीकार करें या नहीं, यह प्रश्न कई दिनों तक सामने खड़ा रहा। राधिकारमण जी दिल से इस उपाधि पर बिल्कुल ही प्रसन्न नहीं थे लेकिन हर व्यक्ति के साथ परिस्थितियों की कुछ विवशताएँ भी तो रहती हैं। इस उपाधि के सिलसिले में एक बात कहना बहुत आवश्यक है कि 'राजा' की उपाधि को कौन कहे, रायबहादुरी और खानबहादुरी की उपाधि के लिए लोग भला कौन-सी कोशिश उठा रखते हैं? लेकिन राधिकारमण जी ने कभी इस ओर अपनी इच्छा भी प्रकट नहीं की। इस उपाधि के रूप में एक प्रकार से अङ्गरेजी सरकार ने इन्हे घूस दिया कि इनकी प्रवृत्ति कहीं राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर न हो जाय या यह व्यक्ति भी राष्ट्रीय चेतना के बहाव में न बह जाये।

खैर, राजा की उपाधि नाम के साथ जोड़ी जाने लगी। लेकिन मन पर यह उपाधि एक बोझ बन कर ही रही। मन के इसी संघर्ष के फलस्वरूप राजा साहब ने उस संघर्षपूर्ण जीवन में भी 'तरंग' नामक उपन्यासिका लिखा, जो

सचमुच राष्ट्रीय विचारधारा की पृष्ठभूमि पर एक बहुत अच्छी कहानी मानी गयी।

इसके बाद आया १६२१ का ज़माना। यह वर्ष राजा साहब के जीवन में एक बहुत ही महत्वपूर्ण वर्ष बन कर रहा। हुआ यों कि राजा साहब आरा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य थे और परम्परा के अनुसार बोर्ड की चेयरमैनी करते थे जो भी अङ्गरेज कलक्टर होते। इसी समय 'मान्टेगु रिफार्म' आया और अङ्गरेजी सत्ता का जाल जरा ढीला पड़ा। सरकारी नीति घोषित की गयी कि भारतीय लोग भी योग्यता के अनुसार सरकारी अफसरी के अधिकारी हो सकते हैं। लेकिन अङ्गरेजी सरकार की यह घोषणा नीति ही थी, नियत नहीं। आरा के उस समय के कलक्टर की बदली हो गयी, अतः जिला बोर्ड के चेयरमैन की जगह खाली हुई। 'रिफार्म' के अनुसार योग्यता हो तो कोई भारतीय भी जिला बोर्ड का चेयरमैन हो सकता था। लोगों ने निगाहें दौड़ायीं और निगाहें राजा साहब पर टिक गयीं। एम० ए० पास, राजा और फिर योग्य भी। इन्हें ही अब चेयरमैन बनाया जाय। मेम्बरों में फुसफुसाहट चली। लेकिन राजा साहब को यह बिल्कुल ही नहीं मालूम था कि इस प्रकार की बातें भी चल रही हैं।

नया कलक्टर, अङ्गरेज ही आ चुका था—डब्लू० जान्स्टन। वह जिला बोर्ड की चेयरमैनी नहीं छोड़ना चाहता था। और फिर कलक्टर की अगर चेयरमैनी की इच्छा हो तब कहने ही क्या ?

मीटिंग हुई। कार्यक्रम आया, अध्यक्ष का चुनाव। अचानक एक सदस्य उठे और राजा साहब का नाम प्रस्तावित कर दिया और फौरन ही एक दूसरे सदस्य ने उनका समर्थन भी कर दिया।

कलक्टर के पाँव के नीचे की धरती सरक गयी। उसे इस नाटक की आशा न थी। उसका लाल चेहरा रोष से और लाल हो उठा। यह क्या से क्या हो रहा है ! उसका रुद्र रूप देख कर सभा में खलबली मच गयी। जल में रह कर मगर से बैर ! वह पहले तो बहुत बिगड़ा, तड़पा, फिर खिसिया कर सभा छोड़ कर चला गया।

सभा आधे पर ही भंग हो गयी। एस० डी० ओ० ने राजा साहब को समझाया—"यह अच्छा नहीं हुआ। कलक्टर को नाराज नहीं करना चाहिये। नाम वापस ले लो।"

लेकिन नाम वापस लेकर अपनी नाक कटाने की बात राजा साहब भला कैसे मानते ? उन्होंने साफ कहा—"मेरा कोई इरादा चेयरमैनी का नहीं था, लेकिन जो रूप कलक्टर ने दिखाया है उसके फलस्वरूप 'तो अब अवश्य ही चुनाव तक लड़ा जाएगा।"

यही था सरकार की नीति और नियत का नमूना। नीति घोषित थी कि भारतीयों को भी ऊँची कुर्सी दी जाए और नियत यह थी कि नहीं, यह नहीं, और अगर दी भी जाये तो एक-दो ऐसों को जो सदा ही गौरांग महाप्रभुओं के सामने हाथ बाँध कर खड़े रहें।

अङ्ग्रेज कलक्टर ने एक चाल चली। एक प्रस्ताव बनाया जिसे सर्वसम्मति से सभी सदस्यों को पास करना था। उसका आशय यह था कि सभी सदस्य यह घोषित करें कि जिले में कोई भी व्यक्ति यह योग्यता नहीं रखता जो जिला बोर्ड का चेयरमैन हो सके। कलक्टर का अपना बनाया हुआ प्रस्ताव ! भला किस सदस्य में हिम्मत थी कि उसका विरोध करता। लेकिन एक सदस्य ने लाकर वह प्रस्ताव राजा साहब को दिखा दिया। राजा साहब ने उसे रखा अपने जेब में। उन दिनों राजा साहब के छोटे भाई, कुमार राजीवरंजन प्रसाद सिंह 'बिहार लेजिस्लेटिव कौंसिल' के सदस्य थे। राजा साहब उन्हीं से मिलने पटना गये थे कि वहाँ गवर्नर से भेंट हो गयी। राजा साहब को देखते ही गवर्नर ने कहा, "आप ही हैं न जिला बोर्ड के चेयरमैन ?"

उत्तर में राजा साहब ने कलक्टर का लिखा हुआ वह प्रस्ताव गवर्नर के सामने रख दिया और साथ ही कहा कि वापस ले लीजिये अपनी 'राजा' की पदवी की सनद।

गवर्नर के सामने यह नया भेद था। उसने कलक्टर को बुला भेजा। अपनी सफाई में कलक्टर ने कहा कि आरा का जो सरकारी इंजिनियर है, वह है अङ्ग्रेज। वह किसी 'नेटिव' के आधीन रह कर काम नहीं कर सकता, इसलिए कलक्टर ने यह किया।

लेकिन वहाँ कलक्टर की एक भी न चली। बल्कि गवर्नर ने उसे दूसरे जिले में भेज दिया और अपने यहाँ 'डिनर' पर राजा साहब के साथ ही अँग्रेज इंजिनियर को बुला कर उसे कुछ ऐसा समझाया कि वह तो राजा साहब का भक्त हो गया। फिर पूरे सात साल तक राजा साहब रहे जिला बोर्ड के चेयर-

मैन और इंजिनियर वह अङ्गरेज ही रहा।

आन की बात थी। चेयरमैनी की विजय तो रही लेकिन इसका परिणाम यह रहा कि जब तक चेयरमैनी रही तब तक और सब काम छूटा रहा। चेयर-मैनी से जो समय बचता वह अपनी रियासत ले लेती। लिखने-पढ़ने का सवाल ही कहाँ उठता।

आगे चल कर सन् १९२७ में चेयरमैनी तो छूटी लेकिन घर और रियासत का चक्कर कलम न उठाने देता। सन् १९३५ तक एक प्रकार से कलम नहीं छुई। यानी साहित्यिक काम पूरे पन्द्रह वर्षों तक छूटा रहा। वे पन्द्रह वर्ष यदि यों सूने न जाते तो राजा साहब जाने कितने ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को भेंट करते। राजा साहब की एक आदत रही है कि वे दो काम एक साथ कभी नहीं कर पाते। और यही कारण था कि साहित्य की ओर ध्यान नहीं दे पाये।

यहाँ एक बात का जिक्र करना आवश्यक है कि जिला बोर्ड की जो चेयर-मैनी छूटी उसका भी एक कारण था। १९२४ ई० में महात्मा गाँधी आरा आये थे। उनके सम्मान के लिए आरा की जिला सभा ने उन्हें मानपत्र भेंट करने का निश्चय किया। इसकी सूचना पाते ही कलक्टर ने इसका विरोध किया लेकिन राजा साहब ने कलक्टर की चिन्ता न करके गांधी जी को मान-पत्र दिया ही। फल यह हुआ कि कलक्टर लगातार इनका विरोध करता रहा और अन्त में १९२७ में इन्हें चेयरमैनी छोड़ देनी पड़ी।

इसके बाद तो राजा साहब गाँधीजी के काफी निकट सम्पर्क में आये। गाँधीजी ने इन्हें हरिजन सेवक संघ का सभापति बनाया। जब आप हरिजन सेवक संघ के सभापति थे तो उसके मंत्री थे श्री जगजीवन राम जो आज की राष्ट्रीय सरकार के केन्द्रीय मंत्री हैं।

राजा साहब राजनीति की ओर खिंचे तो लेकिन राजनीति में उनका जी न लगता था। मन के भीतर साहित्य-सेवा की तड़प थी। और जब एक बार कलम छूट जाती है तो बड़ी कठिनाई से फिर हाथ आती है। लेकिन एक ऐसी घटना घटी कि कलम को चलना ही पड़ा।

मन में साहित्य का मोह तो था ही, बहाना भी मिल गया।

पटना में एक अङ्गरेजी फिल्म आई हुई थी। एक दिन तीन मित्र देखने

गये । डा० सच्चिदानन्द सिनहा, श्री दीपनारायण सिंह और राजा साहब । उस दिन हो रहा था थेकरे का 'वेनिटी फेयर' । फिल्म के बाद सिन्हा साहब के यहाँ ही दावत हुई । फिल्म पर ही बात चल पड़ी । सभी बुरी तरह रीझे हुए थे फिल्म पर । अचानक डा० सिनहा ने कहा, "देखा कितना जोरदार ड्रामा था । हिन्दी में ऐसी एक भी चीज नहीं ।"

सुन कर जाने क्यों राजा साहब चिढ़ गये । बोले, "हिन्दी में इससे बीस ही लिखा जा सकता है । चार महीने के समय की बात है नहीं तो क्या नहीं लिखा जा सकता ।"

आन की बात थी । और इसी बात पर लिखा गया राजा साहब का बहुप्रसिद्ध उपन्यास— राम रहीम ।

राजा साहब के मन में कुछ लिखने की उथल-पुथल मची थी लेकिन कैसे क्या हो । समय बिल्कुल नहीं । रियासत का काम, हरिजन सेवक संघ का काम, जिला बोर्ड की राजनीति । लेकिन कुछ ऐसा लिखने की आकांक्षा मन में अँगड़ाई लेती रही जिसे सचमुच महान कृति की संज्ञा दी जा सके ।

कि अपने आप जैसे प्लाट' भी मिल गया ।

श्री महावीर प्रसाद (वर्तमान एडवोकेट जेनरल, बिहार) के यहाँ किसी पारिवारिक उत्सव के सिलसिले में नाच गाने का आयोजन हुआ । नाचने आयीं दो रण्डियाँ । उसमें एक थी हिन्दू और एक थी मुसलमान । हिन्दू का नाम था बेला और मुसलमान का बिजली ।

नाच के बाद किसी ने उनसे पूछ ही तो लिया, परिहास में—"कहिये, कैसा चल रहा है आप लोगों का आजकल कामकाज !"

कि बिजली चमक उठी, "क्या बताऊँ हुज़ूर ! हमारा व्यापार तो छीन लिया इस सिनेमा ने । कम से कम पैसों में, लोग परदे पर अच्छे से अच्छा नाच और गाना देख-सुन लेते हैं । अब हमारी पूछ कहाँ ?"

राजा साहब ने व्यंग किया, "तो क्यों नहीं तुम लोग भी यह धंधा छोड़ देतीं । शादी-वादी करके घर-गृहस्थी बसा लो । फिर गिला-शिकायत का मौका न रहेगा ।"

व्यंग का उत्तर व्यंग से ही मिला—"हुजूर, ठीक ही कहते हैं । मैं तो

ठहरी मुसलमान, मैं तो शादी करके जिन्दगी बदल लूँगी, मेरी खुदा ठीक से निभा देगा। लेकिन यह बेला हिन्दू है। अगर यह शादी करना चाहे भी तो क्या आपका समाज इसे स्वीकार करेगा? यह तो अगर अपने सारे पाप धो भी ले, तो भी हिन्दू समाज इसे पनाह न देगा।''

बात ठीक थी, सीधे दिल पर असर हुआ। राजा साहब के हृदय में विद्रोह भड़क उठा। बिजली ठीक कहती है। बेला का 'राम' कभी उसका सहायक न होगा लेकिन बिजली का 'रहीम' तो उसे पार लगा देगा।

बस यहीं समस्या मिली और 'राम रहीम' का अंकुर फूटा।

दूसरे ही दिन राजा साहब ने रियायत का काम छोड़ा अपने छोटे भाई कुमार राजीवरंजन के कंधों पर, जिला बोर्ड की राजनीति से तोबा किया और गांधी जी के पास पहुँचे कि हरिजन सेवक संघ से भी छुट्टी मिलनी चाहिए। कुछ ऐसी कृतियों का निर्माण होगा जो समाज को बदल सकें, जो बेला को भी स्वीकार कर सके। राजा साहब के सामने हिन्दू और मुसलमान समाज का अन्तर बेला और बिजली की समस्या के रूप में उपस्थित था।

गाँधी जी ने राजा साहब की बात मानते हुए एक शर्त रखी कि उन्हें केवल इस शर्त पर छुट्टी मिल सकती है कि वह इस कहानी को मिली-जुली भाषा (हिन्दुस्तानी) में लिखें।

राजा साहब ने मान लिया। यही कारण है कि हम देखेंगे कि 'तरंग' और 'राम रहीम' की भाषा में इतना अंतर है।

और 'राम रहीम' में राजा साहब ने जिस शैली, जिस भाषा को जन्म दिया है वह उनकी विशेषता है। उनकी उसी विशेषता ने उन्हें, उनके साहित्य को अमरत्व प्रदान किया है।

राचा साहब नैनीताल चले गये। और वहाँ शान्त वातावरण में राजा साहब की कलम के नीचे आकर बेला और बिजली की कहानी, 'राम रहीम' के रूप में अमरत्व पाने लगी।

'राम रहीम' लगभग हजार पृष्ठों का ग्रंथ, और केवल तीन महीना २५ दिनों में राजा साहब ने उसे पूरा कर लिया।

'राम रहीम' जब छपा तो उसे बिजली और बेला ने भी पढ़ा। बेला का

तो जीवन ही उस ग्रंथ ने बदल दिया। पाठक बस यही कल्पना करें कि बेला ने अपना धंधा छोड़ा, काशी विश्वविद्यालय में पढ़ाई शुरू की और फिर जीवन में वह बहुत ऊँची उठी। इतनी ऊँची कि सन् ५४ में उसकी मृत्यु हुई, तब वह बिहार के शिक्षा विभाग में 'इन्पेक्ट्रेस आफ स्कूल्स' थी।

उस कृति को कितनी बधाइयाँ दी जाएँ, जिसने एक नारी के जीवन को क्या से क्या कर दिया।

और 'राम रहीम' के बाद तो लिखने का जो सिलसिला चला सो चलता ही रहा, चलता ही रहा।

कलम जब चली तो थकना क्या जाने? राम रहीम के बाद, पुरुष और नारी, सूरदास, टूटा तारा, संस्कार, सावनी समां, गांधी टोपी और अनेक ग्रंथों को स्वरूप मिला। राजा साहब के यह सभी ग्रंथ अपना सानी नहीं रखते। हिन्दी को इन पर गौरव है। आजकल अपने जीवन के संस्मरणों को राजा साहब 'जानी सुनी देखी' पुस्तकमाला के रूप में लिख रहे हैं जिसके पाँच ग्रंथ अब तक सामने आ चुके हैं। ये सभी ग्रंथ अपने आप में एक-एक हीरे हैं। व्यक्तिगत संस्मरणों को नये ढंग से लिख कर आज भी राजा साहब ने हिन्दी को नयी शैली दी है। कहना गलत न होगा कि यदि केवल शैली भी किसी लेखक को अमर बना सकती है तो राजा साहब उदाहरण हैं।

राजा साहब आज साठ से ऊपर आ चुके हैं। लेकिन राम जाने उनमें लिखने की यह शक्ति कहाँ से आयी जो आज भी उन्हें थका नहीं सकती। जो आज भी नई-नई कला कृतियों के लिए उन्हें प्रेरित कर रही हैं। सरस्वती का अवश्य ही उन्हें वरदान है कि इस उम्र में भी वे चिरयुवक हैं—बिल्कुल नवीन विचारों के नए लेखक की तरह—बिल्कुल ताजे।

आजकल राजा साहब कुछ शिथिल पड़ रहे हैं। कारण शायद यह है कि जीवन भर राजा साहब को प्रेरणा देने वाले दो व्यक्ति रहे हैं—एक तो आपके अनुज कुमार सर राजीवरंजन सिंह जी और दूसरा स्थान है आपकी धर्मपत्नी रानी ललिता देवी का। लेकिन ये दोनों ही आज संसार में नहीं हैं। एक-एक करके दोनों ने राजा साहब को अकेला छोड़ दिया। सन् ४८ में कुमार साहब और सन् ५३ में रानी साहबा का देहान्त हुआ।

इस प्रसंग में एक चर्चा किए बिना नहीं रहा जाता कि यदि रानी ललिता

देवी जैसी धर्मपत्नी राजा साहब को न मिली होती तो राजा साहब का क्या होता नहीं कहा जा सकता। राजा साहब का स्वास्थ्य बचपन से ही कुछ ऐसा था कि उनके जीवन के प्रति सदा ही सभी निराश रहे लेकिन रानी साहबा ने जीवन भर एक 'नर्स' की तरह इन्हें सम्हाला। शायद यही कारण है कि जीवन भर राजा साहब को चादर और गुलूबन्द से अलग नहीं देखा गया। अब, आज राजा साहब की शक्ति अब टूट रही है। लेकिन अभी भी हिन्दी को राजा साहब से बहुत आशाएँ हैं।

आज के इस वृद्धावस्था में भी राजा साहब साहित्यिक संस्थाओं में सदा योग देते रहते हैं। आरा की नागरी प्रचारिणी सभा के तो आप प्राण हैं और बिहार राष्ट्र भाषा परिषद के बहुत ही प्रभावशाली अधिकारी। इनके अलावा दिल्ली से पटना तक की दर्जनों बड़ी-बड़ी संस्थाओं और सरकारी तथा गैर सरकारी कमेटियों का बहुत बड़ा भार आप अपने पर लादे रहते हैं।

राजा साहब के पूरे जीवन का लेखा-जोखा देख कर आज तो यह कहने को जी चाहता है कि काश राजा साहब के जीवन के कई वर्ष यदि रिसायत और अन्य राजनीति ने नष्ट न किए होते तो आपसे हिन्दी को कितना गौरव मिला होता, कहा नहीं जा सकता।

राजा साहब की रियायती परंपरा अब टूट गयी है लेकिन कई पीढ़ियों से आपके परिवार में जो सांस्कृतिक परम्परा कायम हो चुकी है वह आज तक वैसी ही है।

राजा साहब बहुत अच्छे वक्ता भी हैं। जिसने भी एक बार आपका भाषण सुन लिया वह जीवन भर नहीं भूल पाया। वाणी के भी आप अमर बरदानी हैं। लेकिन आत्मप्रचार से कोसों दूर। अपने और अपनी कृतियों के प्रचार की आपने कभी इच्छा नहीं की। और यही कारण है कि आपका हिन्दी के चोटी के महारथियों के बीच सम्माननीय स्थान है।

हिन्दी के गद्य साहित्य को राजा साहब पर गौरव है।

[सन् १९५६]

पृथ्वी

कोई पूछे कि पृथ्वीराज कौन था, तो मैं कहूँगा—
पृथ्वीराज सिकंदर था, मुगले-आजम था।
पृथ्वीराज पठान था, किसान था, कलाकार था।
पृथ्वीराज तूफान था, बवंडर था।
पृथ्वीराज इन्सान था।

जीवन के ६५ बसंतों में हँसने वाला पृथ्वीराज उम्र के पैंसठवें वर्ष में भी नवजवान था, कलाकार था। दुनिया के लिए एक समस्या था, कला के लिए प्रेरणा-स्रोत था।

अजीब व्यक्ति था—रोबीला तन, करुण मन। शरीर से मजबूत, दिल से मोम। बाहर से पठान, भीतर से कलाकार।

कहाँ का था यह कलाकार, पृथ्वीराज! कहना कठिन है। पैदा हुआ पेशावर में, जवानी बिताई धान और पटसन के देश बंगाल में यानी कलकत्ते में। चित्रपट का नायक बना बम्बई में और नाटक किया दिल्ली में। सारे देश की चौहद्दी पर बिगुल बजाया। देश की आत्मा में कला को सजाया। भारत वर्ष के गौरवशाली अतीत वाले रंग-मंच को नया जीवन दिया। पृथ्वी आया

तो देश के रंगमंच का परदा सदियों बाद जरा अँगड़ा कर उठा। देश की रूखी राजनीति पर कला की चाशनी चढ़ी। देश की जनता रंगमंच के निर्माण के लिए दौड़ी।

लेकिन यह सब कैसे ?

□ □ □

जरा गरदन घुमाइए। वह रहा १९०६ का साल। पेशावर के एक खत्री परिवार में ३ नवम्बर को पृथ्वी ने जन्म लिया।

कस्बे का नाम समुद्री। दादा का नाम दीवान केशवमल, समुद्री के तहसीलदार, पिता का नाम विश्वेश्वर नाथ कपूर, पुलिस इन्सपेक्टर।

बालक पृथ्वी को तीन वर्ष की उम्र में ही माता का वियोग सहना पड़ा। फिर दादी ने पाला। लेकिन दादा थे फौलाद के बने। बिना माँ का बेटा शरीर से कमजोर न हो जाए इसलिए उन्होंने पृथ्वी को खूब दूध पिलाना, कसरत कराना शुरू किया। प्याज के खेत में पानी पटवाते, कँटीली झाड़ कटवाते, गेहूँ और कपास की फ़सल में काम लेते यानी पूरी तरह किसान बना दिया। उत्साह ठंडा न पड़े इसलिए प्रतिदिन चार आने मज़ूरी भी बाँध दी। दादा को अंग्रेजी खेलों से नफरत थी अतः कबड्डी, दंगल और गुल्ली-डंडा खिलाते। रात को साथ बैठा कर रामायण, गीता, गुरू ग्रंथसाहब की चर्चा करते। ऐसे वातावरण में पृथ्वी का बचपन पनपा।

शिक्षा शुरू हुई समुद्री के मिडिल स्कूल में। तब आठ वर्ष के पृथ्वी ने स्कूल में एक नाटक खेला—सत्य हरिश्चन्द्र। पृथ्वी को एक छोटी सी भूमिका दी गयी। शैव्या के पास यह खबर पहुँचानी थी कि रोहिताश्व को साँप ने काट लिया है। इस छोटी भूमिका को भी पृथ्वी ने इस नाटकीयता से निभाया कि एक दर्शक ने प्रभावित होकर उसे एक रुपये का इनाम दिया।

और इसका प्रभाव पड़ा कि पृथ्वी का मन धीरे-धीरे पढ़ाई से उचटने लगा और वह रामलीला मंडली में अधिक रुचि लेने लगा।

□ □ □

सन् १९२० का समय। रामलीला मंडली के बूढ़े प्रबन्धकों में झगड़ा हो

गया और मंडली टूट गयी। तब किशोर पृथ्वी ने मंडली चलाने का भार अपने ऊपर ले लिया। पृथ्वी ने रामलीला करने की योजना बनायी। जैसे-तैसे सब इन्तजाम पूरा हुआ लेकिन राम-लक्ष्मण की भूमिका के लिए कोई न मिला। तब पृथ्वी स्वयं राम बने। लेकिन लक्ष्मण न मिले। बिना लक्ष्मण के लीला होती कैसे ? अंत में एक हल निकला। पृथ्वी ने अपने मुसलमान साथी हबीब को लक्ष्मण का वेश पहना कर लीला में उतार दिया। रामलीला का लक्ष्मण मुसलमान। कितनी अजीब बात। समुद्री के उस कस्बे में उसी दिन से हिन्दू और मुसलमानों ने मिल कर रामलीला करनी शुरू की। पृथ्वी के कारण राम के नाम पर हिन्दू और मुसलमान एक हो गये।

समुद्री की पढ़ाई पूरी कर पृथ्वी लायलपुर के हाईस्कूल में भरती हुए। तब उस स्कूल के हेडमास्टर थे बाद में प्रसिद्ध अकाली नेता होने वाले मास्टर तारा सिंह। इसी स्कूल की एक घटना है। एक बार स्कूल के हास्टल से दो मील दूर जा कर लड़कों ने मांस खरीदा। कसाई ने भूल से एक रुपया ज्यादा वापस कर दिया। वापस आने पर लड़कों को जब इस भेद का पता लगा तो वे बड़े प्रसन्न हुए लेकिन पृथ्वी से रहा न गया। फिर दो मील पैदल जा कर उसने कसाई को रुपया लौटाया।

मैट्रिक पास करते ही दादा ने सत्रह वर्ष के पृथ्वी को गृहस्थ बना दिया। रमा देवी से विवाह हुआ और अठारह पूरे होते न होते पृथ्वी बाप भी बन गये। बाप बनने के बाद पृथ्वी ने एडवर्डस् कालेज पेशावर से एफ० ए० और बी० ए० पास किया। फिर कानून पढ़ने लाहौर आये। लाहौर में वे दिन-रात नाटक करने वालों के साथ बिताने लगे, फल यह हुआ कि कानून के पहले वर्ष में फेल हो गये। हर तरफ किरकिरी होने लगी।

फेल होने, पढ़ाई में मन न लगने और नाटक के प्रति आकर्षण ने पृथ्वी को बेचैन कर दिया। किसी तरह पृथ्वी ने दो सौ रुपये जुटाये और कलकत्ता चले गये।

□ □ □

कलकत्ता में एक संस्था थी, फिल्म लीग। कलाकारों और कम्पनियों के बीच एक आढ़त। एक रुपया देकर उस संस्था की सदस्यता ली पृथ्वी ने। लेकिन बहुत भटकने के बाद भी फ़िल्म लीग पृथ्वी को कोई काम न दिला

सकी। पृथ्वी अपना बेकारी का समय नाटक मंडलियों में काटते रहे।

फिर विवश होकर पृथ्वी बंबई आ गये।

२६ सितम्बर १९२६ को जब पृथ्वी बंबई स्टेशन पर उतरे तब माथे पर कलकत्ते की बेकारी की गर्द थी, मन भारी था और जेब खाली। लेकिन दिल की हिम्मत और भगवान का भरोसा।

२ अक्टूबर को इम्पीरियल फिल्म कम्पनी ने 'चैलेंज' नामक गूँगे फिल्म में पृथ्वी को एक एक्स्ट्रा के रूप में लिया। अगले ही हफ्ते इसी कम्पनी की नई फिल्म 'सिनेमा-गर्ल' में पृथ्वी को अभिनेत्री इरमेलिन के साथ काम करने का मौका मिला। वेतन तय हुआ सत्तर रुपया महीना।

सत्तर रुपये में पेट ही मुश्किल से भरता। स्टूडियो से घर पैदल आना-जाना पड़ता। तब पृथ्वी ने तारदेव में आठ-बारह फिट का एक कमरा ले रखा था।

इसके बाद पृथ्वी को जरीना पिक्चर्स के 'शेरे अरब' और 'अरबियन नाइट्स' में काम मिला। फिर इम्पीरियल कम्पनी की चार और मूक फिल्मों में काम मिला। इन फिल्मों से पृथ्वी ने अपने अभिनय की धाक जमा दी।

जब इम्पीरियल कम्पनी ने पहला सवाक् चित्र बनाया—'आलम आरा', तो पृथ्वी को ही नायक बनाया। भारत में यह पहली सवाक फिल्म बनी थी, बड़ी धूम मची। पृथ्वी की भी धम मच गयी। इम्पीरियल की दो और फिल्मों—'द्रौपदी' और 'दगाबाज आशिक' में पृथ्वीराज नायक बने।

१९३२ में पृथ्वी 'दी ग्रेट एण्डरसन थियेटर कम्पनी' में शामिल हुए। थियेटर के साथ पृथ्वी देश भर में घूमने लगे। लेकिन कलकत्ता जाकर यह कम्पनी भी फेल हो गयी। पृथ्वी फिर बेकार हो गये। लेकिन तब तक एक कलाकार की हैसियत से पृथ्वी की काफी शोहरत हो चुकी थी। कलकत्ता की 'न्यू थियेटर्स' कम्पनी ने पृथ्वी को अपना लिया। और पृथ्वी हर नई फिल्म के नायक बनने लगे। न्यू थियेटर्स की 'राजरानी मीरा', 'सीता', 'ब्लडफ्यूज', 'डाकू मन्सूर', 'इन्कलाब', 'अभागिन', 'सबेरा', 'जोरो इन्तकाम', 'आफ्टर थर्डक्वेक', 'मंजिल' 'प्रेसीडेन्ट', 'अनाथ आश्रम' और 'विद्यापति' में पृथ्वी ने काम किया और प्रसिद्धि पायी।

सन् १६३६ में पृथ्वी फिर कलकत्ता छोड़ कर बम्बई आ गये।

बम्बई में रनजीत स्टूडियो ने पृथ्वी को पकड़ा और 'अधूरी कहानी', 'चिनगारी', 'पागल', 'सजनी' और 'आज का हिन्दुस्तान' बनाया।

अब तक पृथ्वी के नाम का डंका पिटने लगा था।

सन् १६४० और ४४ के बीच पृथ्वी ने जिन फ़िल्मों में काम किया उनमें प्रसिद्ध हैं--'उजाला', 'गौरी', 'सिकंदर', 'विक्रमादित्य', 'एक रात', 'देवदासी', 'महारथी कर्ण', 'बाल्मीकि', 'इशारा', 'पृथ्वीराज संयुक्ता', 'कृष्णार्जुन युद्ध' आदि।

दुनिया ने पृथ्वी को महान अभिनेता के रूप में स्वीकारा।

और शोहरत की चोटी पर खड़े होकर एक दिन पृथ्वी ने सोचा—क्या उनके जीवन का लक्ष्य फिल्म है? इसी ऊब और घुटन के बीच एक दिन पृथ्वी ने तय किया—'मेरे लिये कला जीवन है, एक तड़प है। मैं चाहता हूँ कि कला जन-जीवन का दर्पण बने। जिसमें जीवन अपने को देख सके, सुन्दर बन सके, उन्नति कर सके। कला ही समाज की मौजूदा स्थिति की प्रतिच्छाया है।'

इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर १५ जनवरी सन् १६४५ को 'पृथ्वी थियेटर्स' का नया सूरज उगा। 'पृथ्वी थियेटर्स' बना कर पृथ्वी ने कहा था—'पृथ्वी थियेटर्स का निर्माण मैंने इसलिये किया है कि रंगमंच के माध्यम से हिन्दुस्तान की आम जनता को शिक्षित और राष्ट्र को जागरूक बना सकूं ताकि इस विदेशी हकूमत का जुआ उतार कर जनता फेंक सके।'

और 'पृथ्वी थियेटर्स' लेकर पृथ्वी जनता के बीच आ गये।

लेकिन भारत की जनता ने तो 'पृथ्वी थियेटर्स' की जवानी भर देखी। उसके निर्माण के संघर्ष की कहानी केवल पृथ्वी और थियेटर के कलाकार ही जानते हैं। पृथ्वी ने कहा था—'पृथ्वी थियेटर्स' का निर्माण एक ज्वालामुखी का उदय था। मेरे भीतर ज्वालामुखी का लावा युगों से जल-जल कर मुझे उकसा रहा था। भारतीय रंगमंच की इसी गिरी दशा को भस्मीभूत कर देने को तड़पा रहा था। लेकिन क्या करता मैं? न पैसा था, न कलाकार थे। तभी एक बहाना सा मिला। हर बड़ा काम किसी छोटे बहाने से ही शुरू होता है। बम्बई के कुछ नौजवान 'शकुन्तला' खेलना चाहते थे, और उन्होंने

मुझे निर्देशन के लिये पकड़ा। काम तो शुरू हुआ लेकिन बीच में ही वे नौजवान लड़ पड़े और नाटक की योजना स्थगित हो गयी। मैं काफी कार्य आगे बढ़ा चुका था। मैं सोचने लगा—कुछ तो करना ही होगा। 'शकुन्तला' खेलना ही होगा।

यह १४ जनवरी १६४५ का दिन था। रात को दस बजे थे। पृथ्वी बेचैन, परेशान ! अब क्या हो ? कैसे हो ? पैसे नहीं, पैसे नहीं ! !

बेचैन पृथ्वी टहल रहे थे। दिमाग की घड़ी चलती जा रही थी। चिन्ता, चिन्ता ! रात बारह बजे पृथ्वी ने तय किया—'चाहे सर्वस्व लुटा देना पड़े, थियेटर बन कर रहेगा।'

१५ जनवरी को 'पृथ्वी थियेटर्स' की स्थापना हो गयी। पर नाम के सिवा अभी कुछ न था।

पृथ्वी के मित्र, पन्नालाल सेठ, देना बैंक के डायरेक्टर। उन्होंने मनचाही राशि कर्ज़ देकर पृथ्वी को चिन्तामुक्त किया।

और इस तरह 'शकुन्तला' मंच पर आ गयी। नाटक खूब सफल रहा। हर रविवार को आपेरा हाउस में नाटक होता। शकुन्तला की सफलता ने शीघ्र ही 'दीवार', 'पठान', गद्दार', 'आहुति' और 'कलाकार' को जन्म दिया। बाद में 'पैसा', 'किसान' और जुड़ा। ये सभी नाटक भारतीय जीवन और परिस्थिति की एक-एक सच्ची तस्वीरें हैं। लोगों ने कला की शक्ति को पहचाना।

पृथ्वी ने पृथ्वी थियेटर्स के नाटकों को मात्र तमाशा नहीं बनने दिया। उन्हें उन्होंने भारतीय कला की जागृति के आंदोलन के बीज रूप में पेश किया। अपने नाटकों को लेकर पृथ्वी सारे देश में घूमे। शहर-शहर, गाँव-गाँव, कला की ज्योति जगायी। जिस शहर से गुजरे, वहीं नौजवानों की सैकड़ों नाटक मंडलियों का निर्माण होता रहा। देश का रंगमंच फिर गुलजार हो गया।

थियेटर के निर्माण में पृथ्वी ने अपने को लुटा दिया। देश के नवजवानों ने पृथ्वी का साथ दिया। लेकिन देश के सेठ और पूँजीपति मंदिर और मस्जिद ही बनवाते रहे और सरकार बड़े-बड़े बाँध बनवाती रही। लाख-लाख अपील करने पर भी देश में कहीं एक भी रंगशाला न बन सकी।

अकेले पृथ्वी क्या करते ! फिल्मों में अभिनय करके रुपये लाते और

थियेटर में झोंक देते। पृथ्वी के साथी कलाकारों ने भी कम कुरबानियाँ नहीं कीं। भूखे रह कर, आधा पेट खा कर, तीसरे दर्जे की यात्रा करके वे थियेटर चलाते रहे।

सन साठ तक किसी तरह पृथ्वी ने थियेटर नामी इस सफेद हाथी को पाला। पूरे सोलह वर्ष। अगर थियेटर के लिये समस्त अर्जित पूंजी फूंक न देते तो आज पृथ्वी के पास बम्बई में दर्जनों कोठियाँ होतीं, बीसों मोटरकारें होतीं। लेकिन इसके उलटे कलाकार पृथ्वी की गरीबी बढ़ती गयी, कर्ज बढ़ता गया।

पृथ्वी पागलों की तरह देश भर में घूमे, चिल्लाये—'हमें थियेटर दो, हम कला देंगे। देश की कला को थियेटर के बिना मरने मत दो।' लेकिन जो लोग पैसे दे सकते थे, उन्होंने न सुना। एक दिन खीझ कर पृथ्वी ने घोषणा की कि अब वे चित्रपट से संन्यास लेना चाहते हैं। तब उनके पास दो हजार पत्र आये थे। एक ने लिखा था—'पृथ्वी लौट आओ। हमारी आँखों से दूर मत जाओ।'

पैसों की विवशता ने पृथ्वी को फिर 'दहेज', 'आवारा', 'आनन्दमठ', 'मुगले-आजम' और 'सेनापति' में काम करने को मजबूर किया। इस कमाई को पूरी की पूरी पृथ्वी ने थियेटर का कर्ज पटाने में लगाया।

किस-किस कठिनाई से पृथ्वी ने सोलह साल थियेटर चलाया, यह बताना मुश्किल है। थियेटर का खर्च, डेढ़ सौ लोगों का कुनबा था! पच्चीस हजार रुपये का मासिक खर्च। पृथ्वीराज महीने में फिल्मों से दस हजार लाते और पन्द्रह हजार का टोटा बना रहता। कितनी बार तो थियेटर का सामान ही गिरवी रख कर खर्च चलाना पड़ा। कर्ज प्रतिदिन राक्षस के मुँह की तरह बढ़ता रहता। लेकिन पृथ्वी ने हिम्मत न हारी।

लेकिन कब तक चलता। सन् १९६० में थियेटर बंद हो गया। रंगमंच के एक अध्याय पर परदा पड़ गया। सब बेंच-बाँच कर हिसाब करने के बाद तीन हजार का कर्ज बचा। पृथ्वी की जीवन भर की कमाई, सोलह साल का परिश्रम। पृथ्वी कंगाल हो गये, थियेटर टूट गया। रह गया सिर्फ यादगार के लिये तीन हजार का कर्ज।

थियेटर बन्द होने का पृथ्वी के मन पर स्वाभाविक असर पड़ा। उनका

शरीर साथ देने में असमर्थ होने लगा। उनकी आवाज खराब हो गयी। जब आवाज ही नहीं तो नाटक कैसे ? नाटक नहीं तो थियेटर कैसे ?

डेढ़ सौ कलाकारों का कुनबा बिखर गया। पृथ्वी टूट गया।

—पृथ्वी ने साठ फिल्मों में काम किया और सारी कमाई थियेटर में लगायी।

—पृथ्वी ने थियेटर द्वारा चन्दा करके दस लाख रुपया देश की संस्थाओं को दिया।

—पृथ्वी चार साल तक सेन्ट्रल रेलवे मजदूर यूनियन के अध्यक्ष रहे।

—पृथ्वी ने सन् १९५१ में वियना में विश्व-शान्ति सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व किया।

—पृथ्वी दो बार—१९५२ और १९५४ में राष्ट्रपति द्वारा राज्य-सभा के सदस्य मनोनीत हुए।

—पृथ्वी ने सन १९५४ में चीन जाने वाले भारतीय फिल्म शिष्ट-मंडल का नेतृत्व किया।

—पृथ्वी, संगीत नाटक अकादमी के प्रारम्भिक पाँच संस्थापक सदस्यों में एक थे।

—पृथ्वी ने १९५६ में दक्षिण पूर्वी एशिया जाने वाले भारतीय सांस्कृतिक शिष्ट-मंडल का नेतृत्व किया।

—पृथ्वी ने १९४४ से १९६० तक नाटकों के २६६२ बार प्रदर्शन किये और देश के १३० केन्द्रों में घूमे।

—पृथ्वी के तीनों बेटे पिता के पदचिन्हों पर कला की सेवा में लगे हैं।

—पृथ्वी के पास अन्त तक वही पच्चीस साल पुरानी मोटर कार रही। कभी बदली न जा सकी।

इस हिसाब-किताब व लेखा-जोखा के बाद भी इस कलाकार के बारे में जानने को कुछ बच रहा है क्या ?

□ □ □

सन १९६० के बाद पृथ्वी बराबर अस्वस्थ रहे। उनका मन व शरीर दोनों टूटे।

थियेटर बन्द होने पर थियेटर का सामान रखने के लिये उन्हें फिर कर्ज लेकर एक मकान बनवाना पड़ा। उसमें पृथ्वी कभी रह न सके—वहाँ थियेटर का अतीत ही बन्द रहा।

इस तरह कला के सपने देखते हुए पृथ्वी ने सन् १९७२ की २५ मई को जीवन लीला समाप्त की।

पृथ्वी के मरने से देश का रंगमंच अनाथ हो गया।

[सन १९७२]

राय मोशाय

श्री दिलीपकुमार राय को साधारणतया लोग एक महान संगीतज्ञ के रूप में ही जानते हैं। परन्तु वास्तव में वे एक सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार हैं और उनकी विराट प्रतिभा ने साहित्य, संगीत, दर्शन और राजनीति-हर दिशा में समान रूप से एक नई गति व दिशा का निर्माण किया है।

बंगाल तो महान कलाकारों को जन्म देने के लिए सदा से ही प्रसिद्ध रहा है। बंकिम और शरत् जैसे अमर उपन्यासकार और कवीन्द्र रवीन्द्र के नाम इस कथन की सत्यता सिद्ध करते हैं। और दिलीपकुमार राय भी उसी धरती के लाल हैं।

कलकत्ते के प्रतिष्ठित राय परिवार में दिलीपकुमार का जन्म हुआ था। आप के पूर्वज बंगाल के नदिया जिले से आये थे। यह बात स्मरण रखने की है कि नदिया जिले की धरती का कण-कण श्री चैतन्य की लीलाओं का प्रतीक रहा है। श्री चैतन्य का प्रायः सम्पूर्ण जीवन ही इसी जिले में समाप्त हुआ था तथा उनका कार्यक्षेत्र भी यही रहा था। श्री दिलीप के पूर्वजों में एक अद्वैत गोस्वामी श्री चैतन्य के प्रमुख्य शिष्यों में रहे हैं। इसलिए श्री दिलीप के परिवार में धार्मिक निष्ठा तो परंपरागत ही रही है। धार्मिक विचार मनुष्य को इतना

दृढ़ तो बना ही देता है कि अपने विश्वासों के प्रति वह अडिग रहे। और विश्वासों की स्थिरता ही श्री दिलीप के जीवन का प्रथम रहस्य है।

श्री दिलीप को बहुत लड़कपन में ही (१९०३ में) माँ का वियोग सहना पड़ा। इसके कारण आपको अपने पिता के बहुत निकट स्नेह का पात्र बनना पड़ा। आपके पिता स्वर्गीय श्री द्विजेन्द्रलाल राय की सुकीर्ति से कौन परिचित नहीं? बंगाली नाटक के जनक श्री द्विजेन्द्रलाल राय का नाम उन दिनों प्रसिद्धि की चोटी पर था। उनके नाटक 'नूरजहाँ', 'राणा प्रताप', 'दुर्गादास', और 'मेवाड़ पतन' वहाँ की नाटक-मंडलियों के लिए प्राण बन चुके थे। प्रत्येक बंगाली समुदाय में 'डी० एल० राय मोशाय' सांस्कृतिक आकाश के सबसे चमकदार नक्षत्र बन गये थे। राय महोदय ने अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास को एक नये ढंग से, अपनी शैली में इस प्रकार नाटक का रूप दे दिया कि युवकों को इनका एक भी नाटक देख कर अपनी भारत माता के अतीत और वर्तमान दशा का पूरा ज्ञान हो जाता था। राय महोदय बड़े आदर्शवादी व्यक्ति थे। विचारों की संकीर्णता का तो उनके जीवन में कोई भी स्थान न था और पिता का यह सद्‌गुण बालक दिलीप को बाल्यावस्था में ही मिल गया था।

बाल्यावस्था में ही दिलीपकुमार राय ने श्री रामकृष्ण पर प्रसिद्ध पुस्तक "श्री रामकृष्णेर कथामृत" का पाठ किया और उसका इनके मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि आज तक वे उसे नहीं भूल पाए।

श्री दिलीप की स्कूली शिक्षा बहुत अव्यवस्थित रही। पाँच वर्ष की अवस्था में उन्हें स्कूल भेजा गया था। परन्तु यह क्रम शीघ्र ही टूट गया और फिर १३ वर्ष की उम्र तक वे घर पर ही शिक्षा पाते रहे। जब श्री दिलीप १६ वर्ष के हुए तो उनके पिता का भी देहावसान हो गया। अब उनकी देख-रेख उनके नाना डा० पी० सी० मजूमदार करने लगे। परन्तु अपने नाना का संरक्षण श्री दिलीप के लिए बहुत चिन्ता का विषय बन गया था क्योंकि पिता जितने ही बड़े आदर्शवादी थे, उनके नाना उतने ही सांसारिक।

नए घर को विलासिता में श्री दिलीप अपने को समा न पाए। इस नई धूम-धाम में उन्हें सदा एक तरह का दुःख ही बना रहता था।

मैट्रिक की परीक्षा में श्री दिलीप को सरकारी पुरस्कार प्राप्त हुआ और १९१३ में उन्होंने प्रेसीडेन्सी कालेज, कलकत्ता, में प्रवेश लिया। १९१५ में

इन्टर की परीक्षा पास की। अब बी० ए० सी० की तैयारी में उन्हें काफी परेशानी उठानी पड़ी। उनके विषय थे गणित और विज्ञान। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि वे कला ही चुनते। इसीलिए अपने जीवन के १७ वें से २२ वें वर्ष तक उन्होंने एकाग्रचित संगीत, साहित्य और कविता के अध्ययन में बिताया। यही आगे चल कर इनके जीवन का ध्येय बन गया। इनके नाना तथा परिवार के अन्य सदस्यों को श्री दिलीप का कला की ओर यह झुकाव पसन्द न था और उस्तादों से उनका मिलना-जुलना भी वे पसन्द न करते थे। इसका फल यही हुआ कि १९१७ में वे बी० एस० सी० की परीक्षा में असफल रहे। परन्तु अनुत्तीर्ण होने के कारण श्री दिलीप के स्वाभिमान को बहुत धक्का लगा और दूसरे साल वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

१९१८ में बी० एस० सी० पास करने के बाद श्री राय ने विलायत जाने की इच्छा प्रकट की। परन्तु नाना जी की आन्तरिक इच्छा थी कि दिलीप की शादी किसी बहुत धनी परिवार में कर दी जाय। श्री दिलीप का स्वास्थ्य बड़ा अच्छा था, मस्तिष्क और विचार भी साफ-सुथरे थे और फिर पिता की विरासत की प्रचुर सम्पत्ति तथा यश भी था। बंगाल के बहुत बड़े-बड़े जमींदारों और बहुत पैसे वाले परिवारों से पैगाम आये जो नाना जी के लिए लालच के कारण थे, परन्तु श्री दिलीप ने उस ओर कान ही न दिया। विवाह के प्रति श्री दिलीप की इस उदासीनता का कारण श्री सुभाष चन्द्र बोस थे। उन दिनों सुभाष बाबू श्री दिलीप के अभिन्न मित्रों में से थे। दोनों सखाओं ने आजीवन अविवाहित रहने का प्रण किया था—परन्तु इस प्रण की प्रेरणा व कारण दोनों के भिन्न थे। सुभाष ने तो देश की आजादी के लिये अपना जीवन निछावर करने का प्रण किया था परन्तु श्री दिलीप के मन में ब्रह्म की साधना ही उनके जीवन का ध्येय बन गयी थी। जिस क्रिया-कलाप में सुभाष अग्रणी थे उससे दिलीप को घृणा थी—जैसे राजनीति, पत्रकारिता व भाषण देना। सुभाष तो इन सब में बाजी मार रहे थे। अपने पैत्रिक गृह में ही दिलीप ने एकान्तवास के लिये एक झोपड़ी डाल ली थी और वहीं वे एकान्त साधना करने लगे।

परन्तु इस साधना में श्री दिलीप को बहुत बाधाएँ पड़ीं। वह इस प्रकार कि जब नाना ने देखा कि दिलीप इंगलैंड जाये बिना न रहेगा तो उन्होंने उसकी शादी का और भी दृढ़ निश्चय कर लिया क्योंकि उन्हें इस बात की गहरी आशंका थी कि इंगलैंड जाकर दिलीप कहीं अपने कर्त्तव्य से च्युत न हो जाए और किसी मेम से शादी न कर ले।

परन्तु बाद में कुछ लोगों के बीच में पड़ने और समझाने पर किसी तरह वृद्ध नाना ने बिना शादी के ही दिलीप को विलायत जाने की आज्ञा दे दी। फिर कुछ ही दिनों के बाद श्री दिलीप ने अपने आप को कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के फिड्जविलियम हाउस में पाया। वहाँ गणित, कानून और संगीत, तीनों को साथ-साथ आपने पढ़ना शुरू किया। परन्तु यह क्रम भी अधिक दिन तक न चला और कानून से श्री दिलीप के हृदय में जो शुष्कता आ गयी थी उससे छुटकारा पाने के लिए उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय को सदा के लिए प्रणाम किया। उन्हीं दिनों सौभाग्यवश श्री सुभाष बोस भी फिड्जविलियम में थे जिन्होंने श्री दिलीप को राय दी जिसके अनुसार उन्होंने पहले पेरिस और फिर बर्लिन जाकर संगीत की उच्चतम शिक्षा ली। बर्लिन में कहीं जाकर इन्हें अपनी इच्छा के अनुकूल वातावरण मिला। वहाँ श्री दिलीप ने स्वरों की तथा इटालियन ढंग से ध्वनि बनाने की शिक्षा ली। पियानो बजाना तो वह कैंब्रिज में ही सीख गये थे। उन्हीं दिनों उन्होंने जर्मन और फ्रेंच भाषाएँ भी सीखीं जो आज भी वे बहुत धड़ाके से बोल लेते हैं।

अपनी इसी यात्रा में श्री दिलीप विश्व के बहुत से महानतम व्यक्तियों के निकट सम्पर्क में आये। १९२१ में आपकी भेंट रोमारोलाँ से हुई जिनके सुझावों पर स्वीटजरलैंड की एक प्रसिद्ध सांस्कृतिक संस्था ने आपको भारतीय शास्त्रीय संगीत पर भाषण देने के लिये निमंत्रण दिया।

श्री दिलीप का यह भाषण बहुत पसंद किया गया और उनको प्रसिद्ध भी प्राप्त हुई। लुगानों में इनकी भेंट बर्टरेंड रसेल से भी हुई जो वहाँ चीन पर कुछ भाषण देने गये थे। फिर वियना में ये रन फुलप मिलट के अतिथि रहे और प्राग में राष्ट्रपति मसारिक से मिले। श्री दिलीप ने अपने भाषणों के लिये कुछ भी लेना स्वीकार न किया इसलिए प्राग में उन्हें समस्त जर्मन साहित्य का एक सेट भेंट दिया गया। बाद में तो बुगपेस्ट में श्री दिलीप को लोगों ने संगीत कला के प्रदर्शन के लिए भी विवश किया।

१९२२ में श्री दिलीप भारत लौटे। १९२२ से २७ तक पूरे पाँच वर्ष उन्होंने सारे भारत का, भिन्न-भिन्न भारतीय संगीत पद्धतियों की जानकारी के लिए, भ्रमण किया। संगीत विषयक एक पुस्तक भी आपने सन् १९२४ में लिखी जो उसी वर्ष प्रकाशित भी हो गयी। उसी वर्ष प्रथम बार स्वर्गीय अरविन्द घोष से आपका साक्षातकार हुआ। अरविन्द का प्रथम दिन से ही आप पर बहुत प्रभाव पड़ा। इन्हीं दिनों आपने उपन्यास भी लिखे जो काफी प्रसिद्ध

हुए। सर्वप्रथम बार विदेशी पृष्ठभूमि पर आपने भारतीय पात्रों वाले उपन्यास लिखे। आपका पहला उपन्यास 'भनेर पार्ष' था। यह एक प्रकार का सच्ची घटनाओं पर गढ़ा गया उपन्यास है। बल्कि आत्मकथा ही है। प्रधान नायक भी स्वयं दिलीप बाबू ही हैं।

१९२५ में श्री दिलीप ने दूसरा उपन्यास 'दो धारा' लिखा। यह बहुत बड़ा तथा दिलचस्प उपन्यास है। इसमें आपने यह समस्या उठायी है कि क्या एक नारी एक ही साथ दो पुरुषों से प्रेम कर सकती है। अगले वर्ष एक हजार पृष्ठों का एक दूसरा उपन्यास 'डोला' प्रकाशित हुआ, जिसमें शांति की खोज में भटकने वाली मानवी आत्मा का चित्रण है।

इन उपन्यासों के अलावा श्री दिलीप ने कुछ नाटक, कहानियाँ और गानविद्या पर भी लेख लिखे हैं। आपका अपनी पुस्तक पर रोमरोलाँ, रसेल, गांधी, टैगोर और आरविन्द से पत्र-व्यवहार भी हुआ।

१९२७ में श्री दिलीप दूसरी बार यूरोप भ्रषण को गये। इस बार जाने के पूर्व कलकत्ता विश्वविद्यालय ने आपको मान दिया क्योंकि भारतीय संगीत के लिये आपने जितना किया वह एक व्यक्ति के लिए कभी भी संभव न था। इन्हीं दिनों विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महान उपन्यासकार श्री शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय के भी सम्पर्क में आप आये।

अपनी दूसरी यूरोप यात्रा में भी श्री दिलीप ने वहाँ सैकड़ों भाषण भारतीय संगीत पर दिए परन्तु इस बार की यात्रा से वे तनिक भी संतुष्ट न रहे। और उसी वर्ष वापस आ गये। और आते ही श्री अरविन्द के आश्रमवासी बन गये। उसी दिन से उनके लिए संगीत व योग आध्यात्म के दो रास्ते से हो गये हैं।

आज कल भी श्री दिलीप श्रीअरविंद के आश्रम पाण्डीचेरी में ही रह रहे हैं। साहित्य और संगीत एवं योगायस—इन तीनों विषयों पर अद्भुत विजय प्राप्त करने वाले यह पहले ही व्यक्ति हैं। इसी से इनके मस्तिष्क की विशालता तथा शक्ति का अन्दाज मिलता है।

[सन १९५१]

एक नई बाइबिल

आज से पूरे एक शताब्दी पूर्व ।

२५ जुलाई १८६- को ।

इंगलैंड में निर्वासित जीवन बिताने वाले एक महान युगस्रष्टा ने अपनी महानतम वृहताकार रचना की भूमिका लिख कर पूरी की और अन्त में हस्ताक्षर कर के तिथि भी अंकित की—कार्ल मार्क्स, लंदन, २५ जुलाई, १८६७ ।

जर्मन निवासी, यहूदी वंशीय, कार्ल मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी के एक महान क्रांतिकारी विचारक ही नहीं हुए बल्कि उन्हें उस शताब्दी का महान दार्शनिक ऋषि भी कहा गया है । उन्होंने पूँजीवादी उत्पादन का आलोचनात्मक विश्लेषण किया अपनी जगत-प्रसिद्ध कृति 'दास कैपिटल' में । विश्व की हर भाषा में यह कृति 'कैपिटल' के नाम से प्रसिद्ध हुई । इसी कृति का जर्मन भाषा में प्रथम प्रकाशन १८६७ में हुआ था और २५ जुलाई १८६७ को इस प्रथम जर्मन संस्करण की भूमिका लिख कर मार्क्स ने समाप्त की थी ।

कार्ल मार्क्स की इस कृति ने पूरे एक शताब्दी से विश्व के आर्थिक नक्शे में जाने कितने उथल-पुथल, जाने कितनी क्रान्तियाँ, जाने कितने वैचारिक

संघर्ष उत्पन्न किये। इसी कृति को सर्वहारा वर्ग की 'बाइबिल' भी कहा जाता है।

इसी कृति 'कैपिटल' ने जन्म दिया मार्क्सवाद को और मार्क्सवाद के गर्भ से जन्मा साम्यवाद। और यह बताने की कम से कम आज तो आवश्यकता नहीं ही है कि साम्यवाद के चलते विश्व के किस-किस भूखण्ड ने कौन-कौन से रंग बदले।

इसी क्रान्तिकारी रचना 'कैपिटल' के रचयिता कार्ल मार्क्स की जिन्दगी कम संघर्षपूर्ण नहीं रही। यहूदी वंश में जन्म पाकर भी मार्क्स को मानवता व समानता के लिये विश्व के आर्थिक ढाँचे पर इतनी बड़ी चोट करने की प्रेरणा सम्भवतः उनके अपने संघर्षों ने ही दी थी।

कार्ल मार्क्स ने समाजवाद की कल्पना की। उसे वैज्ञानिक रूप देने, उसे एक दर्शन के रूप में स्थापित करने को उन्होंने 'कैपिटल' रची। अपने गम्भीर अध्ययन और तीक्ष्ण मेधा से समाजवादी दर्शन का अविष्कार किया। उन्होंने तत्कालीन सांमती युग में चतुर्दिक हो रहे शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी। एक सपना देखा कि सभी सुखी रहें, दुनिया एक परिवार की तरह हो। उन्होंने 'सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामय' का आदर्श स्थापित करना चाहा।

कार्ल मार्क्स जर्मनी के निवासी थे। मध्यवर्गीय यहूदी परिवार की आर्थिक कठिनाइयों का तीखा स्वाद उन्हें लड़कपन में ही चखने को मिला था। बान विश्वविद्यालय के विधि-शास्त्र के मेधावी छात्र के रूप में उन्होंने ख्याति पायी। जर्मन विश्वविद्यालय में शिक्षा पाते हुए हेगेल के दर्शन का परिचय पाया। जेना विश्वविद्यालय से सन १८४१ में २३ वर्ष की आयु में दर्शन-शास्त्र में 'डाक्टरेट' की उपाधि प्राप्त की। कानून, अर्थशास्त्र और दर्शन के विद्रोही विद्वान माने गये। उसकी बड़ी इच्छा थी कि वे प्रोफेसर बनें, पर उसका यह सपना पूरा नहीं हो सका। उनके उग्र विचार उनकी प्रोफेसरी में बाधक बने। तब उन्होंने पत्रकारिता को अपनाया। उनके विचारोत्तेजक लेखों ने उन्हें प्रसिद्धि दी। वे धर्म में स्वतंत्रता और राजनीति में उदारवाद के समर्थक थे। उन्होंने अपना अखबार निकाला। लेकिन उनकी उग्र लेखनी से तत्कालीन जर्मन सरकार घबरा उठी और उनका अखबार जब्त कर लिया। यही नहीं, मार्क्स का जर्मनी में रहना भी दुश्वार कर दिया।

तब मार्क्स को भाग कर फ्रांस में शरण लेनी पड़ी। लेकिन वहाँ भी उन्हें काम नहीं करने दिया गया। फिर वे अनेक वर्षों तक योरप के दूसरे देशों में मारे-मारे फिरे। अन्त में वे बीमार होकर लंदन आये और वहीं जमे। उसकी पत्नी जेनी, पति के संघर्षपूर्ण जीवन की आदर्श संगिनी थीं।

लेकिन कार्ल मार्क्स को कभी भी आर्थिक सुविधा न रही। बल्कि वे भीषण आर्थिक कठिनाइयों में जीवन भर पिसते रहे। कार्ल मार्क्स को जितनी तकलीफें उठानी पड़ीं, उतनी शायद ही किसी दार्शनिक के हिस्से भी पड़ी हों। गरीबी के मारे उनकी कई संतानें चल बसीं और वे गीली आँखों उन्हें दफनाते रहे। एक बार अपनी एक बेटी की बीमारी में उन्हें अपना कोट तक बेंच देना पड़ा था। लेकिन फिर भी वह अच्छी न हो सकी। और मौत के बाद उसे दफनाने को उसके पास एक कौड़ी भी न थी। जब उसे दफनाया जा रहा था तो क्षोभ व ग्लानि से मार्क्स उसकी कब्र में कूदने को उद्यत हो गये थे।

उनका एक धनी दोस्त था जो सदा ही उनके काम आया। उसका नाम था फ्रेड्रिक ऐंजिल।

ऐंजिल यदि न होते तो अपने निर्वासन-काल में मार्क्स शायद भूख से तड़प कर मर गये होते। यद्यपि अपने जीवन-काल में मार्क्स को कभी राज-नीति के क्षेत्र में सफलता नहीं मिली, पर ऐंजिल के प्रोत्साहन ने उन्हें जीवित रखा। यहीं नहीं, मार्क्स ने जब 'कैपिटल' की रचना की तो उसे सर्वप्रथम जर्मन भाषा में प्रकाशित कराने के लिये ऐंजिल ने ही समस्त खर्च वहन किया। 'कैपिटल' लिखते समय एक पत्र में मार्क्स ने ऐंजिल को लिखा था—

"तुम्हारे बिना मैं 'कैपिटल' को किसी नतीजे तक न ला सकता था। मेरे मन पर पहाड़ की तरह भारी बोझ बना है कि मेरे लिए तुमने अपनी अद्भुत शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया और व्यापार भी शिथिल कर डाला।"

'कैपिटल' की जब प्रेस में छपाई चल रही थी तब १६ अगस्त १८६७ को मार्क्स ने ऐंजिल को निम्नलिखित पत्र लिखा था—

१६ अगस्त १८६७, दो बजे रात।

प्रिय फ्रेंड,

किताब के आखरी फर्मे (४६ वें फर्मे) को शुद्ध कर के मैंने अभी-अभी काम

समाप्त किया है। परिशिष्ट—मूल्य का रूप—छोटे टाइप में, सवा फर्मे में आया है।

भूमिका को भी शुद्ध करके मैंने कल वापस भेज दिया था। सो यह खण्ड समाप्त हो गया है। इसे समाप्त करना संभव हुआ, इसका श्रेय एकमात्र तुमको है। तुमने मेरे लिए जो आत्मत्याग किया है, उसके अभाव में मैं तीन खण्डों के लिए इतनी जबर्दस्त मेहनत संभवतः हरगिज न कर पाता। कृतज्ञता से ओत-प्रोत होकर मैं तुम्हारा आलिंगन करता हूँ।

दो फर्मे इस खत के साथ रख रहा हूँ, जिनका प्रूफ मैं देख चुका हूँ।
१५ पौंड मिल गये थे, धन्यवाद।

नमस्कार, मेरे प्रिय, स्नेही मित्र।

तुम्हारा
कार्ल मार्क्स

इस प्रकार यह कहने में कोई गलती न होगी कि मार्क्स को विश्व-विख्यात करने में ऐंजिल का ही हाथ रहा है। ऐंजिल की ही कृपा से १८६७ में 'कैपिटल' जर्मन भाषा में छप सकी।

१८७२ के बसंत में 'कैपिटल' का पहला रूसी अनुवाद प्रकाशित हुआ और एक महीने के भीतर ही ३००० प्रतियों का यह संस्करण बिक भी गया।

१८७३ में कैपिटल का फ्रांसीसी अनुवाद पेरिस में छपा। इसी वर्ष जर्मन संस्करण का दूसरा संस्करण भी छपा और १८८३ में तीसरा संस्करण। तीसरे संस्करण को बीमार मार्क्स ने दुहराने में कठिन श्रम किया था पर इस संस्करण को प्रकाशित देखना मार्क्स के भाग्य में न था। इसके प्रकाशन के कुछ महीनों पहले ही १४ मार्च १८८३ को मार्क्स की मृत्यु हो गयी।

१८८७ में कैपिटल का अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके अंग्रेजी संस्करण की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इस संस्करण की भूमिका में ऐंजिल ने लिखा है—"कैपिटल के एक अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशन की कोई सफाई देने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, इस बात की सफाई की आशा की जा सकती है कि अंग्रेजी संस्करण में इतनी देर क्यों हो गई, जब कि इस पुस्तक में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उसकी इंग्लैंड और अमरीका, दोनों देशों के सामयिक प्रकाशनों तथा तत्कालीन साहित्य में पिछले

कुछ वर्षों से लगातार चर्चा हो रही है, आलोचना-प्रत्यालोचना हो रही है। उसके तरह-तरह से अर्थ लगाये जा रहे हैं और अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है... ..."

इन पंक्तियों से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि अपने प्रकाशन के साथ ही यह कृति विश्व भर में चर्चा का विषय बन गयी थी।

मार्क्स ने कैपिटल में बताया हैं कि पूँजीवादी समाज में एक ओर धन का केन्द्रीकरण मुट्ठी भर लोगों के हाथों में होता है, दूसरी ओर दरिद्रता, दासता, अभाव, बेकारी, पतन, निराशा की वृद्धि होती है। पूंजीवादी व्यवस्था अपने अन्तर्विरोध के कारण अपनी ही कब्र खोदने वाली संस्था तैयार कर लेती है जो एक दिन पूँजीवाद का अंत करके समाजवाद की स्थापना कर देती है।

इस विश्वप्रसिद्ध ग्रंथ का पहला वाक्य है—"साम्यवाद का भूत योरप भर में घूम रहा है। इस भूत को भगाने के लिए पोप और जार, मेटरनिंग और गीजार, फ्रांस के क्रांतिकारी और जासूस सब मिल गये हैं लेकिन यह बढ़ता ही आ रहा है।" और अंतिम वाक्य तो अन्तराष्ट्रीय आंदोलन के लिए अमर वाक्य है—"दुनिया के मजदूरों, संगठित हो जाओ। अपनी बेड़ियों और दासता के सिवाय तुम कुछ नहीं खोओगे। एक नई दुनिया प्राप्त कर लोगे।"

मार्क्स के इसी कथन पर विश्व के सर्वहारा वर्ग ने 'कैपिटल' को 'बाइबिल' मान लिया। आज विश्व के प्रगतिशील देशों का ही नहीं, समस्त देशों का आर्थिक ढाँचा 'कैपिटल' के केन्द्र बिन्दु पर ही निर्मित हो रहा है। विश्व के सर्वहारा वर्ग की एक हद तक बेड़ियाँ टूटी हैं और इसका श्रेय "कैपिटल" को ही है।

[सन् १९६७]

'भद्रलोक' का अड्डा उर्फ कॉफी-हाउस

शुक्र है आधुनिक युग का, जिसने मध्यम श्रेणी को, अपनी इज्जत बचाने को—कॉफी-हाउस दिया। सच कहता हूँ कॉफी-हाउस के कारण सफेदपोशों, 'भद्रलोक' और खाली जेब 'इन्टेलेक्चुअल्स' के दिन कट रहे हैं—बाइज्जत।

कॉफी-हाउस है आज 'भद्रलोक' का अड्डा।
कॉफी-हाउस है आज 'इन्टेलेक्चुअल्स' का शेयर-मार्केट।

सफेदपोश, 'भद्रलोक' व इन्टेलेक्चुअल्स का इस देश में अलग एक वर्ग बनता जा रहा है—बन सा गया है।

पैसे वाले, बड़े अफसरों को समय काटने के लिए, बड़े होटल और बार मिल जाते हैं। वहाँ की अपनी एक नयी संस्कृति, नया कल्चर बन गया है। उसमें वह आदमी 'फिट' बैठ ही नहीं सकता, जो जेब का हल्का है व जिसके पास रोज बदलने को कीमती सूट नहीं है। फिर वह जाये कहाँ ? कहीं तो समय काटना ही है, अड्डा जमाना ही है। अगर सिनेमा-हाउसों या स्टेशन के पास के गुमटीनुमा होटलों में जाये, तो वहाँ भी उसका गुजारा नहीं है। चपरासियों, मोटर-मिस्त्री जैसों के साथ भी क्या बैठा जा सकता है ? और अगर बैठ भी आयें तो भला वहाँ बात क्या करें ? फिर ऐसे होटलों के मालिक

'सिंह जी' ऐसे 'सफेदपोश' ग्राहकों की जेब की स्थिति जानते हैं। उन्हें वे मुँह नहीं लगाते। फिर एक ही चारा बचता है कि घर में ही रहें। लेकिन घर में हर वक्त रह कर, पारिवारिक व्यवस्था भी तो बिगाड़ी नहीं जा सकती।

अब कहाँ जायें?

हाँ, काफी-हाउस! तो वहीं चलें, वहीं अपने जैसों का गुजारा है। एक प्याली काफी में घंटों गुजर जायेंगे और वहाँ सभी मिल भी जायेंगे—प्रोफेसर, जर्नलिस्ट, लेखक, कवि, निरे इन्टेलेक्चुअल, सोशलिस्ट भी, काँग्रेसी भी, बीमा कम्पनी के एजेन्ट भी, राजनीतिक 'ब्रोकर्स' भी, नवजवान वकील, रेडियो स्टेशन के आर्टिस्ट भी। भला और क्या चाहिए? इतने तरह के लोग एक साथ मिल जायेंगे वहाँ।

सो चलिए न वहीं।

और अब चल ही रहे हैं तो मैं आपको 'काफी-हाउस' के बारे में बतला भी दूँ, सब, जितना मैं जानता हूँ, तो आप का भला ही होगा।

तो सुनिये......

कहते हैं कि काफ़ी-हाउस की उत्पत्ति पेरिस में हुई। दूसरे महायुद्ध के बाद वहाँ भी मँहगी आयी थी और वहाँ के 'इन्टेलेक्चुअल्स' की परवरिश के लिए ही वहाँ काफ़ी-हाउस खुले थे। और 'इन्टेलेक्चुअल्स' के दृष्टिकोण से भारत का पेरिस है अपना इलाहाबाद। मेरी इस बात को शायद एकाएक आप पचा नहीं पा रहे हैं। ठीक है, पूरा पेरिस मैंने कहाँ कहा? इन्टेलेक्चुअल्स की दृष्टि से ही, यानी कवियों, चित्रकारों, लेखकों, हीन भावना से पीड़ित पुराने राजनीतिकों की संख्या और उनकी स्थिति तब के पेरिस वालों जैसी ही है। इसी से ऐसा कहा गया है। और इसे सिद्ध करने के तर्क भी हैं मेरे पास, लेकिन उन्हें बताने का यह मौका नहीं है, फिर कभी......।

सो पेरिस में खुलने के दस वर्ष के भीतर-भीतर भारत में भी काफी-हाउस खुल गये। कलकत्ता, इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली।

और अब पन्द्रह-बीस वर्षों में 'काफी-हाउस' का अपना एक 'कल्चर' भी बन गया है। 'काफी-हाउस' के प्रेमियों का अपना अलग समाज भी बनता जा रहा है।

काफी-हाउस के 'कल्चर' की बात भी सच ही है। यहाँ जैसे यह व्याव-हारिक नियम है कि काफी-हाउस के भीतर की बहसों को बाहर जाते ही भूल जाइए। अगर भीतर झगड़ा भी हो गया है किसी से, तो वह झगड़ा आप नहीं निपटा लें, नहीं तो उसे वहीं दफना कर बाहर जाइए। बाहर की दुनिया पर काफी-हाउस में हुई बातों का असर नहीं पड़ता। और इस नियम के विरुद्ध आप गये कि एक दिन भी नहीं निभ सकती।

काफी-हाउस में आप चाहे जिसकी जो भी आलोचना कर सकते हैं। हाँ, बात कहने का स्तर ऊँचा, यानी 'इन्टेलेक्चुअल' हो तो आसानी से ही नहीं, दावे से कह सकते हैं कि 'नेहरू की विदेश-नीति बकवास है और रवीन्द्रनाथ ठाकुर में ऐसी कोई विशेष प्रतिमा नहीं थी।'

सच भी है कि रवीन्द्रनाथ से अधिक प्रखर प्रतिमा वाले लोग तो दिन भर में सैकड़ों आपको काफी-हाउस में मिल जायेंगे। नेहरू से अधिक बुद्धिमान राजनीतिक, विचारक भी अनेकों की संख्या में रोज यहाँ चार-पाँच घन्टे बैठे रहते हैं। एक-दो नहीं, अनेक। ऐसे कितने ही हैं कि जिन्हें यह शिकायत है कि उन्हें तो दुनिया ने मौका ही नहीं दिया, नहीं तो जवाहरलाल क्या, वे और कुछ बन कर दिखा देते। इसी खिजलाहट में वे अपने को लोहिया के अधिक निकट पाने लगते हैं। अभी भी उन्हें वक्त का इन्तजार है। कॉफी-हाउस में ऐसे लोग एक-दो नहीं अनेकों की संख्या में आप को मिलेंगे। हाँ, उनसे जान-पहचान बढ़ा कर उनकी खूबियाँ जान लेना आपका काम है।

आज आपका आफिस जाने का 'मूड' नहीं है, या जिस कारण से भी नहीं जाना चाहते, और घर में भी नहीं रहना चाहते, तो काफी-हाउस चले जाइये। दिन कट ही नहीं जाएगा। आप बड़े आराम से दिन काट लेंगे। जीवन में परि-वर्तन भी आ सकता है, जीवन में फिर से रस का संचार हो सकता है।

क्या कहा ? नौ बजे सबेरे ही ! अच्छा, इसी समय चलिए।

देखिए, कॉफी-हाउस में पाँच-छः मेजें कितनी भीड़ से दबी हैं। समझिए, वे इसी समय आने वाले लोग हैं। वह देखिए, कुछ नवजवान वकील दोपहर को खाना खाने के आदी नहीं हैं और घर पर बढ़िया मनपसन्द 'ठोस' नाश्ता नहीं मिल पाता, इसीलिए कोर्ट जाने के पहले एक घंटे यहीं जम कर नाश्ता कर लेते हैं। इनमें अधिकांश के साथ उनके 'मुवक्किल' रहते हैं, जिन बेचारों की आज तारीखें हैं। अतः बिल के भुगतान की भी पूर्ण सुरक्षा है।

लेकिन इस समय इन्हें आप मत छेड़िये, ठीक पौने दस बजे ये उठ कर चल देंगे यहाँ से। शाम को फिर आवेंगे, तब जम कर 'गलबजई' होगी।

और दूसरी उन मेजों पर जो लोग बैठे खूब 'चख-चख' कर रहे हैं, आप इनसे अपरिचित हैं तो क्या हुआ! इनके पास बिना परिचित हुए ही आप बैठ सकते हैं। अगर आप इनके पास खुद पहुँच जायें तो इन्हें हार्दिक प्रसन्नता होगी। अपरिचितों से मित्रता ही इनके व्यापार को तरक्की देने वाला मन्त्र है। समझे आप, वे कौन हैं? बीमा एजेन्ट हैं, सभी। ऐसा भाईचारा एक हम पेशावरों में कम ही देखने को मिलेगा। लेकिन यह भी ग्यारह बजते न बजते चले जायँगे—अपने-अपने असामियों को फाँसने या दफ्तर में अपनी एजेन्सी के बिल के भुगतान के चक्कर में।

और ग्यारह बजे के बाद शुरू होती है मिली-जुली, रंग-बिरंगी भीड़।

कालेज के क्लासों में रस न पाने वाले विद्यार्थी, आफिस 'कट' करने वाले बाबू लोग, अपने दफ्तरों से 'काम से' निकले लोग, जो एक-दो-घंटा यहाँ 'काम' के नाम पर बिता देंगे। अखबार के दफ्तर के पत्रकारगण, अभी सोकर उठे हैं, और मुँह धोकर सीधे यहाँ चले आ रहे हैं। और सफेद लम्बे कुर्ते पहने ये जो एक-एक करके आ रहे हैं और हर मेज पर छितरा कर बैठते जा रहे हैं, ये राज-नीतिक कार्यकर्ता हैं—मध्यम श्रेणी के, हर पार्टी के हैं। काफी-हाउस के भीतर राजनीतिक विचारों की ही बात रहती हैं, किस पार्टी के हैं, इससे मतलब नहीं। साथ बैठते हैं और अपने-अपने सिद्धान्तों को पकड़े बहसें करते हैं तथा एक-दूसरे को मूर्ख समझते हैं। और ये जो पुराने सूट पहने लोग अब आने शुरू हुए है—ये हैं डिगरी कालेजों व विश्वविद्यालय के अध्यापकगण, जिनके क्लास १२—१ बजे तक खत्म हो जाते हैं।

अब पूरा समाँ बँध गया। हाँ, आप भी जोर से बोलिए। इस शोर में धीरे से बोलने से काम नहीं चलेगा।

और दो बजते-बजते भीड़ छँटने लगेगी—शोर थमने लगेगा। लेकिन यह सन्नाटा थोड़े ही क्षणों के लिए तो है। अब देखिए—थके-माँदे वकीलगण जैसे-जैसे छुट्टी पाते हैं, आने लगे हैं। थके से, उदास, साथ के मुवक्किल भी उदास। शायद वे 'केस' हारे हैं। अब 'दोसा' खाकर थकान व पराजय भूलेंगे। और जो बाहर से ही कानूनी बहस करते तेज कदम बढ़े आ रहे हैं और दो-तीन पीछे भागते मुवक्किल साथ में हैं—शायद आज की तारीख के विजयी वकील साहब

हैं। ये 'आमलेट' खायेंगे, क्रीम वाली काफी पियेंगे। ये सभी शाम को फिर आयेंगे, तभी बातें होंगी। अभी हम लोग इधर ही बैठें। तीन चार मेजों को मिला कर पन्द्रह-बीस कुर्सियाँ इकट्ठी लगा कर जो यह मजमा-सा लगा है, वे एक प्रसिद्ध शायर हैं और उनको घेर कर उनके प्रसंशक व चेले बैठे हैं। आप चाहे अपरिचित भी हों, पर उनमें शामिल हो जाइए। आप वहाँ न खुद बेगाने लगेंगे न दूसरे सभी। चालू साहित्य व शायरी के कुछ फारमूले व नुस्खे आप इनसे याद कर लें तो अपनों में आप रोब भी जमा सकते हैं। यहाँ किसी बात पर किसी का 'कापीराइट' नहीं है। बस आप किसी को यहाँ भूल कर भी 'लघु' मत मानिए, बस।

और अब आकर शाम तक के लिए जमना शुरू हो गये हैं नई उम्र के राजनीतिक। कुछ तो उत्साह से भरे, जो आज भी किसी न किसी पार्टी के वफादार कार्यकर्ता हैं, जरा जोर से बोलते हैं। कुछ गम्भीर बने-से, तौल-तौल कर शब्दों का उच्चारण करते हैं और सिगरेट सबों से ज्यादा फूँकते हैं, उनका किसी पार्टी से अब संबंध नहीं हैं। 'अपनी' पार्टी से 'निकल' चुके हैं, जैसे अपना घर छोड चुके हैं। थोड़े 'फ्रस्ट्रेटेड भी हैं। पर राजनीति एक नशा है। अभी उतरा नहीं, इसी से⋯लागी नाहीं छूटे रामा, चाहे जिया जाय⋯⋯

ये राजनीतिक अपने आगे किसी को बुद्धिमान नहीं समझते। केवल वक्त का इन्तजार है, जब ये क्या न कर दिखाएँगे! इनसे कोशिश कर के हेल-मेल बढ़ाइये। वक्त पर छोटा-मोटा काम भी निकाला जा सकता है। पर किसी पार्टी में शामिल भर मत हो जाइएगा, अन्यथा यह प्रेम-भाव भी गायब। कहीं भूल से यदि आप किसी पार्टी में शामिल हो गये, तब प्रतिस्पर्द्धा और कम्पटीशन में आप की मिट्टी खराब हो जाएगी। अतः इस दिशा में पूरी सतर्कता बरतिएगा।

अब शाम हो गयी। बस तीन-चार घंटे का मेला और है। पर अब ही तो पूरा मजा आयेगा।

अब आ-आकर पूरी मेजें भर लेगें ये लोग—प्रकाशन-गृहों, रेडियो स्टेशन, अखबार में दफ्तरों व ए० जी० आफिस में काम करने वाले या अध्यापन का पेशा करने वाले व लेखक, कवि, कलाकार बनने वाले लोग।

इनके साथ जरा और ज्यादा सतर्कता की दरकार है। देखिये, सभी एक जगह नहीं बैठ सकते। इनके बड़े पक्के दल हैं। अलग-अलग ही बैठेंगे। लेकिन

आप किसी दल की मेज पर भी जा कर स्वागत पा सकते हैं। बस हर एक के नाम के साथ 'जी' लगा कर बोलिये। चाहे ऊपर से ही, पर आदर दिखाइये। ये बेचारे बस आदर-सम्मान के भूखे हैं। नहीं तो अगर कहीं आपने धोखे से भी तनिक असम्मान व बराबरी की बात कर दी तो फिर खुदा ही आपकी खैर करे। वे यही कहेंगे—'अकबर, विक्रमादित्य को कौन पूछता है आज ? पर तुलसीदास, कालिदास आज भी जीवित हैं—हम उन्हीं की बिरादरी के हैं। समझे ?

हाँ, एक सतर्कता और बरतियेगा। वह जो सभी लोग सिगरेट फूंक रहे हैं, क्रीम मिली 'स्पेशल' काफी पी रहे हैं, वे लोग प्रगतिशील लेखक हैं। वहाँ उर्दू भाषा के विरोध में कुछ न बोलियेगा, वहाँ पुराने लोगों की तारीफ भी मत कर बैठियेगा। नयी व कम छपने वाली अप्रसिद्ध पत्रिकाओं से कुछ लेखकों के नाम याद करके केवल उन्हीं की चर्चा कीजिये। अधिकांश उसी में से हैं वे।

और वह दल, जहाँ भीड़ जरा अधिक है, वहाँ आपको केवल इतनी सतर्कता बरतनी है कि बातचीत के दौरान किसी तरह भी निराला, पंत व महादेवी का नाम न आये। बस, इन्हीं तीन नामों पर वहाँ झगड़े की सम्भावना है। इन्हीं तीन नामों से वहाँ परहेज है। बाकी हर बात वहाँ ग्राह्य व स्वीकार्य है। ये लोग अधिकांश विश्वविद्यालय के नये प्रोफेसरान हैं। भविष्य इन्हीं के हाथों में है न, ऐसा ही आप अपनी बातचीत में प्रकट कीजियेगा। ये यदि मान लेंगे तो बिना कुछ लिखे-पढ़े ही आप निराला, पंत, महादेवी से बड़े हो जायेंगे। हाँ, एक राज की बात बताता हूँ, किसी से कहिएगा मत, बस आप ही लाभ उठाइयेगा—ये लोग जितने महान घोषित लेखक हैं, उस अनुपात में लिखते बहुत ही कम हैं। कुछ खास पत्रिकाओं में ही इनकी रचनायें यदा-कदा छप जाती हैं। सो आप सभी पत्रिकाएं देखते रहिये, इनकी रचनाएँ देखिये तो चाहे न भी पढ़ें पर इनके मुँह पर इनके लेखों की तारीफ अवश्य कर दीजिये......आप की पूर्ण सुरक्षा बनी रहेगी।

और वह जो तीसरी मेज है, बिल्कुल नये-नये छोकरे जैसे लोग है—वे भी लेखक ही हैं—नये। वहाँ तो जाकर आप एकबारगी हर नये-पुराने लेखक को गालियाँ (जरा मोटी गालियाँ) दीजिये। कह दीजिये, साहित्य में आज तक किसी ने कुछ नहीं किया। बस, वे सभी प्रसन्न ही नहीं होंगे, आप से अधिक सभी को कोसेंगे और आप से मित्रता गाँठेंगे।

हाँ, उधर देखिये, वहाँ भी कुछ लोग हैं। वे व्यापारीगण हैं। दिन भर की थकान मिटाने आये हैं। वे विशुद्ध परमिट और लाइसेंस व नयी फैक्ट्री बैठाने की बात करेंगे। दबी ज़ुबान सरकारी करों और नये-नये सरकारी प्रतिबन्धों की आलोचना भी करेंगे। लेकिन छोड़िये, वहाँ आपका मन न लगेगा।

हाँ, एक बात तो बताना भूल ही गया। लेखकों के हर ग्रुप में एकाध प्रकाशक भी होते हैं। शक्ल-सूरत में कोई भिन्नता नहीं, अतः आप उन्हें अलग नहीं कर सकते। सो वहाँ लेखक-प्रकाशक-प्रसंग भूल कर भी मत छेड़ दीजियेगा, नहीं तो दोनों एक होकर आप पर चढ़ बैठेंगे।

देखिए, सब मैंने समझा दिया। हर बात से खूब सतर्क भी कर दिया है आपको। कभी-कभी बहुत कड़वी, बेपर की और असत्य चर्चा भी यहाँ स्वाभाविक रूप में होती रहती है। आप को कभी-कभी लगेगा, जैसे ये सब दिमागी बीमार लोग हैं, पर आप से क्या मतलब ! आप चुप रहियेगा और अगर जेब में पैसे हों, तो सबों के लिये एक-एक साधारण काफी मँगा दीजियेगा। बस, आप बैठे मजा लेते रहियेगा।

हाँ, अगर आप भी नियमित रूप से काफी-हाउस आने का निश्चय करें, तो आइये, ठाठ से आइये, पर काफी-हाउस के पाँच-सूत्री अलिखित, अघोषित नियम हैं, उन्हें जान लीजिये, याद कर लीजिये। बताये देता हूँ—

१—काफी-हाउस को पार्लियामेंट व एसेम्बली के अपर व लोअर हाउस से भी बड़ा हाउस मानिये।

२—यहाँ भी हाउस का एक स्पीकर होता है। उसका चुनाव आप स्वयं ही कर लें। हर का अपना अलग-अलग स्पीकर है। हाँ, स्पीकर की योग्यता का ध्यान रखियेगा—जो सबसे ज्यादा अधिकारपूर्वक गैर-जिम्मेदारी की बात कर सके, वही इस पद के योग्य होता है।

३—यहाँ किसी भी विषय पर बहस शुरू कर सकते हैं। और बहस में हार-जीत का निश्चय आप की योग्यता व आप की हठधर्मी पर निर्भर है। आप यदि खुल कर समझाने की हिम्मत रखते हों, तो कह सकते हैं कि भारत को आजादी सन् १९४७ में नहीं १९३६ में मिली थी। बस बात है कि आप अपने तर्क पर कितनी देर तक दृढ़ता से अड़े रह सकते हैं।

४—यहाँ जो भी बहस कीजिये, उसके पक्ष, प्रमाण व सुबूत के लिये किसी मुद्रित वस्तु का सहारा मत लीजिये। अपने तर्क के सहारे के लिये कोई किताब या अखबार दिखाना यहाँ 'फाउल प्रैक्टिस' मानी जाती है।

५—काफी-हाउस की बातें, यहाँ की बहस, कटुता, मित्रता, लड़ाई-झगड़ा सब उठते वक्त यहीं झाड़ जाइये। बाहर इनकी चर्चा भी पाप है।

बस यही पाँच प्रमुख नियम हैं जिनका ध्यान रखिएगा।

हाँ, अब मैं चलूँगा। जरा काम है। दिन भर आपके ही साथ रह गया आज ! जरा चल कर कहीं से कुछ 'प्राप्ति' का प्रबन्ध करलूँ, ताकि कल का दिन काट सकूँ। मैं भी तो इस शहर का एक छोटा-मोटा लेखक और इन्टलेक्चुअल हूँ न !

अच्छा चलूँ। सब तो समझा दिया न ! और फिर चिन्ता किस बात की ? काफी-हाउस सब को अपने अनुकूल बना ही लेता है। यही तो इसकी विशेषता है।

यह एक क्लब है, समझिये आधुनिक क्लब। यहाँ न तो किसी सदस्यता की दरकार है, न किसी कानून को मानने की पाबन्दी। केवल कुछ जरूरी शर्तें पूरी करते रहें, जैसा मैंने आप को बताया, उन्हीं बातों का ध्यान रखिएगा, बस।

आप चाहे बेकार हों, सफेद कुरता पहनिये, थोड़ा गंदा भी सही। राजनीति व साहित्य का अखबारी ज्ञान भर रखिये, बस, काम चल जायेगा। शब्दावली तो आप अपने आप सीख जाएँगे।

ऐसा अनोखा क्लब, ऐसा अड्डा, क्या कभी बनाये बनता है ? अपने आप ही बन जाता है। जहाँ सभी 'शरीफ' ही मिलते हैं—सभी पक्के अड्डेबाज।

बस अंत में कहे जाता हूँ—

इलाहाबाद में बसिये, कम बोलिए और काफी-हाउस को गिरजाघर मानिये, बस जिन्दगी ठाठ से कट जायेगी।

अच्छा अब चलूँगा।

नमस्कार ! नमस्कार ! आप बैठिए...बैठिए......

[सन् १९६३]

ग़ालिब

पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है
कोई बतलाओ कि हम बतलायें क्या ?

अपने ऊपर जब प्रश्नों की असह्य वर्षा हुई तो ग़ालिब ने बहुत खीझ कर यह शेर कहा था ।

'ग़ालिब कौन है !'
'ग़ालिब बहुत मुश्किल कहता है ।'
'ग़ालिब अदब को बरबाद कर रहा है ।'
'ग़ालिब आखिर क्यों लिखता है ?'

किसे ग़ालिब क्या उत्तर देते ! उपर्युक्त शेर कह कर चुप रहे । तभी उस समय के महाकवि मीर तकी ने भविष्यवाणी की थी—'अगर इसे कोई काबिल उस्ताद मिल गया और उसने इसे सीधे रास्ते पर डाल दिया तो यह लाजवाब शायर बनेगा, वरना मोहमल (अर्थहीन) ही बकने लगेगा ।'

ग़ालिब का एक शेर ही इसका उत्तर है—

'हैं और भी दुनिया में सुख़नवर बहुत अच्छे,
कहते हैं कि ग़ालिब का है अंदाजे बयाँ और !'

ग़ालिब को अपनी शायरी के कारण जिन्दगी भर तारीफ़ बहुत कम और गालियाँ बहुत अधिक खानी पड़ी। मुशायरों में उनका अपमान तो एक मामूली सी बात थी। परम्पराओं से विद्रोह करके और पुरानी डगर से हट कर बात कहने का उनका अपना ढंग था। जिसे उस समय के शायर, आलोचक और जनता कोई पसन्द न करता था। इसी से ग़ालिब को पग-पग पर यह अपमान सहना पड़ा। लेकिन ग़ालिब को अपनी स्थिति का पूरा ज्ञान था। वे जानते थे कि कभी न कभी वह समय आयेगा जब लोग उनको और उनकी कविता को समझेंगे और वह समय आया भी जब उनका 'दीवान' उर्दू साहित्य का सरताज बन गया। ग़ालिब ने कहा है—

'ये मसायले तसब्बुफ़, ये तेरा बयान ग़ालिब
तुझे हम वली समझते गर न बादहख्वार होता।'

ग़ालिब के बारे में शायद इससे बड़ी बात नहीं कही जा सकती। उनका स्थान उर्दू साहित्य में एक साहित्यिक 'वली' का तो है ही, लेकिन बादहख्वार होने के कारण वे अपने को 'वली' नहीं कहते। इसीलिये जीवन भर उनके साथ लोगों ने वही व्यवहार किया जो हर युग में हर वली के साथ हुआ है। समय ने उनकी हस्ती मिटा देने के लिये क्या कुछ न उठा रखा, लेकिन वे तो अपने रूप से दुनिया को कुछ न कुछ अमरत्व ही प्रदान करते आये थे।

मिर्जा ग़ालिब का महत्व उनके अपने युग में तो जो भी रहा हो पर आज के प्रगतिवादी युग में भी उनकी महानता स्वीकार की जा रही है।

उर्दू शायरों में महाकवि मीर को छोड़ कर आज तक किसी शायर को ग़ालिब-सी लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी, बल्कि अगर कहा जाय तो गलत न होगा कि 'दीवान ग़ालिब' काव्य-प्रेमियों के लिये धार्मिक पुस्तक का स्थान ले चुका है। दीवान ग़ालिब के अब तक कितने संस्करण छप चुके हैं इसका कोई हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

ग़ालिब का पूरा नाम था असदउल्ला खाँ गालिब। इनके दो उपनाम थे-जीवन के प्रारम्भिक दिनों में 'असद' फिर 'ग़ालिब'। इनका जन्म २७ दिसम्बर १७९७ को

आगरे में हुआ था। अपने पूर्वजों और वंश के बारे में मिर्ज़ा ने एक जगह खुद लिखा है, 'असदउल्ला खाँ उर्फ 'मिर्जा नौशा,' 'ग़ालिब' तखुल्लुस, कौम तुर्क, सलजूकी सुल्तान बरकियारुक सलजूकी की औलाद में से, उसका दादा क़ौक़ान बेग खाँ, शाहआलम के अह्द में समरकन्द से दिल्ली में आया। पचास घोड़े और नक्कारा-निशान से बादशाह का नौकर हुआ। पहासू का परगना, जो समरू बेगम को सरकार से मिला था उसकी जायदाद में मुकर्रर था। बाप असदउल्ला खाँ मज़कूर का अब्दुल्ला बेग खाँ दिल्ली की रियासत छोड़ कर अकबराबाद (आगरा) में जा रहा। असदउल्ला खाँ अकबराबाद में पैदा हुआ।'

ग़ालिब की शादी दिल्ली में हुई थी। इसलिए दिल्ली वाले उन्हें 'मिर्ज़ा नौशा' कहते थे और अन्तिम बादशाह बहादुरशाह की ओर से उन्हें नज़मुद्दौला, दबीरुलमुल्क, निजानेजंग की उपाधियाँ मिली थीं। मिर्ज़ा की ननिहाल आगरे में थी, इनकी माता काफ़ी पढ़ी-लिखी महिला थीं और नाना मिर्ज़ा गुलाम हुसैन एक फ़ौजी अफसर और आगरे के बहुत बड़े रईस थे। मिर्ज़ा ने एक जगह लिखा है, 'हमारी बड़ी हवेली वह है जो अब लखीचन्द सेठ ने खरीद ली है। उसी के दरवाजे की संगीन बारादरी पर मेरी नशिस्त थी और पास उसके एक "खटिया वाली हवेली' और सलीमशाह के तकिये के पास एक दूसरी हवेली और काले महल से लगी हुई एक और हवेली और उससे आगे बढ़ कर एक कटरा जो 'गड़रियों वाला' मशहूर था, एक और कटरा जो 'कशमीरन वाला' कहलाता था, इस कटरे के एक कोने पर मैं पतंग उड़ाता था और राजा बलवान सिंह से पतंग लड़ा करते थे।'

यही बड़ी हवेली जिसका उपर जिक्र है अब भी पीपलमंडी आगरा में है। इसी का नाम काला महल है; बहुत आलीशान इमारत है। किसी ज़माने में यह राजा गर्जसिंह की हवेली कहलाती थी जो जोधपुर के राजा सूरजसिंह के बेटे थे और जहाँगीरी ज़माने में यहाँ रहते थे।

ऐसा अनुमान है कि मिर्ज़ा इसी मकान में पैदा हुए होंगे क्योंकि मिर्ज़ा के पिता ससुराल में घर-जमाई बन कर रहते थे।

पिता के देहान्त के समय मिर्ज़ा की आयु पाँच बरस की थी। वह अपने चाचा नसीरउल्ला बेग की छत्रछाया में रहने लगे, किन्तु चार बरस बाद ही हाथी पर से गिर कर चाचा भी मर गये। अब स्थायी रूप से मिर्ज़ा को ननिहाल में रहना पड़ा। पिता की मृत्यु के बाद अलवर राज्य की ओर से

'मिर्ज़ा और उनके भाई को दो गाँव और कुछ मासिक पेंशन भी बँधी।

मिर्ज़ा के चाचा को अंग्रेजी राज्य की ओर से आगरा जिला में ही दो गाँव मिले थे और उनके मरने के बाद सरकार की ओर से इन लोगों को साढ़े सात सौ रुपया सालाना पेंशन मिलती रही जो १८५७ के गदर तक जारी रही। मिर्ज़ा का बचपन आगरे में बीता। फ़ारसी, अरबी की प्रारम्भिक शिक्षा तो आगरे में हुई, लेकिन इसका पूरा ब्यौरा कहीं नहीं मिलता। लगता है ढंग से पढ़ाई-लिखाई नहीं हुई होगी, लेकिन मिर्ज़ा ने जैसे भी हो, हर विषय पर ज्ञान अर्जित किया होगा क्योंकि उनकी रचनाओं में ज्योतिष, तर्क, दर्शन, संगीत, नक्षत्र विज्ञान, पदार्थ विज्ञान आदि हर विषय की असंख्य परिभाषायें मिलती हैं। कहा जाता है कि मिर्ज़ा को प्रारम्भिक दिनों में प्रसिद्ध उर्दू शायर नज़ीर अकबराबादी ने भी थोड़े दिन पढ़ाया था। दस-ग्यारह वर्ष की आयु में ही वे शेर कहने लग गये थे।

जब मिर्ज़ा की उम्र १४ वर्ष की हुई तब उन्हें फ़ारसी का एक बहुत बड़ा पंडित शिक्षक के रूप में मिल गया। मिर्ज़ा के इस शिक्षक का पारसी नाम हुरमुज़ था जो इस्लाम धर्म ग्रहण करने के बाद मुल्ला अब्दुल समद के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। मिर्ज़ा ने उनसे दो वर्ष तक फ़ारसी पढ़ी। मिर्ज़ा का झुकाव शुरू से ही फ़ारसी की ओर था। अतएव अपने इन गुरु से उन्होंने बहुत कुछ सीखा। अपने गुरु पर मिर्ज़ा को बड़ा गर्व था क्योंकि उनकी शिक्षा ने ही मिर्ज़ा को फ़ारसी का ऐसा पंडित बना दिया था कि वह ईरानियों की भाँति फ़ारसी बोल और लिख सकते थे।

९ अगस्त १८१० में १३ वर्ष की उम्र में मिर्ज़ा का विवाह दिल्ली के प्रसिद्ध शायर और नवाब लुहारू के छोटे भाई नवाब इलाहीबख्श खाँ मारूफ़ की बेटी उमराव बेग़म से हुआ। ये मिर्ज़ा से दो साल छोटी थीं। यों तो मिर्ज़ा बराबर आगरे से दिल्ली आते-जाते रहते थे पर शादी के दो-तीन साल बाद स्थायी रूप से दिल्ली बस गये। एक जगह मिर्ज़ा ने खुद लिखा है कि 'सात रजब बारह सौ पचीस[१] को मेरे वास्ते हुक्मे-वामेहब्स[२] सादिर हुआ। एक बेड़ी[३] मेरे पाँव में डाल दी और दिल्ली शहर को ज़िन्दान[४] मुक़र्रर किया और मुझे उस ज़िन्दान में डाल दिया।'

१. ९ अगस्त १८१०
२. स्थायी क़ैद का हुक्म।
३. बेड़ी का अर्थ यहाँ बीबी से है।
४. क़ैदखाना।

शेरो-शायरी का चस्का पहले से था ही, दिल्ली का वातावरण सोने में सुगन्ध के काम आया। उनकी शायरी गूँज उठी। मुशायरों की धूम तो थी ही, फिर मिर्ज़ा के हृदय में शायरी की जो उमंग उठती थी वह बहुत ताकतवर होती थी।

इतिहासकारों में इस बात का झगड़ा है कि मिर्ज़ा ने पहले फ़ारसी में लिखना शुरू किया या उर्दू में।

लेकिन फ़ारसी भाषा पर मिर्ज़ा को जो अधिकार प्राप्त था उससे यही अनुमान होता है कि उन्होंने पहले फ़ारसी में शेर कहे होंगे। इस विचार की पुष्टि मिर्ज़ा के आरम्भ के उर्दू कलाम को देख कर भी होती है जिसमें फ़ारसी शब्दों की इतनी भरमार है कि केवल एक शब्द बदल देने से वे फ़ारसी बन जाते हैं। इसी प्रकार उनकी प्रारम्भिक शायरी भाषा की दृष्टि से तो कठिन है ही, भाव की दृष्टि से भी वह बड़ी क्लिष्ट है। इसका मुख्य कारण यह है कि ग़ालिब ने उर्दू शायरी में प्रसिद्ध फ़ारसी कवि 'बेदिल' का रंग अपनाया, जो सीधी बात को भी बहुत घुमा-फिरा कर कहने और विचित्र-विचित्र उपमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इसका फल यह हुआ कि मिर्ज़ा भी सीधी-सादी बात को विचित्र उपमाओं और कठिन शब्दों में कहने का प्रयास करने लगे। कभी-कभी मिर्ज़ा इस प्रयास में सफल भी हो जाते थे और शेर में नई बात पैदा हो जाती थी। लेकिन अधिकाश शेर नीरस और कभी-कभी तो बिलकुल ही बेमानी हो जाते।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने शायरी में किसी को अपना उस्ताद ही नहीं बनाया। स्वयं अपने गुण-दोषों की विवेचना करते रहे और अपने लिये रास्ता खोजते रहे। इसी खोज ने उन्हें रहस्यवादी कवि बनने से बचा लिया और वह भाषा तथा भाव की सरलता की ओर खिंच आये। उनकी प्रतिभा ग़ज़ब की थी और उनकी योग्यता अद्वितीय थी। अतएव उनकी कल्पना की उड़ान वैसी ही ऊँची रही। साथ ही भाषा की सरलता के कारण साधारण लोग भी उनकी शायरी समझने लगे।

मिर्ज़ा के समकालीन कवियों और विद्वानों में 'ज़ौक़' 'मोमिन', 'नसीर' मौलाना 'आजुर्दा', नवाब 'शेफ़्ता', नबी बख्श 'हक़ीर', मौलवी इमाम बख्श सहबाई और मौलवी फ़ज़ल हक़ खैरावादी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मिर्ज़ा बड़े उदार चित्त और बड़े विनम्र स्वभाव के आदमी थे, फिर भी कुछ लोगों से उनकी खूब नोंक-झोंक रहती थी। कुछ इससे कि मिर्ज़ा हिन्दुस्तान में

अमीर खुसरो और 'फ़ैजी' के अतिरिक्त किसी फ़ारसी कवि की सहायता स्वीकार न करते थे और कुछ इस कारण कि उनकी शायरी बड़ी कठिन होती थी। कुछ लोग, जिनमें मौलाना आज़ुर्दा और ज़ौक़ तथा उनके शिष्य भी शामिल थे, मिर्ज़ा की शायरी की बहुधा हँसी उड़ाया करते थे। मिर्ज़ा ने उन लोगों को कई जगह जबाब दिया है। एक जगह कहते हैं :

न सतायश की तमन्ना न सिले की परवा
न सही गर मेरे अशआर में मानी न सही

एक और जगह आपत्ति करने वालों की नासमझी का इस प्रकार वर्णन करते हैं :

मुश्किल है जबस कलाम मेरा ए दिल
सुन सुनके उसे सुखनवराने कामिल
आसाँ कहने की करते हैं फरमायश
गोयम मुश्किल वगर न गोयम मुश्किल

अंतिम पंक्ति का एक अर्थ तो यह है कि मैं शेर कहता हूँ तो लोग उसे मुश्किल बताते हैं और मुश्किल नहीं कहता यानी आसान कहता हूँ तो मुश्किल है, क्योंकि यह मेरी तबीयत के खिलाफ है। दूसरा मतलब यह है कि इस विषय में साफ़-साफ़ कहूँ तो आपत्ति करने वालों की मूढ़ता प्रकट करनी पड़ती है, यह भी मेरे स्वभाव तथा शिष्टता के खिलाफ है। और साफ़-साफ़ बात नहीं कहता तो अपने ऊपर इलज़ाम आता है। हर हाल में मुश्किल है।

मिर्ज़ा ने एक बार एक सरल शेर सुनाया :

लाखों लगाव एक चुराना निगाह का,
लाखों बनाव एक बिगड़ना अताब में।

यह शेर जितना सरल है उतना ही ऊँचा भी है। मौलाना आज़ुर्दा ने तारीफ तो की किन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि इसमें मिर्ज़ा की क्या खूबी है, यह तो हमारी तर्ज़ का शेर है, यानी ऐसे सरल शेर तो हम लोग कहते हैं। कभी-कभी लोग मुशायरों में खुल्लम-खुल्ला भी चोट किया करते थे। वे ऐसे शेर लिख कर लाते और मुशायरों में सुनाते जिनमें अरबी-फ़ारसी के क्लिष्ट शब्द तो खूब होते किन्तु अर्थ कुछ न होता। ऐसे शेरों के दूसरे लोग यह कह कर दाद देते कि मिर्ज़ा ग़ालिब के रंग में क्या खूब शेर कहा है। एक बार

हकीम आग़ा जान ने एक मुशायरे में मिर्ज़ा को सम्बोधित करके यह कता (चौपदा) पढ़ा :

अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे।
मजा कहने का जब है एक कहे और दूसरा समझे।
कलामे-मीर[1] समझे और ज़बाने मीरज़ा[2] समझे।
मगर इनका कहा आप समझें या खुदा समझे।

परन्तु मिर्ज़ा ग़ालिब ने कभी इन लोगों की कोई ख़ास परवाह नहीं की। वह इसे अपना दोष न समझते थे वरन उन लोगों का कुसूर समझते थे जो उनकी ऊँची शायरी को समझ न पाते थे। आखिर एक बार बहुत झुँझला कर उन्होंने फ़ारसी के अपने विरोधियों से साफ़ कह दिया कि तुम्हें जिस उर्दू शायरी पर नाज़ है मैं उस भाषा में शेर कहना अपने लिए शर्म की बात समझूँ। वास्तव में मिर्जा को अपनी फ़ारसी शायरी पर नाज़ था। वह कभी किसी उर्दू शायर से अपना मुकाबला न करते थे, लेकिन अपने उर्दू कलाम को भी किसी के कलाम से नीचा न समझते थे। २५ वर्ष की आयु तक उनका झुकाव मुश्किल शायरी की ओर रहा लेकिन जब मिर्जा को अपनी भूल का अनुभव हुआ तो वह उर्दू की ओर झुके। जिस उर्दू को वह अपनी शायरी के लिए अयोग्य समझते थे, उसी उर्दू भाषा को उन्होंने अपनी शायरी का माध्यम बनाया। मिर्जा गालिब ने ऐसा क्यों किया ? या वह ऐसे करने के लिए क्यों मजबूर हुए ? बात सरल सी है। मिर्ज़ा की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा उर्दू नहीं फ़ारसी में हुई थी। फ़ारसी भाषा और साहित्य पर उन्हें पूरा अधिकार प्राप्त हो गया था, इसलिए वह फ़ारसी में शायरी करने में सरलता अनुभव करते थे। दूसरी बात यह थी कि मिर्ज़ा शब्दों को, वाक्यों को बहुत महत्व देते थे। फ़ारसी के शब्दों और वाक्यों में जो प्रांजलता थी, जो परिमार्जन था, जो अर्थ गाम्भीर्य था वह नवनिर्मित उर्दू भाषा में न था। फ़ारसी बन चुकी थी। उसका उत्कृष्ट रूप सामने आ चुका था। उर्दू का परिमार्जन हो रहा था, वह बन-सँवर रही थी, उसका उत्कृष्ट रूप अभी सामने आने को था। तीसरी बात यह थी कि मिर्ज़ा अब तक अपनी जनता, अपने श्रोताओं तथा पाठकों से अधिक स्वयं अपने मानसिक और आध्यात्मिक संतोष के लिए प्रयत्नशील थे। जब, बाद के दिनों में उनकी चेतना बदली और वैचारिक परिपक्वता के साथ सामाजिक कर्तव्यों और

१—मीर तक़ी मीर। २—मिर्जा सौदा।

जिम्मेदारियों के प्रति उनकी जागरूकता बढ़ी तो उन्होंने उर्दू का माध्यम अपनाना शुरू किया और उनके द्वारा तिरस्कृत उर्दू उन्हीं के हाथों से सज-बज कर शोख, सुन्दर, आकर्षक, ओजपूर्ण, अति परिष्कृत और जानदार भाषा बन गयी। मिर्ज़ा का सम्पर्क प्राप्त कर उर्दू भाषा और साहित्य का पुनर्जन्म-सा हो गया।

मिर्ज़ा ग़ालिब कई दृष्टियों से विद्रोही तथा स्वतन्त्र बुद्धि के कवि थे। उन्होंने गज़ल की पुरानी सर्व स्वीकृत परम्परा को तोड़ा। उन्होंने मतला और मकता के बन्धनों से अपने को मुक्त किया। उन्होंने इसकी भी परवाह न की कि उनकी गज़लों में कितने शेर हैं, जहाँ जैसा जब भी रुचा मिर्ज़ा ने कर लिया, उस समय गजलों को दीवान में शामिल करते समय काटने-छाँटने या छोड़ देने की प्रथा न थी। शेरों को 'लख्ते-ज़िगर' कहा जाता था। भला कोई अपने कलेजे के टुकड़े को कैसे काट देता! मगर मिर्जा अच्छे गुलदस्ते को सजाने के लिये ख़राब सड़े-गले फूलों को उठा कर फेंक सकते थे। मिर्जा ने ऐसा करके अपूर्व हिम्मत का परिचय दिया। इसीलिए उनके दीवान में लग्व या ओछे और क़मजोर शेरों को ढूंढ पाना मुश्किल है। मिर्ज़ा ने गज़लों की विषय वस्तु को भी बदल दिया। आशिक़-माशूकों के आपसी झगड़ों, गिलाशिकवों, विरह-वियोग के रोने-धोने की सीमा से हट कर मिर्ज़ा जीवन की गहराइयों में उतरे, तात्विक बातों की ओर दृष्टि डाली, मूलभूत संवेदनाओं को मुखर किया और आगे आने वाली पीढ़ी को नये भाव, नये विचार, नयी प्रेरणा और नयी दृष्टि दी। मिर्ज़ा ने उर्दू शब्दावली को नयी शोखी, चुलबुलापन, बाँकपन और पुष्टता प्रदान की। भाव-भाषा का ऐसा सुन्दर संगम अन्यत्र कहाँ मिलेगा? मिर्जा ने अपने माशूक को ईश्वरता प्रदान की। भारतेन्दु के 'नखरा राह-राह को नीको' की गूँज इसलिए हमें मिर्ज़ा ग़ालिब के शेरों में अक्सर यहाँ-वहाँ सुनायी दे जाती है।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपने साहित्य में सामाजिक और राजनीतिक चेतना को उतनी प्रधानता न दी जितनी प्रधानता उन्होंने व्यक्ति जनित पीड़ा, कुण्ठा, वेदना और सहानुभूति को दी। इसके अनेक कारण थे। मगर ग़ालिब पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उनमें जातीय अथवा राष्ट्रीय स्वाभिमान की कमी थी या वह सामाजिक चेतना की उपेक्षा करते थे। हाँ, यह सही है कि उनकी संवेदना बहुत अंशों में व्यक्ति-परक थी, समाज-परक नहीं। यही उनकी कमजोरी थी और शायद यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति भी थी। सूरदास की 'ऊधो मन नाहीं दस बीस' की भाव-

धारा व्यक्ति-परक है परन्तु वह हमारे हृदय के मूलभूत भावों का प्रतिबिम्ब भी है। इसी तरह ग़ालिब की——

'इब्ने मरियम हुआ करे कोई, मेरे दुख की दवा करे कोई'

उसी असीम वेदना और पीड़ा की परिचायक है, जिसने गोपियों को ऊधो की ज्ञान-चर्चा की उपेक्षा करने की शक्ति दी थी। मिर्ज़ा ग़ालिब के साहित्य में दार्शनिक अभिव्यक्तियों से अधिक यदि हमें संवेदन-शीलता, सहानुभूति और दुख-कातरता मिलती है तो हमें इस पर संतोष करना चाहिए, क्योंकि आदि कवि बालमीकि से लेकर आज तक कवि-परम्परा आँसुओं से भीगी चलती रही है, मात्र ज्ञान के प्रकाश में उसने अपना पंथ नही निहारा है।

करुणा मानव स्वभाव की मानवीयता की सबसे बड़ी गारण्टी है और मिर्ज़ा गालिब की करुणा आज भी हमारी पलकों को भिगो देती है क्योंकि यह करुणा मिर्जा ग़ालिब के हृदय की पुकार है, ऐसी पुकार जिसकी प्रतिध्वनियाँ हृदय-हृदय में, कठ-कंठ में सुनायी देती हैं। इसी करुणा के सहारे मिर्ज़ा ग़ालिब सचमुच 'लाजवाब शायर' हो गये और महाकवि 'मीर' की भविष्ववाणी सत्य साबित हुई।

ग़ालिब की कविता उनकी निर्धनता की देन थी। आगरे से दिल्ली आने पर, आने वाले हर दिन उनके लिए गरीब बन कर आते थे। कहाँ ती दिल्ली का अपना रंग, ससुराल का जीवन और गरीबी की मार। इस कशमकश में उनकी शायरी जन्म लेती।

बात यह थी कि पेन्शन के रुपये नियमपूर्वक नहीं मिलते थे। १८३९ में अलवर की पेंशन बन्द हो गयी और १८५७ में गदर के समय अंग्रेजों की। इसी बीच मिर्ज़ा के छोटे भाई मिर्ज़ा यूसुफ २८ साल की उम्र में पागल हो गये। कहाँ तो ग़ालिब का शायराना दिल और कहाँ ये संसारी चोटें। पेंशन का झगड़ा सुलझाने की उन्होंने हरचन्द कोशिश की और विवश होकर गवर्नर की कौंसिल में अर्जी पेश करने कलकत्ते भी गये।

वे अगस्त १८२६ में दिल्ली से रवाना हुए और फरवरी १८२८ में कलकत्ता पहुँचे। इसी यात्रा में कानपुर, लखनऊ, बनारस, पटना और मुर्शिदाबाद भी कुछ दिनों ठहर कर साहित्यिक लोगों से मिलने का उन्हें अवसर मिला।

क़लकत्ते में हुक्म हुआ कि उन्हें पहले दिल्ली के रेजीडेन्ट के सामने अर्जी पेश करनी चाहिये। अब फिर कलकत्ते से दिल्ली वापिस आना होगा। उन्होंने निश्चय किया कि अब हिन्दुस्तान छोड़ कर ईरान चले जायेंगे। इसी निराशा के साथ नवम्बर १८२६ में वे दिल्ली वापिस आये। वहाँ दोस्तों के समझाने पर उन्हें जिद हो गयी और उन्होंने अपनी पेंशन के लिये मुकदमा लड़ा जो १६ वर्ष तक चला। मुकदमा लड़ने के लिये उन्होंने चालीस हजार रुपये कर्ज ले लिये और इसी दौरान में परेशानियों ने उन्हें पीने की आदत डाल दी। एक जगह ग़ालिब ने लिखा है:

कर्ज की पीते थे मै, और समझते थे कि हाँ,
रंग लायेगी हमारी फाकामस्ती एक दिन।

बाद में फैसला हुआ और ७५०) की पेंशन फिर चालू हो गयी। लेकिन मुकदमे के दौरान में हुए कर्ज़ के बदले में पाँच हजार मिले। कर्ज़दारों ने इस पर डिग्री करा ली थी और पाँच हज़ार रुपये तो बाँट ही लिये थे और अब उनका घर से बाहर कदम रखना असम्भव हो गया था, क्योंकि उन दिनों यह कानून था कि यदि किसी सम्मानित व्यक्ति पर ऋण की डिग्री हो तो अदा न होने की हालत में उसे घर के बाहर ही गिरफ्तार किया ज़ा सकता था। अत: बाहर की गिरफ्तारी से बचने के लिये मिर्जा ग़ालिब ने अपने को घर में क़ैद कर लिया।

यहाँ एक घटना का जिक्र कर देना जरूरी है। १८४१ में दिल्ली के कालेज में फारसी अध्यापक की जगह पर काम करने को उन्हें बुलाया गया। मिर्जा अपनी आदत के अनुसार चार कहारों वाली पालकी पर सवार होकर लेफ्टीनेन्ट गवर्नर के घर पर पहुँचे और इन्तज़ार करते रहे। किसी ने जब उतरने को कहा तो मिर्जा ग़ालिब बोले: 'जब तक कोई स्वागत को न आये तो कैसे उतरूँ?' यह सुन कर लेफ्टीनेन्ट गवर्नर खुद बाहर आये और बोले: 'आप रस्मी मुलाकात के लिये नहीं, नौकरी के लिये आये हैं, इसलिये कोई स्वागत को कैसे आता?' क्षण भर सोचकर मिर्ज़ा ने कहा, 'नौकरी तो इसलिये करना चाहता हूँ कि मेरी प्रतिष्ठा में वृद्धि हो, अगर नौकरी करने से मौजूदा प्रतिष्ठा में भी कमी आती है तो ऐसी नौकरी को मेरा दूर से सलाम'...और कहारों को वापिस चलने का हुक्म दे दिया।

एक और घटना। हैदराबाद से उनके दोस्त ने लिखा कि दक्षिण में सोना बरस रहा है। यदि हैदराबाद आओ तो महाराज चन्दूलाल से काफी धन मिल सकता है। इस पर मिर्ज़ा ने जवाब दिया। 'भाई सुझाव तो ठीक है पर खतरे बहुत हैं। एक तो यहाँ कर्ज़ अदा किये बगैर घर से निकलना मुश्किल है, दूसरे गरीब चन्दूलाल अस्सी बरस का बुड्ढा खुद कब्र में पाँव लटकाये बैठा है। जब तक मैं हैदराबाद पहुँचूँ तब तक वह कहीं खुद अहमदाबाद पहुँच चुका होगा तो क्या होगा?'

मिर्ज़ा के जीवनी लेखकों में से कुछ ने लिखा है कि मिर्ज़ा को जुआ खेलने के कारण दो बार जेल भुगतनी पड़ी थी, पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

इसी समय महाकवि ज़ौक़ का देहान्त हो गया और मिर्ज़ा को बादशाह ज़फ़र ने अपना उस्ताद मान लिया और नवाब वाजिदअली शाह ने भी ५००) सालना पेंशन बाँध दी। यह होते न होते मई ५७ में ग़दर शुरू हो गया और सब-कुछ उथल-पुथल हो गया। बादशाह ज़फ़र भी रंगून भेज दिये गये। ये दिन मिर्ज़ा ने जिस कठिनाई में गुजारे उसका अन्दाज़ भी नहीं किया जा सकता। इसके बाद मृत्यु तक मिर्ज़ा पैसों की भूख में तड़पते रहे। अपने इस समय की हालत का जिक्र मिर्ज़ा ने अपनी किताब 'दस्ताम्बो' में किया है। आर्थिक कठिनाई से शरीर भी तो टूट जाता है। तरह-तरह की बीमारियों ने उन्हें घेर लिया। १८५९ में पेट में मरोड़ होने वाले दौरे ने उन्हें तोड़ दिया। १८६२-६३ में उनका शरीर फोड़ों से भर गया और शरीर का सारा रक्त मवाद बन चुका था। आखिरी दिनों में वे चलने-फिरने से भी मजबूर हो गये। कान से बहरे हो गये। आँख की रोशनी चली गयी। हाथ और जुबान भी बेकार हो गये। अन्त में १५ फरवरी १८६९ के दिन दिमाग़ पर फ़ालिज गिरा और ग़ालिब दुनिया से उठ गये।

'हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी,
कुछ हमारी खबर नहीं आती!'

मिर्ज़ा के सात बच्चे हुए थे, लेकिन कोई भी पन्द्रह महीने से ज्यादा नहीं जिया। मिर्ज़ा की मृत्यु के एक साल बाद उनकी पत्नी का भी देहान्त हो गया। मिर्ज़ा की कोई सही तस्वीर नहीं मिलती। लेकिन जो कुछ है उससे मिर्ज़ा की यह तस्वीर बनती है—लम्बा क़द, सुडौल, इकहरा गदन, चौड़ा सीना, ऊँचा

माथा, उठी नाक, बड़ी-बड़ी बादामी आँखें. जिनमें हर वक्त शबाब का होना, करीने से कटी-छटी दाढ़ी जो बहुत बड़ी नहीं। शायरी के अलावा मिर्ज़ा खत लिखने में बहुत प्रसिद्ध थे। स्वाभिमानी स्वभाव के कारण वे जिन्दगी भर कष्ट उठाते रहे। मरने के पहले ग़ालिब ने अपने सभी कलाम खुद पढ़े और करीब दो हजार शेर अपने सामने छाँट दिये जो अब मिलते भी नहीं और अपने चुने हुए शेरों का एक छोटा-सा दीवान दुनिया के लिये छोड़ गये।

[सन् १९५५]

मंच पर रवीन्द्रनाथ

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पहली बार नाटक किया था, २६ फरवरी १८८१ को, नाटक था 'वाल्मीकि प्रतिभा', और अंतिम बार वे मंच पर आये थे ७ अगस्त १९४० को, नाटक था 'श्यामा'। पहली बार रवीन्द्रनाथ मंच पर आये जब वे बीस साल के तरुण थे और अंतिम बार अभिनय किया जब वे ७९ वर्ष के वयोवृद्ध थे। इस प्रथम और अंतिम बार मंच पर आने के बीच ५९ वर्ष का काल-खण्ड। इस काल-खण्ड में रवीन्द्रनाथ ने लगभग चालीस नाटक खेले।

□ □ □

शनिवार की शाम। श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर के निवास—जोरासांको में कलकत्ता के चुने हुए साहित्य-प्रेमियों का जमघट।......ठाकुर परिवार के छोटे-छोटे बच्चों ने पहले एक लम्बी कविता का साभिनय प्रदर्शन पाठ किया। फिर 'वाल्मीकि प्रतिभा' नाटक खेला गया। नाटक में दिखाया गया था कि किस प्रकार वाल्मीकि डाकू-कृत्य त्याग कर माँ सरस्वती की कृपा से आदिकवि बन जाते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं वाल्मीकि की भूमिका की थी और

उनकी बारह वर्ष की भतीजी प्रतिभा ने स्वरस्वती का अभिनय किया था। ....यह पहला अवसर था जब किसी प्रतिष्ठित परिवार की बालिका ने दर्शकों के सामने मंच पर अभिनय किया।

□ □ □

उस प्रदर्शन के समय हरिश्चन्द्र हलधर उपस्थित थे। उन्हें मंच-सज्जा का काम दिया गया। उन्होंने उस समय मंच को अत्यधिक आधुनिक बनाने का प्रयास किया। उन्होंने कपड़े के दो सारस बना कर पेड़ पर लटका दिये। यही सारस दम्पति थे—वाल्मीकि का जीवन बदलने वाले। किसी रईस के कमरे से लाकर भूसा भरा एक हिरन एक कोने में रखा गया। पीछे के परदे पर उन्होंने जंगल में छिपा एक भालू बनाया। थोड़े से और पेड़ पौधे लग दिये गये। (अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के लेख से।)

हलधर अंग्रेजी ढ़ंग से मंच सजाते थे। उन दिनों मंच-सज्जा का मुख्य उद्देश्य होता था कि बाहरी वास्तविकता अधिक से अधिक प्रमुखता पाये। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' में दीनेन्द्रनाथ ठाकुर घोड़ा लेकर मंच पर आये थे और 'रिमझिम' गान के समय अरुदादा ने मंच के ऊपर चढ़ कर छिप कर टीन के बड़े पाइप में छेद कर के मंच पर पानी बरसाया था।

□ □ □

उस समय जो मंच-सज्जा होती या कलाकार जो कपड़े पहनते उनसे न तो युग का, न जाति का पता लगता। लेकिन फिर भी मंच आकर्षक तो होता ही था। पीछे का काला परदा नीले व हरे धब्बों मे भरा होता। इससे जंगल व आकाश का पता लगता। दो तीन तारे भी चमकते होते। फीका सा चाँद भी होता। उसके पास दो तीन पत्तियाँ भरी डालें होती। कुछ लतरें, घास की झाड़ियाँ, बस...रवीन्द्रनाथ ने दो रोल किये। एक युवक कवि का और दूसरा बूढ़े गायक का। पहले रोल में रवीन्द्रनाथ भव्य दिखते थे, तरुणाई के प्रतीक, और दूसरे में असली अंधे बाउल गायक।........

□ □ □

'डाकघर' भी बहुत भव्यता से खेला गया। घास-फूस की बनी झोपड़ी बंगाल के गाँव की पूरी झाँकी प्रस्तुत कर रही थी।

□ □ □

फिर कलकत्ता के इम्पायर थियेटर में १९२३ में चार दिनों लगातार 'विसर्जन' का प्रदर्शन हुआ। रवीन्द्रनाथ ने जयसिंह का अभिनय किया.. ...जब रवीन्द्रनाथ ग्रीनरूम से बाहर आये तो देखने वालों की पल भर को साँस रुक गयी थी। अवनीन्द्रनाथ और नन्दलाल बोस ने उनका 'मेकअप' किया था। और जब रवीन्द्रनाथ मंच पर आये तो दर्शक की आँखों में चाकाचौंध पैंदा हो गयी थी। चमत्कार ! क्या भव्यता थी ! जैसे रवीन्द्रनाथ ने दर्शकों के सामने दूसरी ही किसी दुनिया का द्वार खोल दिया हो......सौंदर्य और सत्य की आन्तरिक दुनिया का द्वार।

रवीन्द्रनाथ की ऐतिहासिक पात्रों के अभिनय की अद्भुत क्षमता, उनके व्यक्तित्व का चुम्बकीय आकर्षण...............शायद वे अभिनय के लिए ही बने थे।

□ □ □

ईस्टर की छुट्टियों में 'फाल्गुनी' खेला गया..................पूरा नाटक अपूर्व था। यहाँ पहली बार आडम्बर को तिलांजलि देकर सादा मंच प्रस्तुत किया गया था। मंच-सज्जा के नाम पर सिर्फ एक परदा। बस।

□ □ □

यदि शांतिनिकेतन के नाटकों का इतिहास लिखा जाय तो पता लगेगा कि नाटक-पद्धति में आधुनिकता कैसे और किस गति से आयी। पहले कीमती कपड़े, पोशाक, परदे होते थे, धीरे-धीरे इन आडम्बरों का स्थान रोशनी-सज्जा (लाईटिंग) ने ले लिया। वीणा, एसराज और बाँसुरी ने हारमोनियम का स्थान लिया।

धीरे-धीरे सब बदल गया।

□ □ □

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्मृति में........

'वाल्मीकि प्रतिभा' के प्रदर्शन के समय रवीन्द्रनाथ की सबसे अधिक सहा-

यता उनके बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ ने की थी। उस नाटक के समय (फरवरी १८८१) बंकिमचन्द्र चटर्जी भी उपस्थित थे।..................मुसीबत ने भी अपना रोल अदा किया था। फरवरी का महीना, जोरासांको की छत पर बाँस का मंच बना था। तभी खूब जोरों की आँधी आयी थी और बाँस का मंच एक क्षण में उड़ गया था। फिर भी नाटक हुआ था। यही नाटक दूसरी बार लेडी लैन्सडॉन की उपस्थिति में जोरासांकों के आँगन में हुआ था। अभिनय करने वाले सभी थे—ठाकुर परिवार के सदस्य।

'मेयेर खेला' भी १८८८ में लिखा गया था और इसी वर्ष महिलाओं की संस्था—सखी समिति—द्वारा बेथुन कालेज में खेला गया था।

फिर 'राजा और रानी' तथा 'विसर्जन' अभिनीत हुए। 'राजा और रानी' तो सत्येन्द्रनाथ ठाकुर की बिरजी तालाब वाली कोठी में खेला गया। इसमें रवीन्द्रनाथ की पत्नी ने नारायणी का अभिनय किया था। कवि-पत्नी का यह प्रथम व अंतिम अभिनय था।

□ □ □

सत्येन्द्रनाथ ठाकुर बिरजी तालाब वाली कोठी छोड़ कर ४६ पार्क स्ट्रीट पर आ गए थे। यहीं 'विसर्जन' नाटक खेला गया। इसमें रवीन्द्रनाथ ने जयसिंह की भूमिका की। दुबारा यही नाटक संगीत-समाज द्वारा कर्नवालिस स्ट्रीट पर क्लब हाउस में खेला गया था।

□ □ □

'फाल्गुनी' पहले शांतिनिकेतन में अभिनीत हुआ और एक साल बाद कलकत्ता में। दूसरी बार नाटक से पूर्व रवीन्द्रनाथ ने एक अध्याय नया लिख कर नाटक में जोड़ा—वैराग्य साधना। उनका ख्याल था कि जिस प्रकार नये ढंग का नाटक वह उसे बनाना चाहते हैं वह दर्शक शायद समझ न पावें। रवीन्द्रनाथ के अलावा इस नाटक में गगनेन्द्रनाथ, समरेन्द्रनाथ और अवनीन्द्र-नाथ ने भी भाग लिया था।

जोरासांको के आँगन में मंच बनाया गया था। गगनेन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस और सुरेन्द्रनाथ कर ने मंच-सज्जा की। मंच प्रतीकात्मक था, बस यहाँ-वहाँ कुछ हल्की रंगसाजी कर दी गयी थी। दर्शकों में जिश दृश्य पर सन्नाटा

छा गया था, वह दृश्य था रवीन्द्रनाथ का अंधे बाउल के रूप में अंधेरी गुफा की ओर बढ़ना, गाते हुए—धीरे बन्धू, जाओ धीरे........।

यह १६१६ की बात है। तब रवीन्द्रनाथ की आवाज में जैसे बिजली की कड़क थी। गाते हुए जब वे मंच से लोप हुए और दूर से उनकी आवाज आती रही, तब दर्शक विह्वल हुए बिना रह न सके।

□ □ □

'फाल्गुनी' के बाद लम्बे वर्षों का व्यवधान है। रवीन्द्रनाथ लम्बे अरसे तक योरप में रहे। फिर 'डाकघर' लिखा। विचित्रा हाल में यह खेला गया। रवीन्द्रनाथ ने चौकीदार और फकीर का अभिनय किया। अवनीन्द्रनाथ ने गाँव के मुखिया का और गगनेन्द्रनाथ ने माधव का, दीनेन्द्रनाथ ने फकीर के साथी का और असित हलधर ने दहीवाले का। अमल की भूमिका में बालक आशा मुकुल ने तो कमाल किया, जैसे इसी रोल के लिए ही उनका जन्म हुआ था।

ऐसा प्रभावशाली नाटक जल्दी देखने को नहीं मिलता।

□ □ □

विचित्रा हाल के कोने में मंच और लगभग डेढ़ सौ दर्शकों के बैठने की जगह। मंच का निर्माण अद्भुत और भव्य।

वहाँ यह नाटक थोड़े-थोड़े कालान्तर के बाद कई हफ्ते चला। सातवें दिन यह नाटक उस समय कलकत्ता में हो रहे राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधियों के लिये किया गया। इसमें दर्शकों में आकर बैठे थे—एनी बीसेन्ट, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गाँधी और लोकमान्य तिलक।

□ □ □

अंतिम बार रवीन्द्रनाथ ७६ वर्ष की आयु में 'श्यामा' में अवतरित हुए और इसी दिन ७ अगस्त १६४० को अंतिम नमस्कार किया उन्होंने रंगमंच को।

अपने जीवन में रवीन्द्रनाथ ने नाटक को बड़ा महत्वपूर्ण बनाया। विश्व नाटक में रवीन्द्रनाथ एक विशेष प्रतिभा माने गए।

नाटक को अमरता देने को रवीन्द्रनाथ ने कौन-कौन सा रूप नहीं अपनाया ! भिखारी, बाउल, सैनिक, योद्धा, कवि, साधू, भला किसका अभिनय नहीं किया उन्होंने ! उनके माध्यम से सभी पात्र अमर हो गये। यों वाल्मीकि प्रतिभा से प्रारम्भ होकर फाल्गुनी, विसर्जन, डाकघर, मेयेर खेला, नलिनी, राजा और रानी, चित्रांगदा, गांधीरीर आवेदन, वैकुण्ठेर कथा, कर्ण-कुन्ती, लक्ष्मीर प्रतीक्षा, हास्य कौतुक, मुकुट, राजा, मुक्तधारा, गृह प्रवेश, चिरकुमार सभा, नटीर पूजा, रक्तकरवी, शापमोचन, चांडालिका, ताशेर देश, स्वर्णगंधा से लेकर श्यामा तक का अलौकिक इतिहास है।

[सन १९७०]

मास्को थियेटर की शुरुआत

मास्को की एक शाम !

शाम की घुटन की तरह वहाँ के कलाप्रेमियों के मन में भी एक अजीब घुटन समायी हुयी थी। उसी के फलस्वरूप केवल जी हल्का करने के लिये ही 'हन्टर्स क्लब' के छोटे-से हाल में कलाप्रेमियों ने एक छोटे-से नाटक का आयोजन किया।

आयोजन क्या, एक मजाक। जिन्होंने कभी पास से रंगमंच भी न देखा था उन्होंने अभिनय किया। और जब पर्दा उठा तो अजीब-अजीब शक्लें ! अजीब भाषा, बोलने का भी बिल्कुल बनावटी और अस्वाभाविक ढंग। दर्शकों की गैलरी से सीटी, ताली, जूते रगड़ने की आवाज ! अभिनेता झेंपने लगे और अधूरे पर ही पर्दा गिरा दिया गया।

अधिकांश लोगों ने कहा, 'बिल्कुल बकवास ! असफल ! बेकार क्यों खेलने आये ?'

परन्तु उन्हीं के बीच कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने इस असफलता के गर्भ में मास्को के रंगमंच का निर्माण होते साफ देखा। उन्हीं के बीच से बढ़ कर स्तानिस्लावस्की ने असफल अभिनेताओं को बधाई दी।

इस घटना के केवल एक सप्ताह बाद स्तानिस्लावस्की की योजना के अनुसार 'ऊँची शिक्षा का फल' नामक टाल्सटाय के नाटक का प्रदर्शन किया गया। इसमें स्तानिस्लावस्की ने केवल योजना ही नहीं बनाई थी, अभिनय भी किया और सफलता-पूर्वक किया। और अपने इस अभिनय को सफल बना कर उसने मास्को की जनता का थोड़ा-सा ध्यान रंगमंच की ओर आकर्षित किया।

स्तानिस्लावस्की—लम्बा सजीला युवक। सिर के बाल वेतरतीब और माथे पर झुके हुए। छोटी-छोटी मूछें। परन्तु इस युवक के बारे में लोग कम ही बातें करते। वह भी तो अपने विषय में चुप ही लगाये रहता था। परन्तु इस आयोजन के पश्चात ही लोगों ने उसे मास्को-रंगमंच का भावी नायक मान लिया।

जब यह सब हो रहा था तभी 'स्कूल आफ म्यूजिक' में नियमित रूप से प्रसिद्ध रूसी नाटककार नेमीरोविच डानसेन्को अपने विद्यार्थियों के सम्मुख रंगमंच सम्बन्धी भाषण दिया करते। और जब स्तानिस्लावस्की की ही तरह वे भी रूसी रंगमंच के पुनः निर्माण का सपना देख रहे थे तब दोनों अलग कितने दिनों रह पाते। अन्त में २३ जून १८९७ को स्लाव बाजार के एक होटल के छोटे से कमरे में दोनों मिले। दोपहर को दो बजे से दूसरे दिन सुबह ७ बजे तक चर्चा चलती रही। उस रात उन्होंने रंगमंच के निर्माण की पूरी योजना बनायी, नाटकों का चुनाव हुआ। उनके सामूहिक रंगमंच को नाम दिया गया—"पापुलर थियेटर!'

परन्तु इस प्रकार के नियमित थियेटर बनाने के पूर्व नगर-अधिकारियों से इजाजत ली जानी थी। अतः एक दरखास्त दी गयी—'ताकि गरीब साहित्यकारों को कम दाम में नाटक दिखाये जाकर उनसे नाटक के उत्थान में सहायता ली जाय। ताकि शहर के अनेक विद्यार्थी, दूकानदार, व्यापारी, किरानी और उनके परिवार उच्च स्तर के मनोरंजन का रास्ता पाकर शराबखाने और जुएखाने का रास्ता भूलें—'

परन्तु नगर-अधिकारियों ने इसकी इजाजत न दी। फलस्वरूप दोनों ने मिल कर एक ऐसा गिरोह तैयार किया जो इस सरकारी प्रतिबन्ध के खिलाफ आवाज उठा सके। इस गिरोह में कोई नामवर व्यक्ति न था। सर्वप्रथम इसमें भाग लेने वाले थे—लुजस्की, आर्तेम, बर्दजेलोव, अलेक्जेन्द्रोव, अन्द्रीव, लोलिना, समारोव, क्निपर, मन्ट, रोक्सानोव, एविस्तकाया, मांस्कवीन, कोशवरोव,

मीरहोल्ड आदि। सभी युवक। रंगमंच की वास्तविकता से अपरिचित तथा सभी एक-दूसरे को आश्चर्य से देखते।

फरवरी १८९८ में आयोजकों की सभा हुई। स्तानिस्लावस्की सभापति था और सभी तैयारी पूरी हो चुकी थी। सीमोव नामक युवक चित्रकार ने परदों पर चित्रकारी की। १८९७ का साल तो तैयारी में लग ही चुका था, १८९८ का आधा वर्ष भी लगा। अन्त में मास्को से बाहर 'पुश्किनों' में अरखीपोव के कच्चे मकान में १४ जून १८९८ की गर्मियों की छुट्टी में सभी जुटे। इस कच्चे मकान को उसी दिन कच्चे रंगमंच में बदल दिया गया। यही था 'मास्को आर्ट थियेटर' का जन्म।

रंगमंच के जन्म पर इस आन्दोलन के नेता स्तानिस्लावस्की ने एक छोटा-सा भाषण भी दिया।

'यह मत भूलो कि गरीबों के अंधकारपूर्ण जीवन में कला की ज्योति जगा कर उजाला करना है। हम लोग देश में सर्वप्रथम बार एक जन रंगमंच का निर्माण कर रहे हैं। इसके लिये सम्भवतः हमें अपनी जान भी देनी पड़ेगी।'

लगातार चार महीनों तक रिहर्सल चलता रहा। उसमें कोई देरी न होती, कोई गैरहाजिरी न होती। क्योंकि यह एक नियम था और प्रत्येक नियमों का फौजी की तरह पालन करना प्रत्येक कलाकार का काम था। लुजस्की ने एक दिन कहा था, 'अगर तुम देर करोगे तो खुद ही पछताओगे। माँ, बाप, स्त्री, बच्चों को भूल कर इस पुण्य-कार्य में खप जाओ।'

और अपनी तैयारी करके वे मास्को आये। बहुत दिनों से बन्द पढ़े स्चूकिन्स थियेटर के दरवाजे खोले गये। गंदगी, कूड़ों का अम्बार। कलाकार झाड़ू लेकर जुट गये। सफाई की, धुलाई की, दीवालों पर चित्र बनाये गये। और पूरी तैयारी व उत्साह के साथ रिहर्सल शुरू हुए।

और अन्त में वह १४ अक्तूबर का ऐतिहासिक दिन आ गया।

शहर भर में इश्तहार चिपक चुके थे। सभी टिकट बिक गये। टिकट घर पर 'हाउस-फुल' का बोर्ड टाँग दिया गया। कलाकारों से अधिक तो दर्शकों में उत्साह था।

उस दिन की सफलता पर स्तानिस्लावस्की ने कहा था—'आज की रात हम कला का द्वार पार कर गये।'

अलेक्सी टाल्सटाय का दुखांत नाटक 'जार फेदर इओनोविच' १८६८ के पूर्व ही छप चुका था परन्तु खेला नहीं गया था। इसे ही खेलने का निश्चय हुआ। इस खेल के बाद तो 'मास्को आर्ट थियेटर' और 'पापुलर थियेटर' का रंग जम गया।

इसके कुछ महीने बाद ही चेखव का 'दि सी गल' (गांग-चील) खेला गया। इसके पूर्व भी यह नाटक पीट्सवर्ग में खेला जाकर असफल हो चुका था। इसके लिये लोगों ने कहा था कि ऐसा सफल नाटक अभी तक मास्को के किसी भी रंगमंच पर नहीं खेला गया।

इस प्रकार एक के बाद एक नाटक खेले गये। और जनता में 'पापुलर थियेटर' या 'मास्को आर्ट थियेटर' अपना काम करता रहा। परन्तु सरकार यह न देख सकती थी। थियेटर के ३७वें खेल पर, खेले जाने के पूर्व ही सरकार ने रोक लगा दी। यह रोका जाने वाला खेल था अन्द्रीव रचित **'अनाथेमा'**।

पूरी तैयारी हो चुकी थी। दृश्य तैयार कर लिये गये थे, पात्र चुन लिये गये थे, आर्क्रेस्ट्रा भी चुन लिया गया था—यानी केवल परदा ही उठना बाकी था कि—रोको!

अब क्या हो! अब क्या हो!!

सरकार से किसी धार्मिक महिला ने शिकायत की थी कि इस खेल में ईसा और खुदा को गाली दी जाने को है अतः सरकार ने धर्म की रक्षा की।

टिकट तक बिक चुके थे। जनता थियेटर पर टूट पड़ने को तैयार थी। थियेटर के लिये यह बहुत कठिन समय आ गया। फिर उसी समय, शीघ्र ही चेखव के 'दि सी गल' को फिर से अभिनीत करके थियेटर की इज्जत बचायी गयी। यद्यपि 'दि सी गल' पहले भी सफलतापूर्वक खेला गया था और पीटस-वर्ग की असफलता का कलंक धुल चुका था परन्तु यह भी ज्ञात था कि इस बार खास तौर से कुछ व्यक्ति शोर करने और खेल बिगाड़ने के लिये आने वाले हैं। अगर इस बार यह खेल खराब हुआ, तो थियेटर की जड़ कटेगी ही, साथ ही चेखव को, जो उन दिनों बहुत बीमार था, सम्भव है सदमा भी पहुँचे।

फिर भी ईमानदार कलाकारों का परिश्रम! चेखब भी आये और धड़कते

दिल से पर्दा खींचा गया। खेल शुरू हुआ। सर्वत्र शान्ति! कोई हुल्लड़ नहीं, हुड़दंग नहीं। क्या सफलता मिलेगी!

पर यह क्या! खेल समाप्त हुआ, पर्दा गिरा। हाल में रोशनी की गयी। परन्तु अब भी शोर नहीं। एक भी दर्शक ने ताली नहीं बजायी। परदे के पीछे कलाकारों ने डर कर एक दूसरे को देखा— क्या असफल!

न ताली, न शाबाशी! अवश्य ही हार! तभी एक ने बताया एक स्त्री तो रोने लगी थी। यह खामोशी प्रभावपूर्ण थी। नाटक सफल! फिर शोर भी, ताली भी, शाबाशी भी!

थियेटर बच गया।

कलाकारों की जीत हुई!!

इसके बाद बढ़े हुए उत्साह से अस्त्रावस्की के 'दि स्नो मेडेन' का आयोजन किया गया। प्रथम दृश्य से ही जादू बरसने लगा। दो वर्ष के अनुभव ने लीलिना, अन्द्रेनवा, वीशेनवस्की आदि को मँजा हुआ अभिनेता बना दिया था। परन्तु जनता जब मुग्ध हो खामोशी से खेल देख रही थी, तभी यह कौन आ गया बीच में! यह भी कोई पात्र है क्या! बहुत खूब!! कशालोव! वाह!!

फिर तो ताली पर तालियाँ। और केवल एक बार मंच पर उतरने से ही कशालोव ऐसा मशहूर हुआ जैसे जन्म-जन्मान्तर का अभिनेता हो।

लोग थियेटर की सफलता पर चकित थे, मुग्ध थे। परन्तु थियेटर वालों को इतने से ही सन्तोष कहाँ? उन्हें तो अभी अपने रंगमंच के द्वारा संस्कृति की धारा को मोड़ना था, विद्रोह करना था। थियेटर वालों ने एक नये युवक लेखक को खोज निकाला—यह था मैक्सिम गोर्की। इसके नाटक सामाजिक होते थे परन्तु उस सामाजिकता में राजनीति का जो पुट था—वही नवीनता थी।

गोर्की का 'दि लोअर डेप्थ्स' तैयार किया गया। परन्तु अधिकारियों ने इसे रोक दिया। बहुत कुछ काटा-छाँटा गया और अधिकारियों को खुश किया गया। तब कहीं जाकर केवल मास्को में प्रदर्शन की आज्ञा मिली।

मुसीबत आते-आते बची।

उस समय से यानी १६०२ से आज तक मास्को में 'दि लोअर डेप्थ्स' उसी तरह खेला जाता है और अपने प्रारम्भ के दिनों की याद दिलाता है। मास्को ऑर्ट थियेटर वालों ने कई बार इस खेल को योरप और अमेरिका में खेला। उसी प्रकार की सफलता पायी। पहली बार जब यह खेला गया था तब का वह दृश्य ! वाह ! ! जब-जब समाप्ति पर परदा गिरता—लोग चिल्लाते और परदा हटा कर अभिनेताओं को मंच पर आना पड़ता। पर ज्यों ही वे जाते फिर शोर-गुल। अन्त में लेखक को—गोर्की को मंच पर लाया गया ! फिर क्या पूछना था। शोर तो तूफान बन गया। जनता ने गोर्की को कंधों पर उठा लिया।

तब से १६४२ तक यह खेल हजार बार से अधिक खेला गया।

१६०२ में थियेटर ने पुराना हाल छोड़ा और नये हाल में आया जिसमें आज तक है। यहाँ आकर थियेटर ने प्रथम बार अपना निशान बनाया—वही 'गांग चील' चेखब वाला। परदे पर पहले आप गांग चील देखेंगे फिर खेल।

इस नये हाल में नये किस्म की थियेटर की जिन्दगी शुरू हुई। यहाँ आते न आते ही 'मास्को आर्ट थियेटर' का नाम दुनिया भर में फैल चुका था। आज लगभग आधी शताब्दी से अधिक के 'मास्को आर्ट थियेटर' से आगे आने वाली थियेटर की पीढ़ियाँ उसकी सफलता से नहीं पर उसकी गलतियों से तो कम से कम बहुत अधिक अनुभव पावेंगी ही।

'मास्को आर्ट थियेटर' के विषय में जानने के लिये स्तानिस्लावस्की के निम्न पत्र से बहुत सहायता मिलेगी—

'प्यारे दोस्तों !

आप सबों के स्नेह ने हमारे थियेटर को सफल बनाया है। हमारा थियेटर अन्य थियेटरों से अवश्य ही भिन्न है। प्यारे कलाकारों, सारी सफलता का ताज आपके सिर पर, क्योंकि दर्शकों को जब तक वे हाल में रहते हैं, आप अपने आधीन बनाये रहते हैं। अगर हाल में दर्शक ऊबें तो आप की असफलता होगी। पर ऐसा होता कब है ? इसीलिये अपने कार्यों का महत्व मेरे लिये अमूल्य है।'

अब तो थियेटर के आगे एक कदम बढ़ कर मास्को में थियेटर म्यूजियम बन गया है, जिसमें प्रत्येक पिछले खेलों के चित्र, और उनकी हार या जीत पर

अखबारों की कटिंग तक संगृहीत हैं। इससे हर नवीन अभिनेता को पथ-प्रदर्शन मिलता है।

एक शाम को जब म्यूजियम में तेलेशोव बैठे किताबों की गड्डियाँ बढ़ा रहे थे तभी पीछे से पदचाप सुनायी पड़ी! वाह, स्तानिस्लावस्की खड़े हैं! काम में व्यस्त तेलेशोव ने कुर्सी भी नहीं खिसकायी और स्तानिस्लावस्की ने उन्हें बधाई दी—उनके परिश्रम के लिये।

तेलेशोव ने शिकायत की—'आप म्यूजियम को समय नहीं देते।'

हँस कर स्तानिस्लावस्की ने कहा, 'अभी मुझे थियेटर का काम करना है। जब मैं मरूँ तो जला कर मेरी राख लाकर यहीं एक कमरे में बन्द कर देना। तभी मैं दिन और रात, रात और दिन, इन पुस्तकों से बातें करूँगा।'

यह था एक आदर्श व्यवहार जिसके कारण ही शायद नेता व कार्यकर्ता आपस में कोई भेद-भाव न मानते थे और उनकी इसी विशेषता के कारण ही आज मास्को का आर्ट थियेटर विश्व में अपना स्थान रखता है।

मास्को आर्ट थियेटर के यह प्रारम्भिक दिनों के कुछ दृश्य हैं। अब तो मास्को आर्ट थियेटर ऐसी जगह बना चुका है कि उसके प्रारम्भ की इन कठिनाइयों से भरी घटनाओं का अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता।

[सन् १९५६]

श्वेत नाटक के विरुद्ध

अमरीका में आज गोरी संस्कृति के विरुद्ध आक्रोश की अभिव्यक्ति का सब से प्रभावशाली माध्यम बन गया है—श्याम-नाटक अथवा ब्लैक-थियेटर।

इस्माइल रीड ने साफ़-साफ़ लिखा है—'एक समय था, जब विश्व के साहित्य पर गोरी चमड़ी वाले छाये थे। लेकिन अब हमारी बारी आयी है। श्याम-साहित्य और श्याम-रंगमंच इस शताब्दी के सातवें दशक में सबसे अधिक प्रभावशाली होगा।

अब यह अनुभव किया जा रहा है कि गोरी चमड़ी वालों के पास न तो अब कोई विचार रह गया है, न ही कुछ लिखने को ही बाकी बचा है। अमरीका में समाज के उच्च-स्तर पर नीग्रो लोग का कुछ वर्ष पूर्व तक कोई स्थान नहीं होता था। शताब्दियों से नीग्रो लोगों का अफ्रीका के विभिन्न भागों से जरखरीद गुलाम के रूप में व्यापार होता था। यही नहीं, शताब्दियों से अमरिका में रहने वाले नीग्रो लोगों को अमरीका का नागरिक भी नहीं माना जाता था। वे जन्मजात गुलाम ही समझे जाते थे। समाज में गुलाम की कोई स्थिति न थी। लेकिन पिछले पचास वर्षों से स्थिति में बदलाव आया है।

आज स्थिति यह है कि अमरीका के निवासी नीग्रोजन ने शिक्षा के विस्तार

के कारण अपने पर लज्जित होना छोड़ दिया, अपने को गोरों से छोटा समझना छोड़ दिया और उन्होंने नागरिक-स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है। आज गोरी जाति और गोरी-संस्कृति के विरुद्ध काले नीग्रो ने सिर उठाया है, अब वे सिर्फ गोरों की बराबरी ही नहीं चाहते, बल्कि अब वे अपने को गोरी जाति व संस्कृति से अधिक सभ्य और नेतृत्व का अधिकारी भी मानते हैं।

काले लोगों के मन में आत्मविश्वास बढ़ा है और जो नया 'श्याम-सांस्कृतिक आन्दोलन' जन्मा है, उसने नई संस्कृति को, नये साहित्य और नये रंगमंच को जन्म दिया है। लि-रोई जोन्स ने एक कविता में स्पष्ट लिखा है—

'हम जाग गये,
हम हैं काले जादूगर,
काले जादू हम करते हैं,
श्वेत की मौत हो गई है
अब काली रातों के हम मालिक हैं।'

'श्याम-सांस्कृतिक-आन्दोलन' का प्रमुख अंग है—श्याम-नाटक। परम्परावादी श्वेत-नाटक के प्रति श्याम-नाटक ने विद्रोह किया है। श्वेत-नाटक की चमक धुँधली पड़ गयी है। ब्राडवे की गोरी संस्कृति के खिलाफ नीग्रो लेखक, कलाकार और रंगकर्मी सजग हुए हैं। नीग्रो लेखकों में श्याम-नाटकों की रचना करके, श्याम-रंगमंच को जन्म देकर नीग्रो-जन में राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना पैदा की है।

पिछले पाँच-छः वर्षों से यह स्थिति बहुत साफ हुई है। अमरीका के स्कूलों-कालेजों में नीग्रो-जातीय नाठक खेले जाने लगे, वाई. एम. सी. ए. और अन्य क्लबों में भी नीग्रो-नाटकों की स्थापना हुई हैं, गलियों की नुक्कड़ों और सड़कों की पटरियों पर खुला-श्याम-नाटक की परम्परा जन्मी है, श्याम-नाटक-पत्रिका और राष्ट्रीय श्याम-थियेटर की स्थापना हुई है, यह सभी प्रयत्न काली-संस्कृति के उत्थान द्वारा एक नई श्याम-सांस्कृतिक परम्परा के निर्माण में सफल हुए हैं।

इस सांस्कृतिक उत्थान में एक सब से अनोखी बात है, वह है कि यह श्याम-नाटक काले लोगों का है, काले लोगों के लिए, काले लोगों द्वारा निर्मित है। इसमें गोरी संस्कृति और गोरी जाति का कोई सहयोग नहीं है। इसमें मात्र

यही है कि नीग्रो लेखक नीग्रोजन के लिए क्या सोचते या अनुभव करते हैं। इन नाटकों ने गोरी जाति के इस घमण्ड को तोड़ा है कि काले लोग कम बुद्धिवाले है, गंदी आदतों वाले हैं, कुत्सित स्वाद वाले हैं, भयभीत मन वाले हैं, जंगली आदतों वाले हैं, असभ्य हैं। अभी तक गोरे रंगमंच पर नीग्रो-चरित्र को बुजदिल, नीच, क्रूर, बलात्कारी, पशु-समान, हत्यारे, शराबी और निम्न श्रेणी के मानव के रूप में चित्रित किया जाता था। लेकिन अब नीग्रो-जन ने इन भ्रान्तियों को तोड़ डाला है, उनकी असली शक्ल और उनकी संस्कृति दिखायी पड़ने लगी है। गोरी जाति समझती थी कि नीग्रो की नसों में बहने वाला खून भी घटिया क़िस्म का है।

गोरों की इस भावना को तोड़ते हुए, नीग्रो रंगकर्मियों ने बताया है कि उनके शरीर में बहने वाला खून अधिक शुद्ध है, उसमें मिलावट नहीं है। नीग्रोजन मंच पर केवल हत्यारे, खूनी, शराबी, गुलाम, बलात्कारी और टारजन ही नहीं बनते रहेंगे, वे भी राजा-रानी और सभ्य चरित्र बन सकते हैं। यही नहीं, उन्होंने यह भी बताया है कि नीग्रो-नारी सिर्फ गोरी-जाति के बच्चों की 'आया' आया ही नहीं है, वह अपनी दुनिया की नायिका भी है।

नीग्रो-जीवन पर जो प्रमुख नाटक तैयार हुए, वे हैं---'डे आफ़ ऐबसेन्स,' ''दि ब्रोन्क्स इज़ नेक्स्ट', 'आडोडो', 'ए राइजिंग इन दि सन', 'स्टार आफ़ दि मारनिंग', 'नो प्लेस टु बि समबडी' आदि। इन नाटकों में दिखाया गया है कि श्याम अधिक सुन्दर है, श्याम अधिक पवित्र है, श्याम में अधिक आकर्षण है, अधिक जादू है, अधिक शक्ति है। और श्वेत में बीमारी के कीटाणु हैं, अस्वाभाविकता है, मिलावट है।

इन नाटकों में देखा जा सकता है कि नीग्रो भी हँसते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, जीते हैं। सचाई भी यही है कि श्याम-नाटक अधिक प्रभावकारी है, अधिक वाचाल है, अधिक संगीतमय है, अधिक नृत्यमय है।

इस आन्दोलन का सफल नेतृत्व किया लि-रोई-जोन्स ने। इन्होंने अनेक 'श्याम-नाटकों' की रचना की। इन्होंने गोरी संस्कृति का विरोध किया, लेकिन घृणा नहीं फैलायी, हिंसा का प्रचार नहीं किया। इन्होंने नाटक और रंगमंच को राजनीतिक हथियार माना। इन्होंने हारलेम में 'श्याम कलामंच' की स्थापना की और 'विद्रोही-रंगमंच' के जन्मदाता बने। इन्होंने नाटकों द्वारा रंगमंच पर यह सिद्ध कर दिया कि गोरी संस्कृति कितनी पशुवत् है, दिशाहीन है। उनका

नाटक 'डच-मैन' जिसे सन् १९६३-६४ का सर्वश्रेष्ठ अमरीकी नाटक माना गया था, जिसमें उन्होंने एक गोरी स्त्री और नीग्रो पुरुष के यौन-संबंध जोड़ कर एक क्रान्तिकारी घटना का सृजन किया। उनके अन्य प्रसिद्ध श्याम-नाटक हैं—'ब्लैक मास', 'दि ट्वायलेट' आदि, इसमें दर्शाया गया है कि गोरे रंग-वाले शैतान हैं और गोरी संस्कृति मर रही है। काले नीग्रो, सफेद अमरीकियों से अधिक श्रेष्ठ हैं।

लि-रोई-जोन्स के बाद इस नाट्य-आन्दोलन में प्रमुखता से लिया जाने वाला दूसरा नाम है—एड बुलिन्स का। यह क्रुद्ध नौजवान श्याम-जागृति का प्रवक्ता ही नहीं, हारलेम के 'ब्लैक थियेटर-वर्कशाप' का डायरेक्टर भी है। इनका प्रयत्न है कि 'श्याम-नाटक' वास्तविक और असली नाटक बने, नाटक व रंगमंच को नया रंग रूप ही न दे, नया अर्थ भी दे। इनके प्रसिद्ध नाटकों के नाम हैं—'गोइना बफ़ेलो', 'दि कार्नर', 'इन दि वाइन टाइम' आदि।

इस आन्दोलन से जुड़े दो और मंच-निदेशक और नाटक लेखक हैं—रान मिलनर और डगलस टरनर वार्ड। मिलनर का नाटक 'हूज गाट हिज ओन' बहुत ही प्रभावशाली और सशक्त है। इसमें बाल-मनोविज्ञान और घुटन का अद्भुत चित्रण है। वार्ड का नाटक 'डे आफ ऐबलेन्स' में बहुत प्रभावकारी चित्रण है कि यदि अमरीका के जीवन से एक दिन के लिए भी नीग्रो दूर हो जायँ तो गोरी जाति की क्या दुर्दशा हो जायगी।

अमरीका के 'श्याम-नाटक-आन्दोलन' की प्रमुख रंगकर्मी कुमारी लोरेन हंसबेरी का नाटक 'ए राईजिंग इन दि सन' अमरीका के मंच पर सबसे अधिक दिनों तक खेला जाता रहा। दूसरी नीग्रो महिला लेखिकाओं में एलिस चिल्ड्रेस का 'ट्रबुल इन माइंड', मार्टी चार्ल्स का 'ब्लैक साइकिल' श्याम-संस्कृति के नवजागरण का प्रेरणा-स्रोत बना।

अमरीका में शताब्दियों से दबी-कुचली नीग्रो जाति में जागरण आया, नई संस्कृति का जन्म हुआ, नया 'श्याम नाटक' बना, लेकिन आज भारत, बन रहे नये भारत, भारतीय कलाकारों और भारतीय नाटक-प्रेमियों से यह 'श्याम नाटक' क्या कहीं जुड़ा है? भारतीय जन 'भूरी संस्कृति' वाले हैं। 'काली जातियों' जैसी चाहे नहीं, पर थोड़े कम अंशों में ही सही— पर 'भूरी जातियों में भी 'श्वेत जाति' के प्रभुत्व के प्रति विद्रोह की भावना है। भारत की ब्रिटिश विद्रोही भावना इसी का अंग रही है। अमरीका की रंग-भेद भावना, भारत

की जाति-भेद भावना से भिन्न नहीं है। आज अमरीका और भारत में जन्म लेने वाले नाटकों में एक सी ही समस्याएँ हैं—गरीबी, बेकारी, सामाजिक, बहुविवाह व बाल विवाह, सामूहिक परिवार, आबादी और न चाहे बच्चों का जन्म, गटर-जीवन आदि की समस्याएँ। इस प्रकार सांस्कृतिक स्तर पर नीग्रो और भारतीयों की समस्यायें एक जैसी हैं।

आज नीग्रो-जन का 'श्याम नाटक' बहुत सफल व उन्नतिशील है। भारत के नाटककारों, रंगकर्मियों को नीग्रो नाटककारों और रंगकर्मियों से प्रेरणा लेनी चाहिए—उद्देश्य के प्रति ईमानदारी और जातीय उत्थान प्रयास की दृष्टि से।

अब समय आ गया है कि काली और भूरी संस्कृति एक मंच पर खड़ी हों तभी श्वेत-संस्कृति की नकली चमक और झूठी शान से छुटकारा मिल सकता है। श्वेत-संस्कृति आज की सभ्यता के लिए खतरा बन गयी है—इससे काले-भूरे एक जुट हो कर ही मुक्ति पा सकते हैं।

[सन् १९७१]

वारेन हेस्टिंग्स का मुकदमा

भारतवर्ष को गुलामी की तौक पहनाने को जो इमारत बनायी गयी थी और दो सौ बरसों तक जिस पर यूनियन जेक फहराया उसकी नींव की पहली ईंट रखने वाला वारेन हेस्टिंग्स ही था। भारत में सर्वप्रथम अँगरेजी गवर्नर जेनरल। तब यह हिन्दुस्तान सोने की चिड़िया थी जिस हर यूरोपीय साम्राज्यवादी देश बहेलिए की ललचाई निगाह से देखा करता था। व्यापारी बन कर आयी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दूकान टूट चुकी थी, उसका दिवाला पिट चुका था और उसकी बागडोर इंगलैंड की सरकार ने अपने हाथों में ले ली थी। सन् १७७२ में इस आशय का एक कानून भी ब्रिटिश पार्लियामेंट ने बना लिया था। इसी कानून के अनुसार शासन की रस्सी गवर्नर जेनरल को सौंप दी गयी थी। बंबई और मद्रास के गवर्नर उसके मातहद कर दिये गये थे। गवर्नर जेन-रल का खास-मुकाम चुना गया था कलकत्ता।

और अँगरेजों की नजर में वारेन हेस्टिंग्स बहुत काबिल समझा जाता था, इसकी भी अपनी एक कहानी है।

हेस्टिंग्स बहुत बचपन में ही अनाथ हो गया था। अत: ऊँची शिक्षा वह न पा सका। आक्सफोर्ड में पढ़ने का उसका सपना, सपना ही बना रह गया और

उसकी शिक्षा वेस्ट मिस्टर में ही हुई। सबसे पहले, ईस्ट इंडिया कम्पनी में वह एक मामूली क्लर्क की हैसियत से भरती हुआ था। लेकिन जब कम्पनी के पाँव डगमगाये तो हेस्टिंग्स ने अपनी स्थिति मजबूत बना ली। कलकत्ता में सिराजुद्दौला के दरबार में गवर्नर की हैसियत से उसे अस्थायी रूप से रखा गया। लेकिन शीघ्र ही उसे मीरजाफर के समय से रेजीडेन्ट बना दिया गया। इसी दौरान वह भारत के नवाबों की खोखली और संकटकालीन स्थिति का लाभ उठा कर चुपचाप, गुप्त रूप से अतुल सम्पत्ति इकट्ठा करता रहा। १७६४ में इंग्लैंड वापस जाकर उसने शान-शौकत से वहीं रहने का कार्यक्रम बनाया। अब उसके पास काफी धन था, अतः और कोई नौकरी करना उसने आवश्यक न समझा। लेकिन अँग्रेजी सरकार उसकी सेवाओं का महत्व जानती थी और १७६८ में उसे मद्रास के गवर्नर की कौंसिल का सदस्य बना कर फिर से भारत भेजा गया। पर भारत आते-आते वह कलकत्ता का गवर्नर बन गया; फिर १७७२ में गवर्नर जेनरल।

गवर्नर जेनरल के रूप में उसने जो अपनी कौंसिल बनायी उसके चार सदस्य थे—बारवेल, जेनरल ल्कवरिंग, कर्नल मानसन और फिलिप फ्रैंसिस। इनमें केवल बारबेल को छोड़ कर बाकी तीनों ही भारत के लिए अजनबी थे। और इन्हे हेस्टिंग्स के काम करने के तरीके पसन्द न थे और शीघ्र ही इनका उससे झगड़ा हो गया। हेस्टिंग्स को झंझट उठानी पड़ी। वह एक हद तक ही कौंसिल के खिलाफ कदम बढ़ा सकता था। आखिर विवश होकर हेस्टिंग्स ने अपने पद से इस्तीफा देने का निश्चय कर लिया और इस आशय का पत्र भी इंगलैंड भेज दिया। लेकिन वह था किस्मतवाला। किस्मत की ही बात थी कि १७७४ में अवध के नवाबों और मराठों में ठन गयी। तत्काल ही हेस्टिंग्स ने एक समझौते के अनुसार नवावों को मदद देने का वायदा किया। नवाब भी परेशान थे और चाहते थे कि चाहे अँग्रेजी फौज की ही मदद से सही, किसी तरह रोहिल्ला राज्य को फतह करते। अँग्रेजों की मदद से अवध की जीत तो हुई पर तभी हेस्टिंग्स के विरोधी तीनों कौंसिल के सदस्यों ने कुछ प्रमाण इकट्ठे किए और हेस्टिंग्स पर नवाब से घूस खाने का अभियोग लगाया। अब तो हेस्टिंग्स और उसकी कौंसिल के सदस्यों में जोरों की ठन गयी। सरकारी जाँच-पड़ताल तो हुई पर हेस्टिंग्स का दोष सिद्ध न हो सका। इसी बीच कर्नल ल्कवरिंग की मौत हो गयी। तब कौंसिल का एक नया सदस्य आया, ह्वेलर। वह हेस्टिंग्स का पक्षपाती था और अब कौंसिल में हेस्टिंग्स का विरोध निर्बल हो गया।

१७७७ में बंबई की छोटी-सी अँग्रेजी हुकूमत पर मराठों ने हमला कर दिया। हेस्टिंग्स ने उनके दमन की योजना बनायी तभी दूसरी तरफ मैसूर का राजा हैदरअली मद्रास पर चढ़ बैठा। पूरा कर्नाटक उसने अँग्रेजों से छीन लिया। अँग्रेजों के पाँव एक बार फिर उखड़ गये। हेस्टिंग्स भारी झंझट में फँसा। हैदरअली से लड़ने में उसे लोहे के चने चबाने पड़े थे। हेस्टिंग्स ने किसी तरह बम्बई तो बचा ली मद्रास पर हाथ से जा ही रहा था कि तभी दैवी मार हुई और १७७८ में हैदरअली की अचानक मौत हो गयी। उसकी मृत्यु से मद्रास अँगरेजों के हाथ से जाते-जाते बच गया। संघर्ष तो किसी तरह टला पर भारत में अँगरेजी सत्ता के पास धन बिल्कुल न रह गया था। बंबई और मद्रास की रक्षा करने में अँगरेजों का खजाना खाली हो चुका था। उस समय तक बनारस के राजा कम्पनी से लिये धन के कर्जदार बने थे और इसी धौंस में उन्हें इच्छा न रहने पर भी १७७८, १७७९ और १७८० में तथा अवध की लड़ाई के समय अँगरेजों की आर्थिक मदद करनी पड़ी थी। अब फिर हेस्टिंग्स ने उनसे मदद माँगी। परेशान होकर राजा बनारस ने अधिक कुछ भी देने से इन्कार कर दिया। नाराज होकर हेस्टिंग्स ने उन पर पाँच लाख पौंड का जुरमाना लगा दिया। राजा ने जुरमाना देने से इन्कार किया। तब हेस्टिंग्स खुद राजा को गिरफ्तार करने बनारस पहुँचा। लेकिन बनारस के राजा की प्रजा ने फौज बना कर हेस्टिंग्स को राज्य में घुसने से रोक दिया। जम कर लड़ाई हुई। अंत में राजा को हार सहनी पड़ी और फलस्वरूप गद्दी भी छोड़नी पड़ी। बनारस पर भी यूनियन जैक फहराया।

बनारस के बाद हेस्टिंग्स की मनहूस निगाह अवध की ओर घूमी। बनारस के बाद अवध! अवध के नवाद मर चुके थे और उनका शहजादा उनका उत्तराधिकारी बना। उसकी माँ और दादी जो अवध की बेगमों के नाम से प्रसिद्ध थीं, ने किसी तरह अवध के खजाने और भूमि को बचाये रखा था। हेस्टिंग्स ने उनसे भी धन की माँग की। उन्होंने नाबालिग शहजादे के नाम से कौंसिल में फरियाद की। कौंसिल की राय थी कि असहाय बेगमों को अधिक न सताया जाय। पर हेस्टिंग्स ने उनकी राय की अवहेलना की और फरवरी १७८३ तक पाँच लाख पौंड उन्हें रुला-रुला कर वसूल कर ही लिया। कौंसिल को सूचना थी कि हेस्टिंग्स ने बेगमों के तीस लाख पौंड वसूले हैं। यों दिखावे के तौर पर हेस्टिंग्स ने एक लाख पौंड नजराने व उपहार के रूप में लिया था जिसे भी कौंसिल हिसाब में रखना चाहती थी।

इसी समय एक और घटना घटी । १७८० में दिनाजपुर के राजा की मौत के बाद हेस्टिंग्स ने देवी सिंह नामक एक व्यक्ति को वहाँ का शासक नियुक्त किया । यह देवीसिंह एक धोखेबाज और बदमाश व्यक्ति था । उसे न तो वहाँ की जनता ही चाहती थी न कम्पनी का रेजीडेंट । देवीसिंह को कलकत्ता बुलाया गया । उसे कौंसिल के सामने हाज़िर होना पड़ा । जाँच हुई, प्रमाण जुटाये गये और हेस्टिंग्स की अवहेलना करके कौंसिल ने देवीसिंह को पदच्युत किया ।

इन सभी घटनाओं और प्रबन्धीय संघर्ष की खबरें बराबर इंगलैंड पहुँचती रहीं । मामला बढ़ते देख कम्पनी के डायरेक्टरों की सभा हुई । उन्होंने तथा तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री लार्ड नाथ ने भी हेस्टिंग्स की कारतूतों को पसन्द न किया और उसके विरुद्ध फैसला दिया । इसे हेस्टिंग्स ने अपना भयानक अपमान समझा और इस्तीफा दे दिया । लेकिन बाद में पता लगा कि इंगलैंड में कम्पनी के डायरेक्टर और सरकार ने पहले ही १७८१ में, हेस्टिंग्स के कारनामों की वास्तविकता जानने के लिये दो-दो जाँच-कमेटियाँ बैठा दी थीं । एक खुली कमेटी—जिसका एक सदस्य वरके भी था और दूसरी एक गुप्त कमेटी जिसका अध्यक्ष डुन्डास था—दोनों ही कमेटियों की रिपोर्ट हेस्टिंग्स के खिलाफ थी । लेकिन यहाँ भी हेस्टिंग्स की तकदीर ने जोर मारा । उसका मित्र और उस पर कृपा रखने वाला एकिंघम मार्च १७८२ में प्रधान मंत्री बना । उसने हेस्टिंग्स का मामला दबाना चाहा । अब तक बरके भी एक मंत्री बन चुका था । उसने इस्तीफे की धमकी दी, अगर मामला दवाया गया तो । फलस्वरूप पूरी पार्लियामेंट के सामने डुन्डास ने हेस्टिंग्स की बुराइयों का बखान करते हुए एक भाषण दिया । ३० मई १७८२ को पार्लियामेंट ने एकमत हो कर यह निश्चय किया कि हेस्टिंग्स से सारे अधिकार वापस ले लिये जाएँ । फिर भी कागजात दबाये गये । अगले वर्ष डुन्डास ने फिर बात उठायी । बरके ने भी अपनी ताकत लगा दी । भारत को लेकर यह मामला काफी तूल पकड़ गया और बादशाह जार्ज तीसरे ने स्थिति सुधरती न देख कर तत्कालीन मंत्रिमण्डल को ही तोड़ दिया और पिट नया प्रधान मंत्री बनाया गया । पिट के नये मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य डुन्डास भी था ।

फिर १७८४ की ३० जुलाई को बरके ने हेस्टिंग्स और अवध की बेगमों से सम्बन्धित सारे कागजात पार्लियामेंट में पेश किये । प्रधान मन्त्री पिट चाहता था कि इस मामले पर खुली बहस न हो । लेकिन तभी १७८५ में हेस्टिंग्स ने अवकाश ग्रहण किया और जब वह इंगलैंड वापस गया तो उसका बड़ा जोरदार

स्वागत हुआ। २५ जून १७८५ को बरके ने पार्लियामेंट के सामने प्रस्ताव रखा कि हेस्टिंग्स के मामले पर खुली बहस होनी चाहिये। लेकिन किसी कारणवश पार्लियामेंट आगे न चल सकी और मामला आते-आते फिर रुक गया।

अगले साल ४ अप्रैल को पार्लियामेंट में मेजर स्काट ने, जो हेस्टिंग्स का गहरा मित्र था, बात उठायी कि यह मामला उठाना अवैधानिक है। बरके ने उसी समय एक बाईस सूत्री अभियोगनामा पेश किया। हेस्टिंग्स ने जवाब देने का समय माँगा और काफी तैयारी के बाद वह पार्लियामेंट में हाजिर हुआ। वह कोई अच्छा लेक्चरबाज तो न था अत: अपनी सफाई में उसने जो लम्बा-चौड़ा जवाब वहाँ पढ़ना शुरू किया तो सभी सुनने वाले ऊब गये। हवा का रुख हेस्टिंग्स के खिलाफ था और १ जून १७८६ को बरके ने यह अभियोग लगाया कि रोहिल्ला राज्य के विरुद्ध अँगरेजी फौज भेजना गलत था। १३ जून को उसी ने बनारस के मामले को उठाया और इन दोनों विषयों पर पूरे साल भर तक बहस चलती रही। १० मई १७८७ को निश्चय हुआ कि हेस्टिंग्स का खुला मुकदमा हो। पार्लियामेंट की ओर से बरके, फाक्स और शेरीडन वकील नियुक्त हुए। हेस्टिंग्स की वकालत ला, प्लूसर और डालास ने की।

१३ फरवरी १७८८ को वेस्ट मिंस्टर हाल में यह ऐतिहासिक मुकदमा शुरू हुआ। अप्रैल १७९५ के अंत तक यह मुकदमा चलता रहा। कुल १४८ दिन बहसें हुईं।

हेस्टिंग्स के इस मुकदमे की सर्वत्र चर्चा रही। जब जजों के पीछे वकील लोग जुलूस बना कर वेस्ट मिंस्टर हाल में आते थे तो वह दृश्य देखते ही बनता था।

एक कानूनी मुकदमा न लग कर वह विश्व रंगमंच पर होने वाला एक महत्वपूर्ण नाटक लगता था।

मुकदमे का प्रारम्भ भी सचमुच बड़ा नाटकीय था। हेस्टिंग्स को सर्वप्रथम अदालत के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा। जजों की समिति के अध्यक्ष थे लार्ड थरलो। दो दिनों तक अपराधों की सूची पढ़ी गयी। बनारस, अवध की बेगमों, घूसखोरी, गलत कागज बनाना, गलत दस्तावेज, गलत तरीकों से उपहार स्वीकार करना, सरकारी सम्पत्ति का गबन ! सब कुछ भयानक !

१५ फरवरी १७८८ को बरके ने प्रारम्भ किया। लगातार चार दिनों तक

वह भारत की तत्कालीन परिस्थिति और इतिहास और हेस्टिंगस के कारनामों पर ही भाषण देता रहा।

१८ फरवरी को भाषण समाप्त करते हुए बरके ने कहा......

......"मैं अभियोग लगाता हूँ कि हेस्टिंग्स ने अपने निजी स्वार्थ और लाभ के लिए सरकार के सारे नियमों का उल्लंघन किया जिसका उसे कोई अधिकार न था।"

........."मैं अभियोग लगाता हूँ कि हेस्टिंग्स ने पार्लियामेंट द्वारा प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग किया।"

........."मैं अभियोग लगाता हूँ कि राज्य चलाने के लिए उसने जो समितियाँ बनायीं और जिन पर प्रति वर्ष ६२,००० पौंड खर्च किया वे उसके पिट्ठुओं से भरी थी।"

........."मैं अभियोग लगता हूँ कि उसने गंगा गोविन्द सिंह से घूस खाया।"

........."मैं अभियोग लगाता हूँ कि उसने जिससे भी घूस खाया, बाद में उन्हें ही लूटा और बरबाद किया।"

........."मैं अभियोग लगाता हूँ कि उसने बड़ी निर्दयता से, बेबस विधवा बेगमों और रानियों के राज्य हड़पे।"

........."मैं अभियोग लगाता हूँ कि उसने बिना किसी कारण या हक के, बिना खरीदे, अनाथ राजकुमारों के राज्य हड़पे और अपने पिट्ठुओं को दे दिये जो बुरे और बदमाश लोग थे।"

........."मैं अभियोग लगाता हूँ कि उसने एक नाबालिग राजा के राज्य को गलत तरीके से हथिया लिया और उसका राज्य दलाल और बहुत बदनाम आदमी देवी सिंह को दे दिया।"

........."मैं अभियोग लगाता हूँ कि देवी सिंह के माध्यम से उसने तीन सूबों के शासन को बरबाद किया, सरकारी जमीन का नुकसान किया, कर की वसूली चुरायी, किसानों को वर्बरतापूर्वक सताया, किसानों के घर जलाये, किसानों की फसलें लुटीं, उन्हें मारा-पीटा, उनका अपमान किया और उस देश की तमाम नारी जाति की इज्जत के साथ शर्मनाक और बेरहम खेल किया।"

..........“मैं अभियोग लगाता हूँ कि हेस्टिंग्स ने अपने अमानुषिक कारनामों तथा निर्दयता के कारण समस्त अँगरेज जाति के चेहरे पर कालिख पोती है जो अक्षम्य अपराध है।”

और इतने अभियोग लगाने के बाद बरके ने आगे कहा—

..........“मैं अभियोग लगाता हूँ कि वारेन हेस्टिंग्स एक हत्यारा और अपराधी है और आदमी की शक्ल में हैवान है।”

.......“मैं अभियोग लगाता हूँ कि उसने समस्त अंग्रेजी पार्लियामेंट की प्रतिष्ठा को बिगाड़ा है और उसके साथ विश्वासघात किया है।”

..........“मैं अभियोग लगाता हूँ कि महान देश इंगलैंड की महान जाति के महान चरित्र को उसने बदनाम किया है।”

..........“मैं अभियोग लगाता हूँ कि हिन्दुस्तान के निवासियों को कानूनी अधिकार और सम्मान से उसने वंचित किया है। उनकी जमीन-जायदाद को बरबाद किया है। उनके देश को बिगाड़ा है।”

..........“मैं अभियोग लगाता हूँ कि इस प्रकार के अमानुषिक कृत्यों को करने में उसने साधारण मनुष्यता को भी नहीं निभाया।”

..........“मैं अभियोग लगाता हूँ कि उसने समस्त मानवता का अपमान किया है, उसने महिलाओं की इज्जत बिगाड़ी है, उनके चरित्र को भ्रष्ट किया है, उनकी आत्मा को सताया है और पशुता दिखाने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी।”

बरके के इस भाषण का गहरा प्रभाव रहा। लेकिन वह केवल अच्छा भाषण भर दे सका और अपने पक्ष में कानूनी बातें न उठा सका। वह भाषण करते समय खुद भी भावना में बहने लग जाता था। यह काम तो वकीलों का होता है और बरके कोई वकील तो था नहीं।

और बरके के बाद फाक्स उठा। उसने बनारस के राजा के साथ हेस्टिंग्स के कारनामों की चर्चा की। हेस्टिंग्स की ओर से कुछ बड़े पेशेवर वकील वकालत कर रहे थे। कानून की बारीकियों को जानते थे। उन्होंने भी बीच-बीच में कई आपत्तियाँ उठायीं। बहस चली। हेस्टिंग्स के वकीलों ने भी लगाये गये एक-एक अभियोग का खूब जम कर भरपूर उत्तर दिया।

चौदहवें दिन की बहस चलायी शेरीडन ने। यह अदालत उठने का दिन था। लेकिन अब तक इस मुकदमे को लेकर काफी चर्चा शुरू हो गयी थी तथा जनता भी इसमें काफी दिलचस्पी लेने लग गयी थी।

३ फरवरी १७८९ को जब फिर से मामला खुला तब हेस्टिंग्स की ओर से एक दरख्वास्त पेश हुई कि जिस गति से मुकदमा हो रहा है उससे धन और समय दोनों बहुत लग रहे हैं अतः कुछ अधिक शीघ्रता से कार्य बढ़ना चाहिये। अब फौजी खर्चों पर बहस चली जो बहुत दिलचस्प सिद्ध हुई। २१ अप्रैल १७८९ को बरके ने फिर मुँह खोला और इस बार उसने हेस्टिंग्स द्वारा सैकड़ों लाख रुपयों का उपहार लिये जाने की चर्चा करके उसकी भर्त्सना की। ७ मई को अपने वक्तव्य में उसने कहा, "नंदकुमार की हेस्टिंग्स ने सर इलीजा इम्पी के हाथों निर्मम हत्या करायी।" इस बात को लेकर काफी बड़ा व भयानक वाक-युद्ध हुआ और अन्त में अदालत ने आज्ञा दी कि इस विषय पर आगे बहस न हो। हेस्टिंग्स के वकीलों के पास तो कुछ था नहीं इसीलिये वे तरह-तरह से बरके को खिझा रहे थे कि वह नाराज होकर चुप हो जाय और बरके का वे अपमान भी कर देते थे पर वह भी कम जिद्दी न था। उसने कहा कि वह अंत तक लड़ाई बन्द न करेगा।

जून आ गया। हेस्टिंग्स की ओर से जवाबनामा पेश हुआ। १० जून को बरके ने उत्तर में केवल इतना ही कहा कि हेस्टिंग्स का उत्तर वैसा ही है जैसे घोड़े के आगे गाड़ी जोती जाये। सात जुलाई को बरके को आगे गवाह पेश करने से रोक दिया गया। आठ जुलाई को फिर पार्लियामेंट बरखास्त हो गयी। उस दिन भी हेस्टिंग्स ने फिर एक बार प्रत्यन किया कि अपने को वह निर्दोष सिद्ध कर सके।

सन् १७९० की फरवरी में फिर से मुकदमा खुला। इस बार हेस्टिंग्स द्वारा घूस खाने के अभियोग पर ही मुख्यतया बहसें चलीं। सात, आठ और नौ जून को, फाक्स ने बहस जारी रखा। लेकिन अब तक लोग मुकदमे की रूखी-सूखी बहसों से काफी ऊब गये थे। अभी जब बहसें ही हो रही हैं तो जवाब में जाने कितने दिन लगें। इसीलिये जजों की ओर से आगे अभियोग लगाने पर रोक लगा दी गयी। जून में ही अदालत उठ गयी और फिर सारी कार्यवाही साल भर के लिये सो गयी।

अब असली झंझट पैदा हुई। १७९० की दिसम्बर में पार्लियामेंट स्थगित

होने के बाद दूसरी बार जब पार्लियामेंट बैठी तो किसी ने यह प्रश्न उठा दिया कि अभियोग लगाने का समय तो पिछली पार्लियामेंट के साथ ही समाप्त हो गया था। अजीब पेचीदा और बुनियादी सवाल था। इसमें पार्लियामेंट में दो राय हो गयी। जजों और वकीलों ने विरोधी पक्ष लिया। सरकार के प्रमुख वकील की भी राय थी कि अभियोग लगाने का क्रम अब समाप्त हो गया है और अब आगे की ही कार्यवाही होनी चाहिये। बाद में पता लगा कि इसके लिये भी हेस्टिंग्स की ओर से खूब घूस खिलायी गयी थी।

बहुत गरमागरम और लम्बी बहस के बाद तय हुआ कि आगे अभियोग लगाये जा सकते हैं, अतः २३ मई को सेंट जान ने भाषण शुरू किया। ३० जून तक कहीं उसका भाषण समाप्त हो सका। फिर २ जुलाई को हेस्टिंग्स ने अपनी सफाई पेश की। उस वर्ष फिर आगे कोई कार्यवाही न हो सकी।

१४ जुलाई १७९२ को हेस्टिंगस की ओर से लॉ ने सफाई देनी शुरू की। बाद में उसी को फ्लूमर ने आगे बढ़ाया। दोनों ने मिल कर आठ दिन लगाये। १ मई १७९२ से सफाई की गवाही शुरू हुई। अब कम्पनी के मैनेजरों की बारी थी कि वे अपनी राय देते पर वे अधिक प्रभाव न दिखा सके।

अब तक कई खण्डों में मिला कर हेस्टिंग्स पर कुल १२१ अभियोग लगाये जा चुके थे।

मुकदमे की लम्बाई के कारण उसमें अब शिथिलता आने लगी थी, लोग ऊबने लगे थे। एक-एक करके बरके के साथी भी उदासीन होने लगे और दूसरी ओर हेस्टिंग्स ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव और दौलत के जोर पर सैकड़ों ऐसे गवाह पेश करने शुरू किये जो भारत भी हो आये थे। स्वभावतः अब सभी गवाहियाँ हेस्टिंग्स के पक्ष में ही जा रही थीं। पार्लियामेंट के बाहर भी प्रचार करके हेस्टिंग्स ने जनमत अपने पक्ष में कर लिया था। भारत से वापस आये सभी गवाह हेस्टिंग्स का ही साथ दे रहे थे।

अगली फरवरी में बनारस, अवध की बेगमों, घूसखोरी, गलत तरीकों से सरकारी धन का दुरुपयोग आदि प्रमुख अभियोगों पर फिर से गवाहियाँ और जिरह शुरू हुई। १६ जून १७९४ को बरके ने अन्तिम भाषण दिया और बाद में उसने सदा के लिये पार्लियामेंट को तिलांजलि दे दी। पिट ने पार्लियामेंट के प्रति आभार प्रकट करते हुए धन्यवाद-भाषण भी दे डाला।

अब जजों ने अपनी रिपोर्ट तैयार की। उस रिपोर्ट की जाँच के लिये भी एक कमेटी बनायी गयी। बरके की अनुपस्थिति के कारण लोगों को हेस्टिंग्स के पक्ष में छब्बीस मत मिले और विपक्ष में छः। हर अभियोग पर जब अलग-अलग मत लिये गये तब भी हेस्टिंग्स बेकसूर माना गया। अन्त में २३ अप्रैल १७९५ को पूरे आठ साल चलने वाले इस मुकदमे के नाटक का अन्त हुआ और हेस्टिंग्स बेकसूर ठहराया गया।

सबको पार्लियामेंट के इस फैसले पर आश्चर्य था कि इतने सबूत रहने पर भी हेस्टिंग्स बिल्कुल निर्दोष कैसे सिद्ध हो सका!

सरकारी वकील ने मुकदमे की पैरवी का बिल बनाया ६१,६९५ पौंड। अदालत ने १६,९९६ पौंड को मान्यता दी। प्रतिवादी पक्ष का भी ७१,०८० पौंड खर्च हुआ।

मुकदमे के खर्चों को लेकर भी काफी चख-चख मची और कम्पनी के डायरेक्टरों ने हेस्टिंग्स को उसके कारनामों के लिये पुरस्कार स्वरूप ४,००० पौंड प्रतिवर्ष की पेंशन बाँध दी। इस पेंशन को अपनी जेब में रख कर हेस्टिंग्स जा कर अपने गाँव में रहने लग गया।

१८१३ में जब कम्पनी और अँगरेजी सरकार के बीच नये समझौते की बात चली तब वारेन हेस्टिंग्स की फिर जरूरत पड़ी। इस समय हेस्टिंग्स की उम्र ८१ वर्ष की थी। जब वह पार्लियामेंट में आया तो पूरी पार्लियामेंट ने उठ कर उसका स्वागत किया और हर्षध्वनि की। अगले ही वर्ष अँग्रेजी राज्य के प्रति उसकी वफ़ादारी के सम्मान में उसे प्रिवी कौंसिल में ले लिया गया।

१८१८ में वारेन हेस्टिंग्स की मौत हुई।

हेस्टिंग्स के मुकदमे के समय उस पर जो इतने सारे अभियोग लगाये गये थे, उनमें कहाँ तक सचाई थी और कहाँ तक सचाई को मान्यता मिली, इसे आँखों से देखते हुए भी लोग किसी निर्णय पर न पहुँच सके। हेस्टिंग्स द्वारा असहाय भारतीय नवाबों, राजाओं और विधवा बेगमों पर किये गये अमानुषिक अत्याचारों को जी-जान लड़ाकर भी बरके और उसके साथी सिद्ध न कर सके। सारे सबूतों की मौजूदगी में भी दोष क्यों सिद्ध न हो सका, ये तमाम प्रश्न लोगों के मन में ही रह गये। इससे कम-से-कम इतना तो सिद्ध हुआ ही कि अँगरेजी समाज और शासन की चोटी पर बैठने वाले महान न्यायप्रिय अँगरेजों पर

हेस्टिंग्स का बुरी तरह प्रभाव छाया था और नैतिकता की बात को एक ओर हटा कर न्याय की दृष्टि से वह निर्दोष सिद्ध तो हुआ ही, उसकी सेवाओं के प्रति अँगरेज जाति ने सम्मान भी प्रदर्शित किया। बाधाओं और मुश्किलों से जूझ कर, न्याय-अन्याय का ध्यान न रख कर हेस्टिंग्स ने भारत में ब्रिटिश राज्य की जड़ों को मजबूत करने में कुछ उठा नहीं रखा। इसे क्या अँगरेज जाति कभी भूल सकती थी?

इसीलिये ब्रिटिश इतिहास में हेस्टिंग्स का बड़ा महत्व माना गया है। वह एक आदर्श अँगरेज माना गया। अँगरेजों ने भारत के बाजारों की जो लूट दो सौ वर्षों तक की, उसका दरवाजा तो हेस्टिंग्स ने ही खोला था। किसी राष्ट्र के इतिहास में अमरत्व पाने के लिये क्या इतना कम था?

□ □ □

चाहे इतिहास की दृष्टि में बरके और शेरीडन आयोग्य हों, चाहे भारत के प्रति दया की दृष्टि रखने वाले अँगरेज महत्वहीन समझे गये हों पर अँगरेजी जनता को दो सौ वर्षों तक इतने बड़े भूखण्ड का जिसने मालिक बना रखा हो, वह क्या उस जाति-विशेष के लिये फरिश्ता न समझा जायेगा?

ऐसे ही मौके पर न्याय की बात को भूल जाना कूटनीति कही जाती है।

[सन् १९६०]

भुवाल संन्यासी का मामला

यह एक अजीब कहानी है !

मरने के बाद, चिता पर सुला दिए जाने के बाद भी वह जी उठा। जी ही नहीं उठा, अपनी जायदाद के लिए मुकदमा भी लड़ा। पर वह क्या वही व्यक्ति था, जिसे एक दिन वे लोग चिता पर सुला कर आग लगा आये थे, या वह कोई दूसरा ही व्यक्ति था ?

□ □ □

कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति सर एल० डब्लू० जे० कॉसटेलों ने, जिन्होंने भुवाल संन्यासी के मामले की अपील सुनी थी, अपने फैसले में कहा था, "निसंदेह यह मामला बहुत दिलचस्प और असाधारण है, जैसा इस देश की अदालत और सम्भव है कि विश्व को किसी भी अदालत के सामने कभी नहीं आया। यह कहना गलता न होगा कि कानून के इतिहास में यह मामला अद्वितीय है।"

यही नहीं, प्रीवी काउंसिल में इसी मामले की बहस के समय विश्व-विख्यात

वकील मिस्टर प्रिट ने भी कहा था कि ऐसा अजीबोगरीब मामला उन्होंने कभी नहीं देखा। यह केवल भारत में ही सम्भव हो सकता था।

यह मामला था बंगाल प्रान्त के सबसे धनी जमींदार का, जिसकी मृत्यु के बाद उसका विधिपूर्वक दाह संस्कार भी हुआ था और वहीं मृतक बारह वर्षों बाद बड़े नाटकीय ढंग से फिर आ उपस्थित हुआ था। तब उसकी दादी और बहन ने उसे पहचाना था, पर उसकी पत्नी ने उसे पहचानने से साफ इन्कार कर दिया था और उसे बनावटी आदमी कहा था। तब अपनी पहचान को, अपने आपको वास्तविक सिद्ध करने के लिए उसे जिला कचहरी से लेकर प्रीवी काउंसिल तक मुकदमा लड़ना पड़ा था और प्रीवी काउंसिल ने उसके पक्ष में निर्णय दिया था। १९४६ की जुलाई में प्रीवी-काउंसिल से अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध घोषित होने के दो दिन बाद फिर वह सचमुच मर गया था।

□ □ □

किस्सा यों है........

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के वर्षों में, पूर्वी बंगाल की एक बड़ी जमींदारी थी। इसका नाम था भुवाल राज और उसके राजा का नाम था—राजेन्द्र नारायण राय चौधुरी। इस जमींदारी की तब, पहले महायुद्ध के पहले, लगभय दस लाख रुपये की वार्षिक आय थी। राय चौधुरी महाशय की पत्नी रानी बिलासमणि देवी से तीन पुत्र और तीन पुत्रियों ने जन्म पाया।

पुत्रों के नाम थे रणेन्द्र नारायण, रमेन्द्र नरायण व रवीन्द्र नारायण। वे बड़े कुमार, मँझले कुमार और छोटे कुमार के नाम से प्रसिद्ध थे।

यही द्वितीय कुमार, मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण ही इस कथा के नायक हैं।

तीनों पुत्रियों के नाम थे—इन्दुमयी, ज्योतिर्मयी और तारिनमयी।

राजा राजेन्द्र नारायण की माँ रानी सत्यभामा देवी तो १९२२ के अन्त तक जीवित रहीं।

यह राज-परिवार ढाका से बीस मील दूर जयदेवपुर में आलीशान महल में रहता था। राजमहल की सजावट, कीमती सामान, बड़े-बड़े कमरे दर्शनीय थे। यही नहीं, जलसाघर (महफिल), संगीतघर, घोड़ों व हाथी के लिए अस्तबल

और एक छोटा-मोटा चिड़ियाघर भी था। नौकरों, दास-दासियों की पूरी पलटन थी। महल के निवासियों की देख-भाल के लिये एक डाक्टर भी स्थायी रूप से वहीं रहता था।

ऐसे शाही वातावरण में तीनों कुमारों का पालन-पोषण हुआ था। लम्बी तनख्वाहों वाले मास्टरों की भी कमी न थी, पर तीनों राजकुमार अधिक शिक्षा न पा सके। हाँ, बस वे इतनी शिक्षा अवश्य पा सके थे कि बंगाली व अंग्रेजी भाषा में हस्ताक्षर कर सकते थे। इससे अधिक पढ़ने की उन कुमारों को आवश्यकता भी क्या थी?

सन् १६०१ में राजा राजेन्द्र नारायण राय चौधुरी स्वर्गवासी हुए। तब कुमार रमेन्द्र नारायण केवल सत्रह साल के थे।

जवानी के दरवाजे पर खड़े कुमार के ऊपर से पिता का अंकुश भी उठ गया। अब तो किसी का डर भी न था। अभी तक पिता के जीवन-काल में जो कुछ लुक-छिप कर होता, अब खुले आम, भरे बाजार होने लगा। औरत.... ....शराब............औरत.........

शाम और रात महफिलों में बीतती और दिन सोने में बीतता। सबेरे का का थोड़ा समय अस्तबल के घोड़ों की देख-रेख में भी जाता, क्योंकि कुमार साहब को घुड़सवारी का भी बड़ा शौक था।

१६०२ में कुमार रमेन्द्र नारायण की शादी हुई। पत्नी का नाम था विभावती देवी। तेरह-चौदह साल की वह तरुणी अद्वितीय सुन्दरी थी, अतुलनीय सौंदर्य की मालकिन। लेकिन विभावती देवी की सौंदर्य-राशि भी कुमार रमेन्द्र का रवैया न बदल सकी। वे तो पूर्ववत् पराई औरतों के संग रात काटने में व्यस्त रहते।

और वही हुआ जो ऐसे मामलों में अधिकांश होता है। दो वर्ष बाद अचानक कुमार रमेन्द्र कई भयानक व बुरी बीमारियों के शिकार हो गये।

१६०७ में रानी विलासमणि देवी अपने बेटों के भविष्य की चिन्ता करती हुई अचानक स्वर्ग के रास्ते चली गयीं और अब तीनों भाइयों को पूरी आजादी मिल गयी।

एक वर्ष भी और न बीता कि कुमार रमेन्द्र को लगी गुप्त-बीमारियों ने

अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया। कुमार साहब का जीवन दुशवार हो उठा।

१६०८ के प्रारम्भ में ही कुमार साहब इलाज कराने को कलकत्ता जा बसे। उनकी पत्नी के भाई सत्येन्द्रनाथ बनर्जी भी अपने जीजा की देख-रेख के लिए साथ आये। इलाज शुरू हुआ। डाक्टरों की जेबें भरने लगीं कि अचानक कुमार साहब को जयदेवपुर वापस जाना पड़ा। फरवरी १६०६ में ही, अधूरा इलाज छोड़ कर। ब्रिटिश कमाण्डर-इन-चीफ ढाका पधार रहे थे। कुमार साहब की उपस्थिति आवश्यक थी।

कुमार रमेन्द्र के साले और सखा सत्येन्द्रनाथ बनर्जी अब तक केवल २३ वर्ष के थे और कलकत्ता में कानून का अध्ययन कर रहे थे। अपने जीजा का कष्ट उनसे देखा न गया। डाक्टरों से राय ले कर उसने जीजा को सलाह दी कि उन्हें दार्जिलिंग जा कर रहना चाहिए, वहाँ की आबोहवा उसके लिए उपयोगी सिद्ध होगी। मँझले कुमार ने सलाह मान ली और दार्जिलिंग जाने को तैयार हो गये।

बेचारे सत्येन्द्रनाथ को अपनी कानूनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी। कुमार साहब के सचिव मुकुन्द बाबू के साथ वे स्वयं ही व्यवस्था के लिए दार्जिलिंग गये।

सत्येन्द्रनाथ और मुकुन्द बाबू ने दार्जिलिंग में कुमार रमेन्द्र के लिए जो शानदार बँगला चुना, उसका नाम था 'स्टेप एसाइड'।

वह बँगला 'स्टेप एसाइड' बाद में तो बड़ा ही प्रसिद्ध हुआ और एक तरह से ऐतिहासिक महत्व का भी हो गया था। क्योंकि बाद में इसे सर नृपेन्द्रनाथ सरकार ने खरीद लिया था और अपने अन्तिम दिनों में देशबन्धु चितरंजन दास यहीं आ कर रहे थे। महातमा गांधी और डा० एनी वीसेन्ट भी चितरंजन दास को देखने जा कर इसी बँगले में ठहरे थे और इसी बँगले में देशबन्धु का देहान्त भी हुआ था।

यह बँगला जब आवास के लिए निश्चित हो गया, तब १८ अप्रैल १६०६ को मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण अपनी पत्नी विभावती देवी और पारिवारिक डाक्टर, डा० आशुतोष दास गुप्त के साथ दार्जिलिंग के लिए रवाना हुए। संग में दास-दासियों का पूरा काफिला भी था।

दार्जिलिंग में अभी सब लोग ठीक से बस भी न पाये थे कि अचानक ६

मई को कुमार रमेन्द्र बुरी तरह बीमार पड़े। डा० आशुतोष दास गुप्त भी चिन्तित हो उठे। तब दार्जिलिंग के सिविल सर्जन लेफ्टीनेण्ट कर्नल कालवर्ट को भी बुलाया गया। साथ ही बड़े कुमार रणेन्द्र नारायण के पास जयदेवपुर इस आशय का तार भी भेजा गया कि मँझले कुमार के पेट में भयानक दर्द उठा है और खून के दस्त शुरू हो गये हैं। उनकी दशा बिगड़ती जा रही है। साथ ही बड़े कुमार को तत्काल दार्जिलिंग पहुँचने को भी लिखा गया।

जब जयदेवपुर तार पहुँचा तो बड़े कुमार साहब जलसाघर में नृत्य व संगीत के बीच इतने मशगूल थे कि उन्होंने छोटे भाई की बीमारी की खबर पर भी ध्यान न दिया। छोटे कुमार रवीन्द्र नारायण ने दार्जिलिंग जाने का निश्चय किया और वे ६ मई को प्रातः साढ़े आठ बजे की गाड़ी से जयदेवपुर से रवाना होने वाले थे कि सूचना मिली कि पूर्व-रात्रि में ही मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण का देहान्त हो गया। अतः छोटे कुमार ने यात्रा स्थगित कर दी।

दूसरे दिन, दस मई को बेचारी विभावती देवी अपने भाई सत्येन्द्रनाथ के साथ अपना सर्वस्व लुटा कर दार्जिलिंग से वापस लौटीं। जयदेवपुर में मातम छाया था और विभावती देवी की चीत्कार व विलाप से चतुर्दिक हाहाकार मचा था। जब भाई सत्येन्द्रनाथ ने बहन को सांत्वना देना चाहा तो बहन चीख पड़ी, "तुमने तो मुझे रानी बनाने को यहाँ ब्याहा था, पर आज मैं भिखारिन बन गयी हूँ।"

बेचारी विभावती देवी के दुख की सीमा न थी। रो कर उसने बताया कि दार्जिलिंग में उसे ठीक से अपने पति की सेवा भी नहीं करने दी गयी, न अन्तिम समय में उनके पास ही रहने दिया गया। विभावती देवी ने विलाप करते हुए यह शब्द शोकातुर होकर कहे थे, लेकिन एक चौथाई शताब्दी बाद ये ही शब्द मुकदमे के समय महत्वपूर्ण बयान के रूप में पेश किये गये।

दार्जिलिंग से जयदेवपुर वापस आ कर दुखी सत्येन्द्रनाथ ने रो-रोकर बड़े व छोटे कुमार से सविस्तार दार्जिलिंग की घटनाओं का वर्णन किया। उसने बताया कि कैसे अचानक छः मई को मँझले कुमार की बीमारी बढ़ती गयी और तमाम प्रयत्नों के बाद भी ८ मई की आधी रात को उनका देहान्त हो गया। दाह संस्कार नौ मई को सबेरे किया गया।

फिर अट्ठारह मई को स्वर्गीय मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण का श्राद्ध विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। तभी, जब श्राद्ध का कार्य हो रहा था, यह फुस-

फुसाहट फैली कि मँझले कुमार का दाह-संस्कार विधिपूर्वक नहीं हुआ। पुरोहित, पंडितों ने यह आपत्ति उठायी। पर मँझले कुमार तो अब इस दुनिया से जा ही चुके थे। घबराहट में दार्जिलिंग में जैसे भी बन पड़ा, दाह संस्कार भी किया ही गया था। फिर भी पंडित लोग अब जैसे भी चाहें अपनी विधि पूरी कर लें, इसी विचार से कुशा-पुतलिका संस्कार, यानी कुशा के बने पुतले का पुनः दाह-संस्कार विधि पूरी करने का निश्चय किया गया। पर जाने क्यों बाद में यह विचार भी त्याग दिया गया।

किसी तरह श्राद्ध भी सम्पन्न हुआ।

□ □ □

सत्येन्द्रनाथ का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। बल्कि उस बेचारे पर तो अब सच पूछा जाय तो जिम्मेदारियों का पहाड़ ही टूट पड़ा था। उसने पूरी तत्परता बरती।

सत्येन्द्रनाथ अपनी माँ को ढाका लिवा लाये और अपनी विधवा बहन पर माँ द्वारा जोर डलवा कर बहन को इस बात के लिये राजी कर लिया कि भविष्य में अपनी व जायदाद की सुरक्षा के लिये वह सत्येन्द्रनाथ को अपना कानूनी मुख्तार घोषित करे। बेचारी विभावती देवी को माँ की बात माननी ही पड़ी।

और कम उम्र विधवा बहन के संरक्षक बनने का भार बेचारे सत्येन्द्रनाथ को उठाना ही पड़ा।

४ नवम्बर १९०९ को कानूनी तौर पर विभावती देवी ने सत्येन्द्रनाथ को अपना मुख्तार घोषित किया।

मुख्तार का भार उठाने के साथ ही, ठीक दूसरे दिन ही, सत्येन्द्रनाथ ने बहन के हितों को ध्यान में रख कर पहला काम जो किया, वह यह कि स्काटिश यूनियन इन्श्योरेंस कम्पनी के पास मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण के जीवन बीमा के तीस हजार रुपयों का दावा पेश किया। बड़े व छोटे कुमार भाई की मृत्यु का शोक झेल चुके थे और अब वे फिर पूर्ववत शराब व मजलिस में व्यस्त हो गये थे। उसी व्यस्तता के बीच उन्होंने भी सत्येन्द्रनाथ को सहमति प्रदान कर दी।

और मँझले कुमार के देहान्त के दो वर्ष के भीतर-भीतर विभावती देवी के नाम पर सत्येन्द्रनाथ ने भुवाल राज से कई लाख रुपया निकलवा कर अपने कब्जे में कर लिया। फिर उसने अपनी बहन को समझाना शुरू कि बेहतर व ढंग की जिन्दगी बिताने के लिये जयदेवपुर छोड़ कर कलकत्ता जा कर बस जाना उचित है। बहन भला अपने शुभचिन्तक भाई और कानूनी मुख्तार की बात कैसे न मानती! ११ अप्रैल १९११ को सदा के लिये जयदेवपुर की ड्योढ़ी को त्याग कर विभावती देवी भाई सत्येन्द्रनाथ के साथ कलकत्ता चली गयीं।

इसके पूर्व, १९१० के अक्टूबर में बड़े कुमार रणेन्द्र नारायण का भी देहान्त हो गया था और तीन वर्ष बाद छोटे कुमार रवीन्द्र नारायण भी स्वर्गवासी हो गये।

बड़े कुमार व छोटे कुमार के भी कोई सन्तान न थी। अतः जयदेवपुर का प्रसिद्ध राज-परिवार अब केवल विधवाओं का परिवार हो गया। रानी सत्यभामा देवी (तीनों स्वर्गीय कुमारों की वृद्धा दादी), बड़ी रानी सरयूबाला देवी, मँझली रानी विभावती देवी और छोटी रानी अनन्दा कुमारी देवी, बस, परिवार की ये ही सदस्याएँ थीं—सभी विधवा।

फलस्वरूप भुवाल राज कोर्ट आफ वार्ड्स के आधीन आ गया।

कुमारों की बड़ी बहन इन्दुमयी देवी भी इस बीच स्वर्ग सिधार चुकी थीं। बाकी दोनों बहनें, ज्योतिर्मयी और तारिनमयी देवी अपने-अपने ससुराल ढाका में रहती थीं। इन्दुमयी के पति गोविन्द मुकर्जी भी ढाका में ही रहते थे।

बड़े कुमार के देहान्त के थोड़े, दिन बाद ही बड़ी रानी सरयूबाला देवी ने भी जयदेवपुर का महल त्याग दिया और वे भी कलकत्ता जा बसीं। छोटी रानी भी ढाका आ गयीं। बाद में, १९१९ में छोटी रानी ने अपने भाँजे रामनारायण को गोद लिया था।

□ □ □

धीरे-धीरे भुवाल राज और जयदेवपुर का महल सूना हो गया।

लेकिन इधर कुछ दिनों से ढाका और जयदेवपुर में यह अफवाह तेजी से फैल रही थी और वहाँ के निवासी साधिकार यह चर्चा करते थे कि मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण की वास्तव में मृत्यु नहीं हुई है और वे सम्भवतः अभी जीवित हैं।

१६१७ में अचानक यह अफवाह फिर तेज हुई और लोगों की जुबान पर तरह-तरह के किस्से, इस सम्बन्ध में विराजने लगे। और लोगों ने तो इस अफवाह पर कोई ध्यान न दिया, पर वृद्धा दादी रानी सत्यभामा देवी का मन सब बातें सुन कर विचलित हो उठा। अतः १६१७ की तीसरी सितम्बर को वर्दमान के महाराजाधिराज को एक पत्र लिखा गया। मँझले कुमार की मृत्यु के समय वर्दमान के महाराजाधिराज दार्जिलिंग में थे और कहा जाता है कि दाह-संस्कार के लिये उन्होंने ही तुलसीदल और गंगाजल की व्यवस्था की थी।

रानी सत्यभामा देवी ने लिखा कि यहाँ यह अफवाह है कि मेरे मँझले पोते रमेन्द्र नारायण को दार्जिलिंग में विष दे दिया गया था और जिस रात उसके दाह-संस्कार को बात कही जाती है, उस रात दार्जिलिंग में बड़ा भयानक तूफान था व वर्षा हुई थी। और कुछ संन्यासियों ने उसके शव को उठा लिया था और उसे फिर जिन्दा कर लिया था और रमेन्द्र नारायण अभी भी उन्हीं संन्यासियों के साथ घूम रहा है।

रानी सत्यभामा देवी ने पत्र में महाराजाधिराज से पूछा था कि क्या ये अफवाहें सत्य हैं या नहीं, या क्या सचमुच रमेन्द्र नारायण का दाह संस्कार पूरी तरह सम्पन्न हुआ था ?

और तीन सप्ताह बाद महाराजाधिराज का उत्तर रानी सत्यभामा देवी को मिला जिसमें उन्होंने लिखा था कि श्मशाम घाट पर उन्होंने कुछ लोगों को देखा अवश्य था पर यह स्मरण नहीं है कि यह घटना रात की है या सवेरे की।

बेचारी रानी सत्यभामा देवी एक बार फिर शान्त हो गयीं।

इधर मँझली रानी विभावती देवी को भुवाल राज्य से प्रति वर्ष लाखों रुपये मिलते रहे थे और अब १६१६ के अन्त में उनके पास बीस लाख से अधिक रुपये इकट्ठे हो गये थे। लेकिन आश्चर्य की बात है कि उनका कहीं न तो किसी बैंक में कोई खाता था, न किसी प्रकार के कागज-पत्तर ही उनके पास थे। अतः उन रुपयों का उपयोग अकेले सत्येन्द्रनाथ ही कर रहे थे।

इस बीच सत्येन्द्रनाथ ने कलकत्ता में एक बड़ी व शानदार कोठी खरीद ली थी और उसके नाम से उसके पास दो मोटर गाड़ियाँ भी थीं। वह बड़े ठाठ-बाट से रहता था और ब्रिटिश सरकार को खुश करके उसने राय बहादुर की

उपाधि भी अर्जित कर ली थी। कलकत्ता के भद्र-समाज में उसका अपना उच्च-स्थान बन गया था।

१६२० के दिसम्बर की बात है।

देशबन्धु चितरंजन दास के नेतृत्व में समस्त बंगाल असहयोग आन्दोलन के प्रभाव में उत्तेजित हो रहा था।

तभी ढाका के बकलैंड बाँध पर लोगों ने लम्बी दाढ़ी व जटाजूट धारी एक नागा संन्यासी को विचरते देखा। सिर से पाँव तक वह संन्यासी राख लपेटे था और उसके शरीर पर केवल एक लँगोटी थी। उसके माथे पर उर्दू भाषा में गुदा हुआ था—'बाबा धरमदास का चेला नागा'। लोगों ने देखा कि पूरे चार महीने तक वह संन्यासी दिन-रात उसी बाँध पर धूनी लगाये बैठा रहा। धीरे-धीरे लोग उसे देख कर चौंकने लगे क्योंकि उसकी शक्ल मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण से बहुत कुछ मिलती-सी थी।

उस संन्यासी की आकृति आश्चर्यजनक रूप से स्वर्गीय मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण से मिलती है। इसकी चर्चा कासिमपुर के जमींदार के कानों तक गयी। कासिमपुर, जयदेवपुर से उत्तर-पश्चिम कुछ मील के फासले पर था और वहाँ के जमींदार स्वार्गीय मँझले कुमार के गहरे दोस्त थे। यह खबर सुनते ही कासिमपुर के जमींदार भी ढाका आये। उस दिन ५ अप्रैल की तारीख थी। कासिमपुर के जमींदार उस संन्यासी को देख कर आश्चर्यचकित रह गये। वे संन्यासी को अपने साथ कासिमपुर तक लाये। फिर एक सप्ताह अपने पास रख कर उन्होंने संन्यासी को हाथी पर बैठा कर जयदेवपुर भेज दिया।

जयदेवपुर पहुँच कर संन्यासी भुवाल राजबाड़ी के सामने हाथी पर से उतरा और वहीं माधव बाड़ी मन्दिर के पास धूनी रमा कर बैठ गया।

जयदेवपुर भर में हल्ला मच गया। अफवाहों का बाजार फिर गरम हो उठा।

भुवाल राजमहल के पुराने दास-दासी और अन्य लोगों ने आ-आ कर संन्यासी को गौर से देखना शुरू किया। उन लोगों ने भी इस संन्यासी और मँझले कुमार की आकृति की समानता देखी और सभी आश्चर्यचकित रह गये। ज्योतिर्मयी देवी भी उन दिनों जयदेवपुर में ही थीं। उन्होंने जब सुना

तो भागी आयीं और स्वयं संन्यासी को देखा। दूसरे दिन उन्होंने अपने पुत्र को भेजा कि किसी तरह संन्यासी को राजबाड़ी तक बुला लाओ।

संन्यासी ज्योतिर्मयी देवी के बुलाने पर राजबाड़ी तक गया। वहाँ रानी सत्यभामा देवी और अन्य रिश्तेदारों ने भी संन्यासी को देखा। सभी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सचमुच इसकी शक्ल हू-ब-हू मँझले कुमार से मिलती है।

घर में उस समय कई छोटे बच्चे व लड़कियाँ भी उपस्थित थीं। एक लड़की की ओर इशारा करके किसी ने संन्यासी से कहा कि यह बड़ी बहन इन्दुमयी की बेटी है तो उसे देख कर संन्यासी की आँखों से आँसू गिरने लगे। फिर किसी ने छोटे कुमार रवीन्द्र नारायण का चित्र ला कर संन्यासी के सामने रख दिया। उस चित्र को देख कर संन्यासी अपने आप सिसकियाँ भरने लगा और थोड़ी देर बाद जोरों से रो पड़ा।

यह अजीब दृश्य उपस्थित हो गया।

संन्यासी रो रहा था, सभी औरतें रो रही थीं।

तभी एक ने पूछा, "संन्यासी जी, आप तो साधू-संन्यासी हैं, आप क्यों रो रहे हैं?"

तब रोते हुए संन्यासी ने कहा, "मैं माया के वश में आकर रो पड़ा।"

फिर पूछा, "क्या आप कुमार रमेन्द्र नारायण हैं?"

तव सन्यासी ने कहा, "नहीं, नहीं, मैं आपका कोई नहीं। मैं कोई नहीं।"

और यह कहते हुए संन्यासी तत्काल वहाँ से चला आया।

शीघ्र ही संन्यासी चटगाँव जिले के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान चन्द्रनाथ मंदिर की ओर बढ़ गया।

फिर बीस अप्रैल को वह चन्द्रनाथ मन्दिर से ढाका वापस आकर अपनी पुरानी जगह बकलैंड बाँध पर धूनी लगा कर बैठ गया।

□ □ □

संन्यासी के लौट आने की सूचना पाकर ज्योतिर्मयी देवी ने भुवाल राज-परिवार के अन्य सभी लोगों को जुटाया और जा कर एक बार फिर संन्यासी

को देखा और सभी लोग स्वर्गीय मँझले कुमार के चहरे की एकरूपता संन्यासी में देखने लगे ।

फिर अचानक ३० अप्रैल को संन्यासी ढाका से चल कर सीधे जयदेवपुर पहुँचा और इस बार वह ज्योतिर्मयी देवी के पास ही राजमहल में ठहरा। घर के अन्य लोगों, नौकरों आदि ने बड़ी सतर्कता से संन्यासी के अंग-अंग और हाव-भाव, आदतों पर नजर रखनी शुरू की ।

एक दिन, संभवतः ३ मई को जब संन्यासी नहा चुका और अभी शरीर पर राख नहीं लपेटी थी कि अचानक ज्योतिर्मयी को संन्यासी के शरीर पर एक निशान दिखायी पड़ा, जिसे देख कर वह बुरी तरह परेशान हो उठीं। यह गाड़ी के पहिए से चोट लगने से बना निशान था, जो रमेन्द्र नारायण के शरीर में बहुत छुटपन में ही लगा था। अब ज्योतिर्मयी के सम्मुख शंका की तनिक भी गुञ्जाइश न रही और मन-ही-मन उसने विश्वास कर लिया कि यह संन्यासी और कोई नहीं, बल्कि उसका लापता भाई, मँझला कुमार ही है ।

दूसरे दिन, यानी चार मई को ही ज्योतिर्मयी देवी ने कई लोगों की उपस्थिति में संन्यासी से कहा कि उसे अपना असली रूप प्रकट कर देना चाहिए। पर संन्यासी ने न जाने क्यों ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। इस पर ज्योतिर्मयी ने आवेश से कहा कि वह तब तक अन्य-जल ग्रहण न करेगी, जब तक संन्यासी सच-सच घोषित न कर दे कि वास्तव में वह कौन है ?

ज्योतिर्मयी देवी के उपवास की चर्चा सुन कर भुवाल राज की कई सौ प्रजा आ कर राजमहल के सामने खड़ी हो गयी ।

उसी शाम को संन्यासी महल के बरामदे में चुपचाप बैठा था। वह आज कुछ चिंतित व उद्विग्न दिख रहा था। धीरे-धीरे राज के बहुत से लोग आ कर उसके चारों ओर इकट्ठे हो गये। तभी भीड़ से किसी ने जरा तेज आवाज में संन्यासी से उसका नाम पूछा। एक झटके से जैसे उबल कर संन्यासी ने बताया—रमेन्द्र नारायण राय चौधुरी ।

फिर तत्काल ही पूछने वाले ने संन्यासी से उसके माता-पिता का नाम पूछा। संन्यासी ने कहा—राजा राजेन्द्र नारायण और रानी बिलासमणि देवी।

तभी भीड़ में से किसी ने शंका उपस्थित की कि राजा और रानी का नाम तो सभी जानते हैं, यह बात तो कोई भी बता सकता है ।

तब सन्यासी से प्रश्न किया गया कि बचपन में उसका पालन-पोषण किसने किया था? संन्यासी ने क्षण भर देर किये बिना ही कह दिया—अलोका दासी। यह नाम सुनते ही सभी चौंक पड़े। सचमुच मँझले कुमार के बचपन में उसकी दाई का यही नाम था।

उपस्थित लोगों को विश्वास हो गया कि यह संन्यासी वेषधारी उनके मँझले कुमार ही हैं। तभी वहाँ उपस्थित भीड़ ने नारा भी लगाया—मँझले कुमार की जै!

उस दिन के बाद से संन्यासी ने, जो अभी तक उत्तर भारत की हिन्दी भाषा बोलते थे, अब शुद्ध बंगला में बातचीत करनी भी शुरू की।

यह बात बिजली की तरह समस्त पूर्वी बंगाल में फैल गयी कि संन्यासी वेष में भुवाल के मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण राय वापस आ गये। विशेष कर ढाका क्षेत्र में तो हर व्यक्ति की जबान पर यही बात बैठ गयी।

अब दल बना-बना कर लोग आते और मँझले कुमार से भेंट करते।

फिर १५ मई १९२१ को जयदेवपुर में भुवाल राय की समस्त प्रजा इकट्ठी हुई और एक प्रमुख तालुकेदार की अध्यक्षता में जन-सभा का आयोजन हुआ। सर्व-सम्पति से सभी ने संन्यासी को मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण के रूप में स्वीकार किया और नजराने के रूप में उन्हें काफी रुपया भी भेंट किया। फिर मँझले कुमार को कानूनी ढंग से अधिकार दिलाने के लिए समिति का भी गठन हुआ।

तेईस मई को ज्योतिर्मयी, तारिनमयी और गोविन्द मुकर्जी (इन्दुमयी के पति) ने मिल कर ढाका के जिला कलक्टर के पास अर्जी भेजी कि सन्यासी के वास्तविक रूप के संबन्ध में कानूनी जाँच होनी चाहिए, ताकि वह फिर अपनी स्थिति व जमींदारी का हक प्राप्त कर सके।...परन्तु उस अर्जी पर कोई कार्यवाही नहीं की गयी।

अब तक भुवाल संन्यासी को मँझले कुमार के रूप में उनकी दादी व बहनों ने ही नहीं, बल्कि राज्य के हजारों रहने वालों ने भी पूरे विश्वास के साथ पहचान लिया था, यह बात बंगाल सरकार के लिये पूर्णतया महत्वहीन न थी क्योंकि अब तक तीनों कुमारों की विधवाओं की ओर से जमींदारी की देख-रेख का भार कोर्ट आफ वार्ड्स पर ही था।

□ □ □

जब राज की समस्त प्रजा ने संन्यासी को मँझले कुमार के रूप में स्वीकार कर लिया तो राज के दो मैनेजरों, जोगेन्द्रनाथ बनर्जी और मोहिनी मोहन चक्रवर्ती ने इस संम्बन्ध में पूरा व्यौरा लिख कर ढाका के कलक्टर जे० एच० लिंडसे, आई० सी० एम० के पास भेजा। कलक्टर ने तत्काल ढाका के सरकारी वकील से परामर्श किया और बोर्ड ऑफ रेवेन्यू को शीघ्र ही निर्णय लेने को लिखा।

इधर भुवाल राज की प्रजा अपने मंझले कुमार को पाकर खुश हो रही थी और उधर एक व्यक्ति इन खबरों से बुरी तरह परेशान भी हो रहा था।

वह था मँझली रानी विभावती देवी का भाई, रायबहादुर सत्येन्द्रनाथ बनर्जी। उसे ५ मई को भुवाल राज में मँझले कुमार के प्रकट होने की खबर मिली। रायबहादुर परेशान हो उठा। बैठे-बैठाय यह क्या झंझट आ गयी? शांत जीवन में यह तूफान कैसे आ गया? रायबहादुर ने तत्काल ही बोर्ड ऑफ रेवेन्यू के सचिव एच० बी० लेथब्रिज, आई० सी० एस० से सम्पर्क किया, जो कोर्ट की रियासतों की देख-भाल करते थे। रायबहादुर ने उसे मँझले कुमार की मृत्यु से सम्बन्धित तथा बीमा कम्पनी के कई कागजात दिये, जिनसे मँझले कुमार की मृत्यु निश्चित सिद्ध होती थी। उसने लेथब्रिज को लेफ्टीनेंट कर्नल कलवर्ट और दार्जिलिंग के डिप्टी कमिश्नर क्रैफोर्ड के हस्ताक्षर का मँझले कुमार की मृत्यु का घोषणा-पत्र भी दिखाया।

रायबहादुर ने अपनी ओर से पूरी सतर्कता बरती। सभी कागजों की प्रतिलिपि ढाका के कलक्टर लिंडसे को भेजी और गवर्नर की कमेटी के रेवेन्यू सदस्य से स्वयं भेंट की।

कलकत्ते से तब प्रकाशित एक अंग्रेजी दैनिक—'इंगलिशमैन' में भी ६ मई को यह समाचार छपा कि भुवाल राज के मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण राय की मृत्यु में कोई संदेह नहीं है, क्योंकि १९०९ में दार्जिलिंग स्थित सिविल सर्जन और डिप्टी कमिश्नर ने उनकी मृत्यु की सर्टीफिकेट दी है।

लेकिन काल-चक्र के इस प्रहार से रायबहादुर सत्येन्द्रनाथ का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। वे तो मखमली गद्दे पर आराम से लेटे अपनी बहन विभावती देवी के जीवन-काल तक प्रति वर्ष भुवाल राज से लाखों की आमदनी के मालिक बने रहने का सपना देख रहे थे। अतः यह संन्यासी उनकी

शान्त जिन्दगी से कोई झंझट पैदा न करे, इसके लिए वे अपनी सुरक्षा हेतु भला क्या न करते ?

अतः रायबहादुर ने कोई कोशिश न छोड़ी, कोई तार खींचना न भूले कि संन्यासी झूठा व्यक्ति सिद्ध कर दिया जाय।

मई के दूसरे सप्ताह में, ढाका के कलक्टर लिंडसे के कहने पर ढाका के सरकारी वकील रायबहादुर शशांक कुमार घोष कलकत्ता आये और बंगाल सरकार के प्रमुख सरकारी वकील से संन्यासी के दावे और राज तथा कोर्ट के सम्बन्ध में कानूनी स्थिति पर चर्चा की। फिर शशांक बाबू, सत्येन्द्रनाथ के साथ दार्जिलिंग भी गये और वहाँ के लोगों से मँझले कुमार की मृत्यु के सम्बन्ध में खोज-बीन भी की।

इन तमाम जाँच-पड़ताल के बाद शशांक कुमार घोष ने जो रिपोर्ट तैयार की वह पूर्णतया संन्यासी के विरुद्ध थी, क्योंकि उन पर रायबहादुर सत्येन्द्रनाथ ने पूरी तरह प्रभाव डाल रखा था। वास्तव में यह ऐसा मामला था, जिसमें एक रायबहादुर ही दूसरे रायबहादुर की रक्षा कर सकता था।

मई के अन्त में, कलक्टर लिंडसे ने बोर्ड ऑफ रेवेन्यू को लिखा कि इस आशय का तत्काल नोटिस जारी किया जाना चाहिए कि भुवाल राज का कोई भी व्यक्ति मालगुजारी व नजराना संन्यासी को न दे, क्योंकि वह एक धूर्त्त व बना हुआ व्यक्ति है। बोर्ड ऑफ रेवेन्यू से नोटिस आने में देरी होती देख कलक्टर लिंडसे ने अपनी ओर से पत्र लिख कर भुवाल राज के सभी अफसरों को सतर्क किया कि संन्यासी को मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण के रूप में स्वीकार न किया जाय।

□ □ □

दूसरे दिन।

अचानक दो वकीलों को साथ लेकर संन्यासी स्वयं कलक्टर लिंडसे से मिलने गया। लिंडसे संन्यासी की कहानी को पूरी मन-गढ़ंत और झूठी समझता था। शशांक कुमार की रिपोर्ट और सत्येन्द्रनाथ द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों के बाद भला उसे और क्या प्रमाण चाहिये ? अतः लिंडसे ने संन्यासी से स्पष्ट कह दिया कि वह इस मामले में कुछ भी कर सकने में असमर्थ है और संन्यासी को अपना दावा सिद्ध करने के लिए अदालत से निर्णय कराना चाहिए।

लिंडसे से मिलने का कोई परिणाम न निकला ।

लेकिन लिंडसे अब सतर्क हो गया था ।

लिंडसे ने पंजाब की पुलिस के माध्यम से संन्यासी के गुरू बाबा धरमदास द्वारा संन्यासी की वास्तविक पहिचान की कोशिश की ।

इसी बीच महाराजाधिराज वर्दमान ने कलक्टर लिंडसे को सुझाया कि क्यों न बाबा धरमदास को ढाका बुला कर संन्यासी की पहचान करायी जाय । लेकिन लिंडसे ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया । उसे डर था कि ढाका लाये जाने पर कहीं बाबा धरमदास को संन्यासी और ज्योतिर्मयी देवी अपने प्रभाव में न खींच लें ।

पहली जून को बोर्ड ऑफ रेवेन्यू ने लिंडसे का प्रस्ताव स्वीकार करते हुए संन्यासी को एक झूठा व धोखेबाज व्यक्ति घोषित करते हुए यह नोटिस जारी किया, "बोर्ड ऑफ रेवेन्यू के पास इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण हैं कि बारह वर्ष पूर्व, दार्जिलिंग में भुवाल राज्य के मँझले कुमार के शव को जला कर राख कर दिया गया था । अत: जो संन्यासी अब अपने को मँझला कुमार कहता है, वह झूठा व धोखेबाज है । जो भी उसे लगान व मालगुजारी देगा या चन्दा देगा वह उसकी अपनी जिम्मेदारी होगी ।"

उस दिन जब दस मई को जयदेवपुर स्थित मिर्जापुर बाजार में डुग्गी पिटवा कर इस नोटिस की सार्वजनिक घोषणा की गयी तो वहाँ जनता में उत्तेजना फैल गयी और फलस्वरूप छोटा-मोटा दंगा भी हो गया । स्थिति को काबू में लाने के लिये पुलिस को गोली चलानी पड़ी, जिसमें एक व्यक्ति मरा और कई घायल हुए ।

स्थिति की जाँच के बहाने कलक्टर लिंडसे और शशांक कुमार घोष भी वहाँ पहुँचे और जयदेवपुर के जो लोग खुल कर संन्यासी को मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण के रूप में स्वीकार करते थे, उन सभी पर दंगा करने के अभियोग में मुकदमे दायर किये गये ।

यह झगड़ा भी काफी दिनों तक चला । झूठी गवाहियों के बल पर पुलिस गाँव वालों पर दंगा करने का अभियोग सिद्ध न कर सकी और अन्त में लोग परेशानी से मुक्त हो गये ।

१३ जून को कलक्टर लिंडसे ने एक दूसरा आदेश जारी किया कि भुवाल कोर्ट ऑफ वार्ड्स का कोई भी कर्मचारी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, किसी

प्रकार भी संन्यासी का समर्थन न करे, अन्यथा उसे तत्काल नौकरी से अलग कर दिया जायगा।

लिंडसे ने राज्य के अन्य अधिकारियों को भी यह गुप्त आदेश भेजा कि सभी लोगों का पता लगाया जाय जो संन्यासी का पक्ष ले रहे हों और उनके साथ क्या कार्यवाही की जाय इसका भी आदेश भेजा।

इधर जून के पहले हफ्ते में ही संन्यासी ने आकर ज्योतिर्मयी देवी के ढाका स्थित मकान पर रहना शुरू कर दिया था और जिस दिन से सन्यासी ने अपने वास्तविक स्वरूप की घोषणा की, उसी दिन से उसने लंगोटी को तिलांजलि दे दी और साधारण रूप से कपड़े पहनने लगा। इतना ही नहीं, अगस्त में तो उसने बढ़ी दाढ़ी भी मुड़ा दी और लम्बे बाल भी कटा डाले। कभी-कभी वह बग्घी पर सवार होकर घूमने भी निकलता और दावतों और गोष्ठियों में भी भाग लेता।

अगस्त १६२१ के अन्त में संन्यासी के गुरु बाबा धरमदास अपने शिष्य के आग्रह पर ढाका आये। लेकिन वहाँ वे केवल चार या पाँच दिन ही ठहर सके और पुलिस वालों के डर से वापस चले गये। लेकिन इस बीच कलक्टर लिंडसे ने बाबा धरमदास से मिल कर चर्चा करने की कोई आवश्यकता न समझी, न इसके लिये कोई प्रयत्न ही किया।

१६२२ की १४ जुलाई को रानी सत्यभामा देवी भी ढाका आयीं और ज्योतिर्मयी देवी के साथ ठहरीं। वहाँ दस दिन ठहरने के बाद उन्होंने मँझली रानी विभावती देवी को पत्र लिखा कि उसे ढाका आकर संन्यासी को देखना चाहिये और उसके मँझले कुमार होने के बारे में अपनी धारणा प्रकट करनी चाहिये।

रानी सत्यभामा देवी ने पत्र में स्पष्ट लिखा, "तुम आओ और सभी चीजों को अपनी आँखों से देखो और मेरे स्वर्गीय पति की प्रतिष्ठा व राज-परिवार की इज्जत की रक्षा करो तथा न्याय व धर्म के नाम पर तुम जो उचित समझो करो।"

यह पत्र रानी विभावती देवी के कलकत्ता निवास के पते पर भेजा गया। परन्तु रानी विभावती देवी ने पत्र लेने से इन्कार कर दिया और पत्र वापस आ गया।

रानी सत्यभामा देवी ने एक दूसरा पत्र भी लिखा, "तुम्हारे कहने पर ही

मैं ढाका आयी और संन्यासी से मिली। मैंने उसे जयदेवपुर में भी बराबर देखा और यहाँ भी रोज ही देख रही हूँ और मैं स्वय इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि संन्यासी और कोई नहीं, अपना मँझला कुमार रमेन्द्र नारायण राय ही है।... यह तो अफवाह पहले भी उड़ी थी। मँझले कुमार को विष दिया गया था और उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में भी बड़ी रहस्यमय बातें सुनायी पड़ती रही हैं। जहाँ तक मुझे प्रमाणित सूचना मिली है, वह यही है कि उसके शरीर को जलाया नहीं गया। श्राद्ध के समय भी इस प्रकार की बात उठी थी और फिर बाद में तो भुवाल ही नहीं बंगाल के अन्य भागों में भी यह बात काफी जोर देकर कही जाती थी कि मेरा दूसरा पोता, मँझला कुमार अभी तक जिन्दा है और साधुओं के साथ घूम रहा है।"

इस बीच ढाका के कलक्टर लिंडसे की भी बदली हो गयी और उसके स्थान पर जे० जी० ड्रमण्ड, आई० सी० एस० आया।

रानी सत्यभामा देवी ने ड्रमण्ड को लिखा, "मैं चाहती हूँ कि जो भी प्रमाण मिल रहे हैं उसकी जाँच के लिये छः विधिवेत्ताओं की एक समिति चुनी जानी चाहिये और जहाँ तक सम्भव हो, ये छहों सदस्य भारत के विभिन्न छः उच्च न्यायालयों में से प्रत्येक से एक-एक चुने जायें और इस जाँच के सिलसिले में जो भी खर्च होगा उसे मैं अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति से पूरा करूँगी।"

अपनी वृद्धावस्था को देखते हुए रानी सत्यभामा देवी ने अपने दस पत्र में लिखा था, "इस उम्र में भी मेरी आँख न तो खराब है, न मुझे देखने में ही कोई दिक्कत होती है।......अतः अपने पोते को मैं पहचान सकी हूँ, इसमें किसी को कोई शंका नहीं होनी चाहिये। चाहें तो स्वयं कलक्टर महोदय आकर मेरी इस बात की सचाई खुद देख सकते हैं?"

लेकिन ईश्वर को अभी और मजाक करना था।

१५ दिसम्बर १६२२ को ढाका में ज्योतिर्मयी देवी के घर पर ही रानी सत्यभामा देवी का देहान्त हो गया। फिर उनका अन्तिम संस्कार और श्राद्ध भी संन्यासी ने ही किया, जिसे रानी सत्यभामा देवी अपना असली पौत्र मानती थीं।

१६२३ में ज्योतिर्मयी देवी के दामाद चन्द्रशेखर बनर्जी ने बंगाल प्रान्त के बोर्ड ऑफ रेवेन्यू के सदस्य के० सी० डे, आई० सी० एस० से मिल कर चर्चा

की कि किस प्रकार संन्यासी को अपने अधिकार पाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। डे महोदय से कानूनी दिक्कतों की ओर, और सरकार के रुख की ओर इशारा करते हुए कहा कि संन्यासी को स्वयं ही सरकार में यह अर्जी देनी चाहिये कि उसकी अर्जी पर सरकार गौर करे, न कि उसकी बहनों और अन्य प्रजा की अर्जियों पर।

इस सम्बन्ध में उच्चतम वकीलों से राय लेने के लिये संन्यासी खुद कलकत्ता गया। कलकत्ता पहुँचते ही, पहले दिन ही संन्यासी बड़ी रानी सरयूबाला देवी के पास गया और जिन्होंने उसे तत्काल अपने देवर के रूप में पहचान लिया।

इस सम्बन्ध में सबसे मजे की बात यह है कि मँझली रानी विभावती देवी ने भी तीन बार बहुत नजदीक से संन्यासी को देखा, पर वे यही देखती रह गई कि उनके पति से इस संन्यासी का चेहरा कितना मिलता है और बहुत प्रयत्न करने पर भी रानी विभावती देवी और संन्यासी को आमने-सामने लाने में सफलता न मिली।

विवश होकर संन्यासी और चन्द्रशेखर बनर्जी ने साथ जाकर कलकत्ता उच्च न्यायालय के लगभग सभी बड़े वकीलों से मशविरा किया कि क्या सीधे अदालत में ही मँझले कुमार के अधिकारों के लिये मामला दायर किया जाय या सरकार के सम्मुख आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया जाय ! अन्त में निश्चय हुआ कि पहले सरकार के सामने ही आवेदन किया जाय।

अन्त में इसी निर्णय के अनुसार १६२६ की आठ दिसम्बर को सरकार के सम्मुख यह आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया गया कि मँझले कुमार की वास्तविक पहचान के लिये एक जाँच समिति नियुक्त की जाय और वह सरकारी आदेश वापस लिया जाय, जिसमें सरकार ने संन्यासी को एक बनावटी व धोखेबाज आदमी घोषित किया है। बोर्ड ऑफ रेवेन्यू ने इस आवेदन-पत्र पर विचार किया और आठ अप्रैल १६२७ को अन्तिम रूप से आवेदन-पत्र को अस्वीकार कर दिया।

इसकी पैरवी के सम्बन्ध में संन्यासी को लगभग तीन वर्ष तक कलकत्ते में ही रहना पड़ा। अक्टूबर १६२६ तक वह कलकत्ते में जमे रहे और इस अवधि में वे केवल दो बार बहुत कम-कम दिनों के लिये ढाका गये।

यह वर्ष भारत में राजनीतिक उथल-पुथल के भी थे। जब संन्यासी कलकत्ते में था तब उस समय के बंगाल के सर्वमान्य राष्ट्रीय नेता देशबन्धु चितरंजन दास, बंगाल कांग्रेस के अध्यक्ष, कलकत्ता के मेयर और बंगाल काउंसिल में स्वराज्य पार्टी के नेता थे। १९२५ के जून में देशबन्धु दास का स्वर्गवास हुआ और उनके उपरोक्त तीनों पदों का भार श्री जे० एम० सेनगुप्त को सँभालना पड़ा, क्योंकि देशबन्धु दास के राजनीतिक उत्तराधिकारी और शिष्य श्री सुभाषचन्द्र बोस तब सुदूर माण्डले जेल में नजरबन्दी के दिन काट रहे थे। फिर आया साइमन कमीशन के बहिष्कार का समय। तभी पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कलकत्ता का सुप्रसिद्ध अधिवेशन भी हुआ। इन दिनों बंगाल के युवाजनों में असाधारण रूप से जागृति आयी और स्वतन्त्रता की लड़ाई ने सशस्त्र क्रान्तिकारी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

□ □ □

बंगाल, विशेषकर कलकत्ता राजनीतिक क्रान्ति का पूरी तरह केन्द्र बना था।

यद्यपि भुवाल संयासी ने इन राजनीतिक आन्दोलनों में कोई सक्रिय भाग नहीं लिया, परन्तु उसका मानसिक रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति पूर्ण समर्थन था। इसके विपरीत संन्यासी का घोर विपक्षी, उसका साला रायबहादुर सत्येन्द्रनाथ बनर्जी पूरी तरह राज-भक्त था और अँग्रेज महाप्रभुओं की खुशामद में कोई कसर न उठा रखता था।

कलकत्ते के भद्र समाज में संन्यासी का बड़ा सम्मान था। सभी लोग उसके प्रति उत्सुकतावश एक अजीब संवेदना का भाव रखते थे। संन्यासी ने कलकत्ता की अनेक सांस्कृतिक व सामाजिक संस्थाओं से भी सम्बन्ध जोड़ा और कई व्यापारी संस्थाओं का वह डायरेक्टर भी चुना गया। कलकत्ता के उच्च समाज में सम्मान प्राप्त होने के कारण संन्यासी को लगभग वहाँ की सभी दावतों में शामिल होना पड़ता। एक बार तो एक ऐसी पार्टी में भी उसे सम्मिलित होना पड़ा जो तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन के सम्मान में हुई थी।

संन्यासी अब बिलकुल बदला हुआ व्यक्ति था। यद्यपि वह एक प्रकार से अशिक्षित व्यक्ति था, पर उसने अपने को इतना 'भद्र' बना लिया था कि हर सभा-सोसायटी में वह बड़े ढंग से अपना निर्वाह कर ले जाता था।

१९२९ के अक्टूबर में संन्यासी कलकत्ता से आकर ढाका में बस गया। ढाका में वह ज्योतिर्मयी देवी के यहाँ ही रहता था। अब उसने भुवाल राज की प्रजा से लगान व मालगुजारी भी वसूलना शुरू किया। क्योंकि राज की एक तिहाई आमदनी का तो वह कायदे से भी अधिकारी था ही।

संन्यासी यद्यपि अपने अधिकारों के लिए सरकार से समय-समय पर कानूनी न्याय की माँग करता रहता था, पर वह एक सम्मानित नागरिक के रूप में शांतिपूर्ण ढंग से जीवन बिताना चाहता था पर शायद अंग्रेजी सरकार को यह अच्छा न लगता था और एक-न-एक बहाना खोज कर वह संन्यासी को तंग करती रहती थी।

१९२९ में जब संन्यासी ढाका आया, तब उसे एक सरकारी आदेश प्राप्त हुआ कि दफा १४४ के अन्तर्गत उस पर जयदेवपुर थाना के भीतर जाने पर रोक लगा दी गयी है।

इस सरकारी आदेश से संन्यासी को बड़ी मानसिक पीड़ा हुई और सन ३० आते-न-आते संन्यासी तथा उसके समर्थकों ने यह निश्चय कर लिया कि उन्हें अब बिना न्यायालय का द्वार खटखटाये न्याय की कहीं से आशा नहीं करनी चाहिए।

पूरे तीन वर्ष के अथक परिश्रम के बाद संन्यासी के पक्ष में अनेक पक्के सुबूत व प्रमाण इकट्ठे कर लिये गये। अब संन्यासी के समर्थकों ने उन प्रमाणों के साथ कलकत्ता के कई विख्यात वकीलों से सलाह-मशविरा भी किया। अन्त में निश्चय हुआ कि संन्यासी को भुवाल राज के मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण राय के रूप में मान्यता दिलाने का मुकदमा दायर करना ही उचित होगा।

सन १९३० का अप्रैल महीना भारत के इतिहास में कई कारणों से अविस्मरणीय है। इसी महीने में महात्मा गांधी ने साबरमती से डाँडी की ऐतिहासिक यात्रा करके नमक कानून तोड़ा था और समस्त राष्ट्र को असहयोग आन्दोलन में नेतृत्व प्रदान किया था।

इन दिनों समस्त राष्ट्र में, एक कोने से दूसरे कोने तक सत्याग्रह का डंका पिट रहा था और अंग्रेजी सरकार का दमन-चक्र भी अपनी पैशाचिक गति से घूम रहा था। अंग्रेजी-राज, भेड़िया-राज बन गया था। चटगाँव में क्राँतिकारी नायक सूर्य कुमार सेन के नेतृत्व में राजकीय शस्त्रागार को विप्लवी युवाजनों

ने लूट लिया था। ऐसा लगता था जैसे बंगाल में सन् १८५७ के विद्रोह की पुनरावृत्ति हो रही थी।

ठीक ऐसे ही कशमकश के दिनों में—जब सारा राष्ट्र एक अग्नि-परीक्षा के काल-खण्ड से गुजर रहा था, अंग्रेजी सरकार की मनमानी से ऊब कर, २४ अप्रैल १९३०. के दिन भुवाल संन्यासी ने भी ढाका की जिला कचहरी में मुकदमा दायर कर दिया और न्याय से माँग की भुवाल राज के मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण राय चौधुरी को कानूनी मान्यता मिले और राज की एक तिहाई आमदनी का वह अधिकारी घोषित किया जाय।

अपने लिखित बयान में संन्यासी ने लिखा कि १९०९ की छः मई को वह दार्जिलिंग में बीमार पड़ा था और इलाज के बीच ही उसे जहर दिया गया जिसके कारण वह बेहोश हो गया था। बेहोशी में ही मृत घोषित करके दाह-संस्कार के लिए उसे श्मशान ले जाया गया। यह बात ८ मई की रात की है।

और जब उसके शरीर को शव के रूप में जला देने को चिता पर रखा गया, ठीक उसी समय दैवयोग से भयानक तूफान आया और भीषण वर्षा होने लगी। जो लोग उसे जला देने के लिए उसका शरीर शव बना कर श्मशान पर लाये थे, वे, तूफान और वर्षा से बचने के लिए श्मशान से भाग गये और तूफान समाप्त होने के बाद शव को चिता पर न पाकर वापस चले गये थे।

इस घटना के कई दिनों बाद जब उसे होश आयी तो उसने अपने को नागा संन्यासियों के बीच पाया, जो उसकी सेवा-सहायता में लगे थे। उन्हीं नागा संन्यासियों के परिश्रम से वह फिर स्वस्थ होने लगा। फिर स्वस्थ होकर उन्हीं संन्यासियों के साथ उसने यहाँ-वहाँ घूमना शुरू किया। बीमारी के समय जहर दिये जाने के कारण और जहर के असर के फलस्वरूप वह अपनी स्मृति पूर्णतया खो चुका था। यद्यपि संन्यासियों ने उसके बचाने से लेकर पुनः स्वस्थ होने तक का सारा वृत्तांत उसे विस्तृत रूप में सुनाया था।

एक समय सन्यासियों के साथ ही घूमते हुए जब वह नेपाल राज्य के बाराह क्षेत्र में पहुँचा तो अचानक उसे याद आया कि उसका घर ढाका जिले में है और जब उसने अपनी इस स्मृति की बात अपने गुरु बाबा धरमदास से बतायी तो उन्हीं की प्रेरणा से १९२० के अंत में वह ढाका आया भी था।

ढाका आने पर जब उसे अनेक परिचित लोग मिले और परिचित स्थल व चीजें देखने को मिलीं और अपनी मातृ-भाषा सुनने को मिली तो उसे धीरे-धीरे पुरानी सभी बातें याद आ गयीं।

फिर अपने पारिवारिक रिश्तेदारों तथा राज्य की प्रजा से मिलने के बाद, उनके द्वारा पहचाने जाने के बाद, उन्हीं के विवश करने पर उसने अपने वास्तविक रूप की घोषणा भी की। लेकिन उसकी पत्नी विभावती देवी ने जो अपने भाई सत्येन्द्रनाथ बनर्जी के षड्यन्त्र का शिकार थी, उसे बिना देखे ही, उससे बिना मिले ही, उसे पहचानने से इन्कार कर दिया। फिर उसी षड्यन्त्र-व्यूह से प्रभावित होकर कोर्ट ऑफ वार्ड्स ने उसे बनावटी तथा धोखेबाज व्यक्ति घोषित किया।

उसकी पत्नी उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होने के नाते राज्य के उसके भाग की आमदनी प्राप्त करती रही है, पर उसकी स्वयं की उपस्थिति के बाद अब अपनी आमदनी प्राप्त करने का उसका ही अधिकार है।

संन्यासी के इस लिखित बयान के बाद, भुवाल राज की तीनों विधवा रानियों तथा छोटी रानी के गोद लिए पुत्र के अभिभावक व प्रनिनिधि के रूप में कोर्ट आफ वार्ड्स ने उत्तर दिया कि भुवाल राज के मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण राय की ८ मई १९०९ की आधी रात के समय मृत्यु हो गयी थी। मृत्यु का कारण पेट की भयानक बीमारी थी। और मृत्यु हो गयी थी। और मृत्यु के बाद ९ मई को सबेरे मँझले कुमार के शव की अंतिम-क्रिया करके उनके शव को जला कर राख कर दिया गया था।

उसी उत्तर में यह भी कहा गया था कि प्रार्थी संन्यासी जो अपने को भुवाल राज का मँझला कुमार बताता है, वह बंगाली नहीं है, बल्कि पंजाबी है और उसका असली नाम है मालसिंह उर्फ सुन्दरदास और जो अपने को गलत रूप में धोखा देकर मँझला कुमार कहता है। यह संन्यासी ठीक से बँगाली भाषा भी नहीं बोल सकता और अपने स्वार्थ के लिए ज्योतिर्मयी देवी तथा उस जैसे अन्य लोगों ने उसे झूठ ही मँझला कुमार सिद्ध करने का प्रयास शुरू किया है।

उसी उत्तर में यह भी कहा गया था कि भुवाल राज की प्रजा इस पाखण्डी संन्यासी का समर्थन केवल इसलिए अपने स्वार्थवश करती है कि उनसे कोर्ट ऑफ वार्ड्स मालगुजारी वसूलने में सख्ती करता है और वे उससे बचना चाहते हैं और पूरी मालगुजारी नहीं देना चाहते।

उसी उत्तर के अंत में कहा गया था कि यदि यह सच भी मान लिया जाय कि संन्यासी ही मँझला कुमार है, तो भी उसे अब सम्पत्ति पर अधिकार नही मिल सकता, क्योंकि उसने स्वेच्छा से संसार से विरक्ति ग्रहण कर ली है और उसने पूरे बारह वर्षों तक एक वास्तविक संन्यासी का जीवन बिताया है और वह अब किसी प्रकार भी संसारी या गृहस्थ व्यक्ति नहीं रह गया है।

यह मामला ढाका की अदालत में अप्रैल १९३० में दायर किया गया था, लेकिन इनकी सुनवाई की पहली तारीख २७ नवम्बर १९३३ निश्चित हुई। फिर बीच में केवल पन्द्रह दिनों के व्यवधान को छोड़ कर २० मई १९३६ तक लगभग प्रतिदिन इस मामले की सुनवाई चलती रही। यह मामला लिया था ढाका के अतिरिक्त सेशन जज पन्नालाल बोस ने।

पक्ष तथा विपक्ष दोनों और से कानूनी दाँव-पेच की उच्चतम सीमा का प्रदर्शन होता रहा। संन्यासी के वकील थे, कलकत्ता के विख्यात फौजदारी के वकील बी० सी० चटर्जी। वे बड़े नामी वकील थे जिन्होंने कई सनसनी-खेज मुकदमों को किया था और अधिकाँश को जीता था।

भुवाल राज की तीनों रानियाँ मुकदमे में शामिल की गयी थीं। बड़ी रानी सूरजवाला देवी ने संन्यासी को पहचानने के पक्ष में बयान दिया था। दूसरे पक्ष के प्रमुख कर्त्ता व नायक थे मँझली रानी विभावती देवी के भाई राय बहादुर सत्येन्द्रनाथ बनर्जी।

विरोध पक्ष के वकील थे वैरिस्टर ए० एम० चौधुरी जिनके सुपुत्र प्रसिद्ध भारतीय सैनिक, जनरल चौधुरी हैं, जो हैदराबाद और पाकिस्तान युद्ध के विजेता के रूप में सदा स्मरण किये जाएँगे और बाद में जो कनाडा के भारतीय राजदूत नियुक्त हुए।

इस मामले में हजारों की संख्या में लिखित प्रमाण व कागज-पत्र दाखिल हुए और कई सौ चित्र। संन्यासी की ओर से एक हजार उनहत्तर गवाह पेश किए गये। इन गवाहों की उम्र इक्कीस वर्ष से लेकर एक सौ वर्ष तक की थी। वे सभी जाति व धर्म के थे। हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, क्रिस्तान, बौद्ध, नागा संन्यासी और भूटानी। कुछ अंग्रेज भी थे। यही नहीं, उनमें थे डाक्टर, वकील, मूर्तिकार, चित्रकार, और फोटोग्राफर, व्यापारी, जमींदार, रैयत, महाजन, अध्यापक, पंडित, मल्लाह, पंडे, गाड़ीवान और महावत भी।

दूसरा पक्ष भी कमजोर न था। उसकी ओर से कुछ वेश्याओं ने भी गवाही दी और उन्होंने कच्ची-पक्की बातें बताईं और शारीरिक यौन-संबन्धों की भी चर्चा आयी। यही नहीं, जे० टी० रैनकिन नामक अवकाश-प्राप्त अंग्रेज आई० सी० एस० जो इंगलैंड में जा बसा था, कलकत्ता आया, केवल संन्यासी के विरुद्ध गवाहीं देने। वह कलकत्ता आकर बीमार पड़ गया था। उसको कलकत्ते के एक अस्पताल में भरती किया गया, जहाँ बीमार के बिस्तर पर ही उसका बयान लिया गया और अपने बयान के कागज पर हस्ताक्षर करने के पूर्व ही उसका देहान्त भी हो गया था।

इतना ही नहीं। गवाहियों में और भी मजे आये। ऐसा उदाहरण तो दुनिया के किसी अन्य मामले में देखने को न मिलेगा कि बाप ने बेटे के विरुद्ध और भाई ने भाई के विरुद्ध गवाही दी। ढाका के एक वकील प्रफुल्ल कुमार मित्रा ने संन्यासी के पक्ष में गवाही दी और उनके पिता शिवचन्द्र मित्रा ने खिलाफ। अजीम-बख्श ने संन्यासी के विपक्ष में और उसके लड़के ने संन्यासी के पक्ष में गवाही दी।

बड़ी रानी सरयूबाला देवी ने संन्यासी को मँझले कुमार के रूप में पहचाना और मँझली रानी तथा छोटी रानी ने संन्यासी को मँझले कुमार के रूप में स्वीकार करने से इन्कार किया और उसे पाखण्डी बताया। ज्योतिर्मयी देवी के दामाद सागर बनर्जी ने संन्यासी के पक्ष में तथा उसके भाई राय साहब योगेन्द्र बाबू ने विपक्ष में गवाही दी। इस प्रकार के प्रमाणों से पारिवारिक कशमकश का जो उदाहरण मिला वह दुनिया के इतिहास में कहीं ढूंढे न मिलेगा।

मामले की सुनवाई के दौरान चार दैनिक समाचार पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जो केवल इस मामले की कार्यवाही मात्र छापते थे। उसमें से एक पत्र 'डेली भुवाल' तो बहुत ही प्रसिद्ध हुआ था। क्या दुनिया में कोई दूसरा ऐसा उदाहरण मिलेगा कि केवल एक मामले की कार्यवाही छापने को नए अखबार निकाले जाएँ।

साधारण मुकदमों की तरह इस मुकदमे में भी तमाम हथकण्डे चलाये गये। अदालत में दाखिल प्रमाण के कागजातों में से कुछ को नष्ट करने का काफी हद तक प्रयत्न हुआ। इंगलैंड के प्रसिद्ध स्काटलैंड यार्ड की भी सहा-

यता, दार्जिलिंग के म्यूनिस्पिल कागजों के संबन्ध में ली गयी। जो कागजात स्पष्ट रूप से बदले नज़र आते थे।

इस प्रकार इस मुकदमे के सिलसिले में संन्यासी तथा उसके वकील को कम परेशानी नहीं उठानी पड़ी। संन्यासी को स्वयं अपनी पहचान स्थापित करानी थी कि वही सँझला कुमार रमेन्द्र नारायण राय है। यह भार भी उसी पर था कि १६०६ की मई में जो घटनाएँ दार्जिलिंग में घटीं और उसके बारह वर्ष बाद जब वह फिर प्रकट हुआ, तब तक के हालों की सचाई का प्रमाण भी उसे ही देना था। इस संबन्ध में रिश्तेदारों और मित्रों की गवाहियों की बात छोड़ भी दी जाय तो भी कई ऐसी औरतों को बयान व गवाहियाँ देनी पड़ीं, जो पेशेवर वेश्याएँ थीं और उन्होंने संन्यासी के कुछ विशेष अंगों में छिपे निशानों की भी चर्चा की। संन्यासी ने स्काटिश यूनियन इन्श्योरेंस कम्पनी की वह डाक्टरी सर्टीफकेट भी प्रस्तुत की जो १६०५ में उसके जीवन बीमा के समय दी गयी थी। इस सर्टीफकेट में उसके जिन निशानों का वर्णन था, वे सभी निशान संन्यासी के शरीर पर मिले।

संन्यासी ने अपने लिखित बयान में बताया कि वह १६०६ की अप्रैल में अपनी पत्नी विभावती देवी और साले सत्येन्द्रनाथ बनर्जी के साथ दार्जिलिंग गया था। वहाँ उसके पारिवारिक चिकित्सक डाक्टर आशुतोष दासगुप्त ने ५ मई से उसका इलाज शुरू किया। बाद में तो अन्य कई डॉक्टर भी देख रेख कर रहे थे।

सात मई की रात को डॉ० दासगुप्ता ने उसे एक दवा दी, जिसको लेते ही, उसका कलेजा झुलस सा गया, उसे कै हुई और वह बहुत बेचैन हो उठा।

'आशु, यह तुमने मुझे क्या दे दिया?' बड़ी बेचैनी के बीच उसने यह पूछा था।

फिर दूसरे दिन सुबह, कई बार लगातार उसे खूनी कै हुई और वह बहुत कमजोर हो गया और अंत में बेहोश हो गया।

आगे की कहानी नागा संन्यासी दर्शनदास ने वकील द्वारा की गई जिरह के दौरान बताया। दर्शनदास ने कहा कि वह प्रीतमदास और लोकदास नामक दो अन्य साधुओं के साथ दार्जिलिंग के श्मशान घाट के निकट अपने गुरु

बाबा धरमदास से बातें कर रहा था। यह शाम का समय था, तभी उसने दूर पर 'हरि बोल, हरि बोल,' की आवाज सुनी।

तब धरमदास ने ऊपर देखा तो पाया कि श्मशान पर कई लोगों की छोटी सी भीड़ है और उनके पास लालटेनें भी थीं। उस समय आसमान में बड़ा अँधेरा था और तेज हवा चल रही थी। धीरे-धीरे वहाँ से आती आवाज बन्द हो गयी तब धरमदास ने फिर उधर देखा पर तब तक वहाँ कोई आदमी न था। पानी लगातार बरस रहा था लेकिन अब तेज हवा बन्द हो गयी थी।

फिर धरमदास को सूने श्मशान से लगातार एक अजीब प्रकार की आवाज सी आती सुनाई पड़ी। फिर उत्सुकतावश वह लोकदास को लेकर उधर गया। वहाँ देखा कि एक खटिया पर कपड़े से ढँका एक आदमी का शरीर पड़ा है। दर्शनदास ने लालटेन उठाई और लोकदास ने आदमी के ऊपर ढँका कपड़ा हटाया और बँधी रस्सी भी खोली। उसने उत्सुकतावश उस शरीर के मुँह पर अपना हाथ रखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि अभी भी साँस चल रही थी।

लोकदास एकाएक चीख पड़ा—यह आदमी तो जिन्दा है, और उसी क्षण भाग कर दर्शनदास अपने दो अन्य साथियों को बुला लाया, ताकि उस व्यक्ति को अपनी कुटिया तक लिवा ले जा सके।

फिर कुटिया में पहुँच कर चारों साधुओं ने मिल कर उसके शरीर के गीले कपड़ों को बदला और उसे कम्बल में लपेट दिया। फिर कुटिया में जगह की कमी देख कर उसे वे लोग पहाड़ी के नीचे बस्ती के एक मकान में ले गये। वहाँ खटिया का भी प्रबन्ध हो गया। फिर प्रीतमदास बाहर गया और अपने साथ एक नाई लिवा लाया। नाई से उसके सिर के बाल मूँड दिये ताकि साधू उसके सिर पर औषधि का लेप कर सके। बाबा धरमदास ने इस बीच एक लेप तैयार भी कर लिया था।

घाट से लाश उठा ला कर उसे फिर से जिला लेने की चर्चा इधर-उधर होने लगी। लोग बड़ी संख्या में उसे देखने आने लगे। तब भीड़ से बचने के लिये साधुओं ने वह मकान भी बदल दिया और एक दूसरे मकान में जा बसे जो एक पहाड़ी का मकान था। यहाँ भी उसकी बेहोशी दो तीन दिन और बनी रही। फिर एक दिन उसने आँखें खोलीं और कराह के बीच बंगाली में पूछा, 'मैं कहाँ हूँ ?'

साधुओं ने उसे बोलने से रोका और इलाज करते रहे। फिर कई दिनों बाद वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया। फिर एक दिन सभी साधू उसे लेकर रेल-गाड़ी द्वारा दार्जिलिंग से चल पड़े।

साधू बड़े प्रसन्न थे कि उनके बीच एक ऐसा व्यक्ति है जो मर कर फिर जीवित हो गया है। लेकिन उसे अपने पूर्व जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी स्मरण न था। यह स्मृति-गुम का दौरा था। उसे लगता जैसे इस दुनिया में वह अभी पैदा हुआ है और बच्चों सा है। क्योंकि हर संसारी बातों को वह एक बच्चे की तरह नये सिरे से जान-सीख रहा था।

फिर कहानी का अन्तिम भाग संन्यासी ने स्वयं ही सुनाया। उसने विस्तार-पूर्वक बाबा धरमदास के नेतृत्व में नागा साधुओं के साथ घूमने-फिरने की बात बताई। लगभग चार वर्ष इधर-उधर घूमने के बाद वे लोग कश्मीर में अमरनाथ पहुँचे, जहाँ बाबा धरमदास ने संन्यासी को मन्त्र दिया। संन्यासी ने कहा कि गुरु बाबा से 'मन्त्र' पाकर मेरी स्मृतियाँ थोड़ी-थोड़ी वापस सी आने लगीं। कभी-कभी तो अपने रिश्तेदारों की धुँधली सी छाया याद आती, पर वे कौन हैं, यह याद न आता। इस बात से उसे बड़ी उलझन व घुटन होती।

संन्यासी अक्सर अपनी उलझन व घुटन की बात अपने गुरु को बताता कि वह बहुत प्रयत्न करके भी यह नहीं याद कर पाता कि उसका आखिर घर कहाँ है। और लोग मुझसे अपने घर व रिश्तेदारों में वापस जाने को कहते हैं। तब बाबा धरमदास ने संन्यासी से कहा, 'तुम्हें मैं जब उचित समय आयेगा तो तुम्हारे घर भेज दूँगा।'

और यह 'उचित समय' तब आया जब सभी नेपाल के बाराह क्षेत्र में पहुँचे, वहीं संन्यासी के मस्तिष्क में एक बिजली-सी कौंधी कि उसका घर तो ढाका में है। यह सुन कर गुरु ने कहा, 'अब जाओ, तुम्हारा समय आ गया है। गुरु ने सोचा कि सम्भवतः संन्यासी की स्मृति पूरी तरह वापस आ गयी है। अतः उन्होंने कहा, 'अब तुम घर जाओ।'

और जब संन्यासी अपने गुरु बाबा धरमदास से अलग हुआ तो गुरु ने कहा, 'जब 'माया' से पीछा छुड़ा पाना तो वापस आ जाना।'

इस प्रकार साधुओं से अलग होकर संन्यासी एक वर्ष तक इधर-उधर घूमता रहा और अन्त में १९२० के दिसम्बर में ढाका वापस आ गया।

संक्षेप में यही कहानी भुवाल संन्यासी और धरमदास ने अदालत के सामने प्रस्तुत की। यद्यपि कुशल बैरिस्टर चौधुरी के तरह-तरह से उलट-पुलट कर जिरह करने के बाद भी इन दोनों के बयान में कोई व्यतिक्रम न ला सके।

जिरह के समय संन्यासी से कई तरह-तरह के प्रश्न किये गये। लेकिन संन्यासी जिरह में खरा उतरा। बैरिस्टर चौधुरी ने जिरह के दौरान पूरी कोशिश की कि संन्यासी को पढ़ा-लिखा और पूर्ण शिक्षित सिद्ध किया जाय। तभी संन्यासी ने अँग्रेज वार्टन का एक पत्र प्रस्तुत किया जो तीनों कुमारों का शिक्षक था और पत्र में तीनों कुमारों के पढ़ने में मन न लगाने से ऊब कर उसने अपने काम से मुक्ति लेनी चाही थी।

विरोध-पक्ष से भी कुछ पत्र प्रस्तुत किये गये। कहा गया कि यह पत्र मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण द्वारा विभावती देवी को लिखे गये थे। ये पत्र बड़ी अच्छी बँगला भाषा में लिखे गये थे। लेकिन बाद में जाँच-पड़ताल के बाद ये पत्र जाली व बनावटी सिद्ध हुए।

मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण और संन्यासी के हस्ताक्षर भी हूबहू मिल गये। बाद में विशेषज्ञों ने भी सिद्ध किया कि दोनों ही हस्ताक्षर एक व्यक्ति के हैं व एक ही हाथ से लिखे गये हैं।

विरोध-पक्ष की ओर से सबसे महत्वपूर्ण गवाही रायबहादुर सत्येन्द्रनाथ बनर्जी की थी। लेकिन बी० सी० चटर्जी वकील की जिरह में वह बुरी तरह तरह झूठा साबित हुआ। कई महत्वपूर्ण अवसरों पर उनकी बात स्वयं झूठ सिद्ध हो गयी। १९०९ से १९११ तक की उनकी डायरी जो प्रस्तुत की गयी थी, बिल्कुल जाली और बाद में लिखी गयी सिद्ध हुई। हाँ, इस डायरी से यह अवश्य पता लगा कि विभावती देवी को अपने एकमात्र प्रभाव में रखने की उसने कैसी योजना बनायी थी।

अपनी वाक्‌चातुरी और रायबहादुरी के रोब-दाब के बावजूद भी सत्येन्द्र-नाथ यह सिद्ध न कर पाये कि मई १९०९ में मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण की मृत्यु के बाद उनके पास किसी आमदनी के स्रोत के बिना इतनी अतुल सम्पत्ति कहाँ से इकट्ठी हो गयी। उसने कहा कि यह उसकी सम्पत्ति 'शेयर मार्केट' की कमाई है जिसमें उसने अपनी माँ से प्राप्त ४० हजार रुपये लगाये थे। उसकी अपनी संदिग्ध परिस्थितियों और विभावती देवी के नाम कोई बैंक हिसाब न

होने के कारण केवल एक ही नतीजा निकाला जा सकता था कि सत्येन्द्रनाथ की सम्पत्ति कमाई की नहीं लूट-खसोट की है।

१६३६ की २० मई को मुकदमा समाप्त हुआ। और तीन महीने बाद २४ अगस्त को जज पन्नालाल बोस ने फैसला सुनाया। फैसला भी खूब लम्बा था। फुलस्केप साइज के ५३२ पृष्ठों में लिखा। जिस दिन फैसला दिया गया, उस दिन अदालत खचाखच भरी थी। अदालत के भीतर और बाहर दर्शक-ही-दर्शक थे।

फैसला यद्यपि काफी बड़ा था फिर भी उसमें दोनों पक्षों की गवाहियों की विवेचना पूरी तरह की गयी थी और जज ने अपनी शंकाएँ और अपने विचार भी विस्तार से लिखे थे।

बाद में जब यह मामला कलकत्ता उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय, प्रीवी काउंसिल में अपील के रूप में गया था, तब दोनों उच्च न्यायालयों के जजों ने पन्नालाल बोस के फैसले की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी कि यह फैसला बड़ी योग्यता से लिखा गया था।

निम्नलिखित तीन प्रमुख विषयों पर जज को निर्णय देना था—

- क्या संन्यासी ही भुवाल राज के मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण राय हैं जैसा कि संन्यासी का दावा है?
- दार्जिलिंग में १६०६ में सचमुच क्या घटनाएँ घटीं? संन्यासी और विरोध-पक्ष, दोनों के बताये दो पक्षों में किसकी बात सच है?
- यदि संन्यासी सचमुच मँझला कुमार है तो क्या इतना समय बीतने के बाद भी वह सम्पत्ति व राज के अपने हिस्से का अधिकारी है?

अपने फैसले में जज ने मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण की एक काल्पनिक छवि बनाने का प्रयास किया था, प्रस्तुत चित्रों, प्रस्तुत कागजातों, कपड़ों व जूतों, लोगों की चश्मदीद गवाहियों आदि के आधार पर।

जज ने संन्यासी के शरीर पर के निशानों और मँझले कुमार के शरीर के निशानों में पूरी समानता पायी। डॉक्टरों की रिपोर्ट और बीमा कम्पनी के सर्टीफिकेटों ने उसमें मदद की।

संन्यासी के शरीर पर के कुछ निशानों ने बड़ी मदद की। उसके घुटनों पर

का चमड़ा कुछ अधिक खुरदरा और साँवला था। यही निशान भुवाल राज परिवार के हर व्यक्ति के घुटनों पर होता था और यह निशान उस परिवार का पुश्तैनी निशान था। राजा राजेन्द्र नारायण और उनकी बहन कृपामयी देवी के भी यह निशान था। छोटे कुमार रवीन्द्र नारायण और मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण के भी यही निशान था और ज्योतिर्मयी देवी और उसकी बेटी के घुटनों में भी यही निशान था।

इस प्रकार संन्यासी के शरीर के वर्तमान निशानों और मँझले कुमार के प्रमाणि निशानों को मिला कर जज ने निर्णय दिया कि एक ही निशान हूबहू दूसरे व्यक्ति में होने संभव नहीं। फिर दोनों की लिखावट व हस्ताक्षर भी एक हैं। दार्जिलिंग की घटनाओं पर दोनों पक्षों की एकरूपता न होने पर भी संन्यासी के इतने दिनों बाद प्रकट होने से सत्य नहीं टाला जा सकता। यदि संन्यासी अंधा या बहरा या पंगु होकर भी आता तो भी उसे स्वीकार करना पड़ता।

जज ने संन्यासी के पक्ष में दूसरा प्रमाण माना संन्यासी द्वारा अतीत की घटनाओं का वर्णन। संन्यासी राज परिवार की पुरानी से पुरानी बातें बता सकता था और उनमें अनेक घटनाएँ ऐसी थीं जिन्हें घर के प्राणी के अलावा दूसरे किसी के जानने की सम्भावना भी नहीं रहती।

जज ने कहा कि कुछ लोगों को छोड़ कर बाकी सभी लोगों ने संन्यासी को मँझले कुमार के रूप में पहचाना है। जज ने आगे लिखा कि विभावती देवी द्वारा अपनाया गया रुख भी अविश्वसनीय नहीं है, क्योंकि एक हिन्दू विधवा इतने वर्षों वैधव्य का जीवन बिताने के बाद फिर उसमें कोई बदलाव नहीं चाहती।

जज ने माना कि दार्जिलिंग की घटना के बाद भी यह अफवाह चलती रही है कि मँझले कुमार जीवित हैं। अतः ज्योतिर्मयी देवी के जो भी प्रयत्न संन्यासी को पहिचानने के सम्बन्ध में हुये सभी स्वाभाविक थे। एक बहन के लिये मृतक भाई के जीवित होने की कल्पना ही उसे ऐसे परीक्षण के लिये स्वाभाविक रूप से विवश करती है।

यदि मँझले कुमार सचमुच मर जाते और दार्जिलिंग में यदि सचमुच उनका अन्तिम संस्कार किया जाता तो संन्यासी और उनके शरीर व अंगों तथा निशानों की एकरूपता को संयोग की बात कही जाती। लेकिन जज ने माना

कि संन्यासी ने दार्जिलिंग का १६०६ की घटना का जो वर्णन किया है, वह सत्य है और विरोध-पक्ष की बातों पर उन्हें विश्वास नहीं है।

मामले में दार्जिलिंग सम्बन्धी घटना के सम्बन्ध में जज को निम्नलिखित बातों पर विचार करना था—

- क्या संन्यासी के कथनानुसार मँझले कुमार रमेन्द्र नारायण को ज़हर दिया गया था ?
- क्या तथाकथित "मौत" संन्यासी के कथनानुसार आठ मई को साढ़े आठ बजे रात को हुई थी या विरोध-पक्ष के कथनानुसार आधी रात को ?
- क्या आठ मई की रात को श्मशान पर पानी बरसा था ?
- नौ मई को सबेरे जो अन्तिम-संस्कार होने की बात कही जाती है वह किस प्रकार व किस विधि से हुआ था ?

जज को संन्यासी के इस बयान को मानने में कोई हिचक नहीं थी कि उसे जहर दिया गया था। और विरोध-पक्ष का कहना कि बड़े कुमार को बीमारी का तार दिया गया था—झूठ को बनाने का प्रयास था।

इस सम्बन्ध में जज ने लेफ्टी० कर्नल कलवर्ट, दार्जिलिंग के सिविल सर्जन के सर्टीफिकेट और डिप्टी कमिश्नर क्राफोर्ड को सत्य नहीं माना। जज का कहना था कि सर्टीफिकेट सच्चे हैं पर सर्टीफिकेट देने वालों ने सुनी बातों पर सर्टीफिकेट दिया है और वे मँझले कुमार की तथाकथित मृत्यु के समय उपस्थित नहीं थे।

जज ने प्रोफेसर राधा कुमुद मुकर्जी की गवाही को सत्य माना जिन्हें आठ बजे रात सूचना दी गयी थी। उन्होंने स्वयं ही मँझले कुमार का शरीर साढ़े सात बजे जमीन पर लिटाया हुआ देखा था और देखा था कि विभावती देवी जोरों से रो रही थीं। उसके थोड़ी देर बाद ही लकड़ी तथा चिता के लिये अन्य समान खरीदे गये थे।

जज ने माना कि मँझले कुमार की तथाकथित मृत्यु का समय रात को साढ़े आठ का ही है। जैसा कि संन्यासी का कहना है।

अब दूसरी जो बात निश्चित होनी थी, वह यह कि क्या ८ मई १६०६ की

रात को वर्षा व तूफान आया था ? जज मानते हैं कि दार्जिलिंग में मई के महीने में इस प्रकार अचानक वर्षा व तूफान का आना असम्भव घटना नहीं है।

यह भी पता लगा कि श्मशान के निकट के 'प्लैंटर्स क्लब' का वर्षा सम्बन्धी हिसाब रखने का रजिस्टर यह मामला अदालत में आने के बाद दो बंगालियों (भद्रलोक) द्वारा माँग लिया गया था। और उस दिन का म्युनिसिपल रजिस्टर भी बदला हुआ पाया गया। अत: जज ने स्वीकारा कि यदि कहीं लिखा-पढ़ी में वर्षा का सुबूत न मिले तो भी वर्षा व तूफान होने की बात मानी जा सकती है।

जहाँ तक ९ मई को सबेरे अन्तिम क्रिया होने की बात है, उसे जज ने बनावटी माना और यह तथ्य कि रात भर शव मँझली रानी के ऊपरी मन्जिल के कमरे में रहा और सबेरे जब प्राणकृष्ण आचार्य ने देखा तो शव का चेहरा विकृत हो गया था गलत है।

डॉ० आचार्य ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें ९ मई को प्रात: 'स्टेप एसाइड' बँगले में बुलाया गया था। पर उन्होंने शव को मकान के निचले भाग में देखा और वह सिर से पाँव तक ढँका हुआ था। ब्रह्मोसमाज के नियम के अनुसार डा० आचार्य को शव को खोल कर देखने भी नहीं दिया गया था। लेकिन विरोध-पक्ष के बयान के अनुसार लेफ्टी० कर्नल कलवर्ट जैसे अहिन्दू को जाँच के लिये शव को छूने दिया गया था।

विभावती देवी का कहना कि शव रात भर उनके कमरे में था, अपने आप में तथ्यहीन है।

विभावती देवी की माँ का एक पत्र प्रस्तुत किया गया था कि सारी रात विभावती देवी बेहोश रहीं और यही बात सत्येन्द्रनाथ की डायरी में भी है कि उनकी बहन रात भर बेहोश रहीं। इन बातों को माना जाय तो विभावती का बयान झूठा हो जाता है।

जज ने स्वीकार किया कि सबेरे के दाह-संकार की बात झूठी है। अत: श्मशान की घटनाओं को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता, सिवा इसके विरोध-पक्ष ने इस सम्बन्ध में जो भी गवाह प्रस्तुत किये हैं वे सभी बनावटी हैं।

जहाँ तक सत्येन्द्रनाथ बनर्जी के दार्जिलिंग सम्बन्धी तथा बाद की घटनाओं के विषय में दिये गये बयान का सम्बन्ध है—जज ने स्पष्ट कहा—'इस नवयुवक के कंधों पर बड़ा ही योजना वाला और चतुर-बुद्धि वाला सिर है।'

जहाँ तक ढाका में ज्योतिर्मयी के घर पर घटी घटनाओं का सम्बन्ध है, जब संन्यासी ने अपनी असली पहचान घोषित कर दी और उसे लोगों ने मँझला कुमार मान लिया तो जज के पास यह अविश्वास करने का कोई कारण नहीं बचता कि वह संन्यासी का बयान सत्य न मानें। इस सम्बन्ध में जज ने देखा कि विरोध-पक्ष अपने दिये तथ्य की सत्यता सिद्ध करने में असफल रहा। जज ने स्वीकार किया कि विरोध-पक्ष ने जो भी पत्र प्रस्तुत किये हैं वे सभी बनावटी व झूठे हैं और यह सिद्ध नहीं हो सका कि मँझले कुमार पूर्णतया शिक्षित और उच्च श्रेणी के 'भद्रलोक' की आदतों वाले थे।

जज ने यह भी स्वीकारा कि धरमदास जिसे विरोध-पक्ष ने गवाह के कटघरे में खड़ा किया, वह बनावटी गवाह नहीं है। विरोध-पक्ष की यह कहानी भी झूठी है कि संन्यासी कासिमपुर, जयदेवपुर आदि स्थानों में इस सम्बन्ध में प्रभाव डालने गया था।

जज ने अपने फैसले में लिखा कि भुवाल राज के राज-कर्मचारियों ने जानबूझ कर संन्यासी के विरुद्ध गलत मामला तैयार किया। जब कि वह अपनी पहचान घोषित कर चुका था और जयदेवपुर व भुवाल राज में प्रजा ने बड़ी सभा करके उसे मँझले कुमार के रूप में स्वीकार कर लिया था।

जहाँ तक विरोध-पक्ष का यह दावा है कि संन्यासी पंजाबी है और उसका नाम मालसिंह उर्फ सुन्दरदास है, जज ने कहा कि इसे सिद्ध करने में विरोध-पक्ष पूरी तरह असफल रहा।

इन तथ्यों व अन्य प्रमाणों के आधार पर जज ने लिखा, "मेरा विचार है कि संन्यासी वास्तव में भुवाली बंगाली है और उसका नाम है रमेन्द्र नारायण राय और वह भुवाल राज के राजा राजेन्द्र नारायण राय का द्वितीय पुत्र है।"

अपने फैसले के अन्तिम अंश में जज ने लिखा कि संन्यासी का दावा कि वह भुवाल राज का दूसरा कुमार है और राज के एक तिहाई भाग का अधिकारी है, यह असंगत व गलत नहीं है।

जज ने अन्त में संन्यासी के पक्ष में डिगरी दी और मुकदमे का खर्चा भी उसे दिलाया।

इस प्रकार संन्यासी, भुवाल राज का मँझला कुमार घोषित हुआ और राज के उसके भाग का अधिकार भी स्थापित हो गया।

जज पन्नालाल बोस का फैसला सुन कर अदालत के भीतर व बाहर खड़े हुए हजारों लोगों के बीच खुशी की लहर दौड़ गयी और वे प्रसन्नता से उछलने-कूदने लगे।

एक सम्मानित और योग्य अदालत द्वारा भुवाल संन्यासी, भुवाल राज का मँझला कुमार रमेन्द्र नारायण राय चौधुरी मान लिया गया था। संन्यासी और उसके योग्य वकीलों को लोगों ने मालाओं से लाद दिया और संन्यासी के साथ उन्होंने एक बड़ा जुलूस भी निकाला। उस समय खूब मिठाइयाँ बाँटी गयीं, आतिशबाजियाँ छुड़ाई गयीं। ढाका में ऐसा सार्वजनिक उत्सव इसके पूर्व किसी ने न देखा था।

जयदेवपुर में संन्यासी की जीत की खुशी में लगातार तीन दिनों तक उत्सव होता रहा। पूरे क्षेत्र के हिन्दू और मुसलमानों ने मिल कर इस प्रकार का उत्सव मनाया कि जैसे राजा की ताजपोशी हुई हो।

फैसले के तत्काल बाद ही संन्यासी जाकर जयदेवपुर के अपने पारिवारिक महल में रहने लगा। अब उसका नाम हो गया, राजा रमेन्द्र नारायण राय चौधुरी। उसने अपने राज के कामों के लिये अपनी बहन ज्योतिर्मयी देवी को अपना प्रमुख सलाहकार नियुक्त किया।

इतना सब हो जाने के बाद भी एक व्यक्ति अभी भी प्रसन्न न था, वह था सत्येन्द्रनाथ बनर्जी और उसके प्रभाव में अन्धी हो रही मँझली रानी विभावती देवी अभी भी जिद पर अड़ी थी और संन्यासी को अपना पति मानने को तैयार न थी।

जब तमाम कोशिशों और मान-मनौवल के बाद भी सफलता न मिली और विभावती देवी किसी भी शर्त पर अपना विचार बदलने को तैयार न हुयी तो विवश होकर ज्योतिर्मयी देवी ने संन्यासी को फिर शादी करने की सलाह दी। उसकी दलील थी कि भुवाल राज का कोई प्राकृतिक वारिस नहीं है, क्योंकि संन्यासी के अलावा अन्य दो भाइयों के भी कोई सन्तान नहीं थी। अतः यह

संन्यासी का पुनीत कर्तव्य था कि वह फिर से शादी करके भुवाल राज को एक उत्तराधिकारी दे, अन्यथा इस प्रसिद्ध राज की ज्योति सदा के लिये बुझ जायेगी। बहुत जोर-दबाव डालने के बाद अन्त में संन्यासी ने दूसरी शादी की।

संन्यासी की दूसरी शादी से राज्य में अवश्य खुशियाँ छा गयीं पर उससे इस कहानी में कोई अन्तर न आया।

□ □ □

जज पन्नालाल बोस के फैसले के छः हफ्ते के भीतर ही कलकत्ता उच्च न्यायालय में इस फैसले के विरुद्ध ५ अक्टूबर १९३६ को अपील दायर की गयी। अपील में प्रार्थियों के नाम थे—मँझली रानी विभावती देवी, छोटी रानी अनन्दा कुमारी देवी, छोटी रानी का गोद लिया पुत्र और कोर्ट ऑफ वार्ड्स। एक दूसरी अपील विभावती देवी ने अपनी व्यक्तिगत हैसियत से भी दायर की।

संन्यासी और बड़ी रानी सरयूबाला देवी प्रमुख प्रतिवादी हुए।

इस अपील में प्रार्थियों ने पन्नालाल बोस के फैसले को चुनौती दी थी। कारण लिखा था कि योग्य जज दार्जिलिंग की घटनाओं की विवेचना में असफल रहे हैं और गलत फैसला दिया है।

अपील तैयार करने में वकीलों ने पचासी हजार रुपये लिये और कहा जाता है कि पूरे मामले में प्रारम्भ से अपील दायर करने के समय तक दोनों पक्षों द्वारा फीस तथा अन्य खर्चों के रूप में पच्चीस लाख रुपये स्वाहा हो चुके थे।

कलकत्ता हाईकोर्ट में अपील १४ नवम्बर १९३८ को एक पूरी बेंच के सामने, जिसमें न्यायमूर्ति सर एल० डब्ल्यू० जे० कौस्टेली, न्यायमूर्ति सी० सी० विश्वास और न्यायमूर्ति आर० एफ० लॉज थे, सुनवाई शुरू हुई।

इस बार भी अपील के समय बैरिस्टर ए० एन० चौधुरी ही अपीलकर्त्ताओं की ओर से प्रस्तुत हुए।

बैरिस्टर चौधुरी ने प्रारम्भिक अदालत के फैसले की जी-जान से आलोचना की और बड़े-बड़े शब्दों में भर्त्सना भी की। उन्होंने जज की इस बात पर

आलोचना की कि उन्होंने बाबा धरमदास और अन्य नागा साधुओं की गवाही मानी और मृतक मँझले कुमार को फिर से जीवित कर दिया। उन्होंने बड़े व्यंग्यात्मक लहजे में कहा कि किसी मृतक शव का सिर मूँड़ कर उस पर आधे दर्जन नंगे साधु यदि कोई जङ्गली लेप-पोत दें और इतने भर से मृतक जी उठे—ऐसी कहानी क्या कोई योग्य न्यायकर्त्ता मान सकता है?

बैरिस्टर चौधुरी ने जज पन्नालाल की सचमुच बड़ी निर्ममता से आलोचना की।

इस अपील की सुनवाई १४ अगस्त १९३९ को समाप्त हुई, लेकिन उच्च न्यायालय ने अंतिम निर्णय सुनाया २५ नबम्बर १९४० को।

दो जजों कौस्टेली और विश्वास ने अपील खर्चे के साथ खारिज की, लेकिन तीसरे जज ने पूर्व अदालत के फैसले को उलट दिया। लेकिन इस बार भी जीत संन्यासी की ही रही। क्योंकि दो जजों ने पूर्व फैसले का समर्थन किया था और एक जज ने उसे अनुचित माना था। अत: दो जजों का निर्णय ही मान्य रहा।

इतने पर भी विभावती देवी और उसके एकमात्र समर्थक सत्येन्द्रनाथ बनर्जी को सन्तोष न मिल सका। उन्होंने कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रीवी कांउसिल में भी अपील की। संन्यासी का सौभाग्य था कि प्रीवी काउंसिल में उसकी ओर से लड़ने के लिए उस युग के महान वकील सर डी० एन० प्रिट ने मंजूरी दे दी।

इस अपील की सुनवाई शुरू होने में बहुत समय लग गया। क्योंकि उस समय दूसरा महायुद्ध चल रहा था और इंगलैंड तथा भारत के बीच डाक व यात्रा की सुविधाएँ बहुत दिक्कत की हो गयी थीं।

अंत में जब प्रीवी कांउसिल ने अपील सुनी और पूरे २८ दिनों तक सुनवाई चलती रही। अट्‌ठाईस मोटी-मोटी जिल्दों में प्रमाण-पत्रों व अन्य कागजातों तथा लगभग सात सौ चित्रों को प्रीवी कांउसिल को देखना व जाँचना पड़ा। निश्चय ही प्रीवी कांउसिल के इतिहास में भारत से आने वाली अपीलों में यह सबसे बड़ी अपील थी।

अन्ततोगत्वा ३० जुलाई १९४६ को प्रीवी कांउसिल ने भी विभावती देवी की अपील को खारिज कर दिया और अन्तिमरूप से घोषित कर दिया कि

संन्यासी ही भुवाल राज का मँझला कुमार रमेन्द्र नारायण राय चौधुरी है।

उन दिनों भुवाल संन्यासी कलकत्ता में रहते थे। प्रीवी कांउसिल के अपने पक्ष में निर्णय की सूचना उन्हें पहली अगस्त के समाचार-पत्रों से मिली। यद्यपि यह खुशखबरी लाने वाला लंदन से वकील का तार भी उसी दिन प्राप्त हो गया।

दस साल पहले जब ढाका के जज पन्नालाल बोस ने संन्यासी के पक्ष में निर्णय दिया था, तब सभी ओर उत्सव व खुशियाँ बनायी गयी थीं। पर इस बार प्रीवी कांउसिल के इस निर्णय के बाद लोगों में और विशेष कर सन्यासी में स्वयं इतना उत्साह न था और कोई विशेष उत्सव आयोजित न हो सका।

इसका एक कारण और था। सन् ४२ के राजनीतिक विद्रोह के बाद ४६ आते-आते भारत की जनता का दिमाग बदल चुका था और भारतीय स्वतंत्रता का प्रभात फूटने वाला था और उस प्रभात-पूर्व की धुंधली रोशनी में कोई भी भारतीय किसी जमींदार या राजा के जीतने व हारने में अब पहले जैसी दिलचस्पी न रखता था। भारत में तब राजनीनिक जागृति थी और नए राष्ट्र के नव-विहान के साथ ही लोग दूसरी ही मानसिक स्थिति में व्यस्त थे।

फिर अब भुवाल संन्यासी भी बासठ वर्ष का वृद्ध था और मुकदमे की जीत उसके लिये कोई नई न थी और अपने जीवन की इस वृद्धावस्था में अब भला वह उत्सव भी क्या मनाता !

□ □ □

भाग्य का चक्र !

पहली अगस्त सन् १९४६ को भुवाल संन्यासी का प्रीवी कांउसिल में अपनी जीत का समाचार मिला। फिर दूसरे-तीसरे दिन भी बधाई के तार-पत्रों का ताँता लगा।

कि अचानक, तीसरी अगस्त को भुवाल संन्यासी का देहान्त हो गया।

चमत्कारी भुवाल संन्यासी एक बार १९०९ में मरा था, अब सैंतीस वर्ष बाद वह फिर मरा।

अगले दिन ४ अगस्त को सबेरे ९ बजे उसका दाह-संस्कार होना था। अतः तीन को पूरी रात कलकत्ता के नागरिक जाग कर यही चर्चा करते रहे

कि एक बार संन्यासी मरा था तो कैसा चमत्कार हुआ था और इस बार भी मरा है तो अवश्य ही कोई-न-कोई चमत्कार होगा ही। लोगों का ख्याल था कि शायद इस बार भी संन्यासी फिर चिता से उठ खड़ा हो जायगा।

इतवार, ४ अगस्त को सवेरे से ही फिर जोरों की वर्षा और तेज हवा शुरू हुयी। कलकत्ता ने ऐसी भीषण बरसात कम ही देखी थी। लोगों ने कहा कि १६०६ में दार्जिलिंग में इसी तरह की वर्षा व हवा थी, जब पहली बार संन्यासी मरा था। इस वर्षा ने लोगों के मन में बैठे चमत्कार के प्रति उत्सुकता को और भी जगा दिया।

अवश्य कोई चमत्कार होने वाला है।

लोग हजारों की संख्या में, जिसे जो भी सवारी मिली, न मिली तो पैदल ही केवरा तल्ला श्मशान घाट की ओर दौड़ पड़ा।

घाट पर लोग साँस रोके खड़े थे।

अर्थी लायी गयी। अर्थी पर भुवाल संन्यासी का शव। चिता पर शव रखा गया। चिता में आग भी लगा दी गयी।

लोगों की आँखें चिता पर लगी थीं। संन्यासी अब उठा, अब उठा।

पर निराशा। संन्यासी का शव थोड़ी देर में जलने लगा और धीरे-धीरे राख होने लगा।

कोई चमत्कार न हुआ।

और एक चमत्कारी जीवन का अन्त हो गया। एक ऐसा जीवन जो जीवित ही मृत घोषित हो गया था और अपने जीवित रहने का सबूत उसे अदालत से प्राप्त करना पड़ा। जो राजकुमार था, पर उसे सारा जीवन संन्यासी बन कर घूमने में ही बिताना पड़ा।

□ □ □

संन्यासी का जीवन आज भी लोगों के लिये रहस्यमय ही बना है। अक्सर आज भी लोग यही पूछते हैं कि क्या सचमुच में संन्यासी ही मँझला कुमार था या कोई पाखण्डी जो कलकत्ता व लंदन के वकीलों के कारण अदालत से मँझला कुमार सिद्ध हुआ था, और यदि वह सचमुच में मँझला कुमार था तो उसकी

पत्नी विभावती देवी ने उसे अब तक स्वीकार क्यों नहीं किया ? क्या एक पत्नी अपने पति को पहचाने में धोखा खा सकती है ?

लेकिन यह बात भी सर्वविदित है विभावती देवी पूरी तरह सत्येन्द्रनाथ बनर्जी के प्रभाव में थी, लेकिन यही कारण उसकी जिद की सार्थकता के लिये पर्याप्त नहीं। हाँ, एक बात है कि रमेन्द्र नारायण के साथ उसका दाम्पत्य जीवन फूलों की जगह काँटों की सेज पर बीता था। अत: एक ऐसे व्यक्ति के प्रति उसका कठोर हो जाना भी सम्भव था जो अपनी जवानी में तमाम बुरी व गन्दी बीमारियों का शिकार था और उसने अपनी व पत्नी की जवानी को बरबाद किया था।

विभावती देवी संन्यासी को चाहे अपना पति न माने पर ढाका की अदालत, कलकत्ता उच्च न्यायालय और ब्रिटिश साम्राज्य की उच्चतम अदालत प्रीवी कांउसिल ने तो उस संन्यासी को भुवाल राज का मँझला कुमार रमेन्द्र नारायण राय चौधुरी माना ही था और भुवाल संन्यासी चाहे पाखण्डी था या मौत के मुँह से निकल आने वाला मँझला कुमार, पर उसका मामला भारत के कानूनी इतिहास का एक चमत्कारी मामला सिद्ध हुआ और सदा इसी रूप में स्मरण भी किया जायगा।

भुवाल संन्यासी का जीवन एक अजीब कहानी तो है ही।

[सन् १९७०]

गुम-शुदा चिट्ठियाँ

[१]

औरंगजेब का खत अपने मौलवी के नाम

[सन् १६५८ में अपने पिता और भाइयों से लड़ कर औरंजेगब हिन्दुस्तान के शाही-तख्त पर कब्जा करने में सफल हो गया था और फिर पूरे पचास साल तक वह शान-शौकत और पूरी ताकत से उस तख्त का मालिक बना रहा। लेकिन जब उसे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में पता लगा कि दुनिया में उससे भी बड़े और बादशाह हैं, उसकी सलतनत से बड़ी और सलतनतें मौजूद हैं तो उसे लगा कि उसका जीवन असफल रह गया और अपने लड़कपन के शिक्षक, मौलवी को उसने इसका जिम्मेदार ठहराया और मौलवी (मुल्लाशाह) को उसने खीझ कर जो खत लिखा वह यह था—

औरंगजेब की बादशाहत की प्यास और तड़प का एक नमूना है यह खत ।]

".........

मैं अब तुम्हें क्या कहूँ मौलवी ? क्या सचमुच मेरे दरबार के एक खास उमराव बने रहने की तुम्हारी ख्वाहिश तुम्हारी ईमानदारी व नेकनीयती है ?

मेरी अपनी राय में, अगर तुमने मुझे पढ़ाया-लिखाया, जो तुम्हें करना ही चाहिये था, तुम्हारा फर्ज था कि तुम अपने काम के प्रति ईमानदार भी रहते। मैं तो किसी को उसके छुटपन में पढ़ाने वाले मौलवी को बाप का दर्जा देने के हक में हूँ, बशर्ते अच्छी और जरूरत की तालीम दी जाए।

आज तुम्हारी वे किताबें कहाँ हैं जिससे तुम मुझे पढ़ाते थे ? तुमने मुझे बताया था कि फिरंगिस्तान (यूरोप) कोई बड़ा मुल्क नहीं है। मुझे बेकार ही ऐसे छोटे-छोटे टापुओं के बारे में जानकारी हासिल करने में समय बरबाद नहीं करना चाहिये। लेकिन अब मुझे मालूम हुआ है कि उन छोटे-छोटे टापुओं में एक पुर्तगाल का ही बादशाह कितना बड़ा या छोटा है। उसके बाद हालैंड, उसके बाद इंगलैंड और फ्रांस जिनके बारे में तुमने बताया था कि यह सभी छोटे-छोटे राजा हैं और हिस्दुस्तान के बादशाह के सामने उनकी कोई भी बिसात नहीं है। हिन्दुस्तान के बादशाह के नाम पर टरकी, परशिया, चीन मैचिना के राजा लोग काँपने लगते हैं। वे सभी हमारे मातहद हैं। वल्लाह ! ...... वाह रे, तुम्हारी जुगराफ़िया की समझ और इल्म ? तुम्हें चाहिए था कि तुम मुझे बताते कि दुनिया में इन मुल्कों की क्या अहमियत है, उनके तौर-तरीके क्या हैं ? उनके मजहब क्या हैं, उनकी लड़ाई के तरीके क्या हैं ? उनकी सलतनतें कैसे चलती हैं, उनके इतिहास में क्या-क्या प्रमुख घटनाएँ घटी हैं।

इनके बजाय तुमने मुझे मेरे पुरखों के नाम रटाए। बताया कि हमारी सलतनत की नींव उन्होंने कैसे डाली। उनके जीवन का इतिहास जान कर भला मैं क्या करूँगा ?

तुम्हारा इरादा था कि तुम मुझे अरबी जुबान सिखाते ताकि मैं अरबी लिख और पढ़ सकता। सचमुच क्या मैं एहसान मानूँ कि इस जुबान को सिखाने में तुमने मेरा कितना समय बरबाद किया ? जिस जुबान को सीखने में दस या बारह साल चाहिये, जैसे कि किसी भी बादशाह के बेटे के लिए पंडित मौलवी बनना ही गौरव की बात है, और ऐसी जुबानों का माहिर होना जिन्हें न सीखने से कोई नुकसान भी न रहे ? क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि एक शाह-जादे की बेशकीमती ज़िदगी का एक-एक दिन कितना कीमती होता है, जिसका एक क्षण भी बेकार गँवाना सलतनत और इन्सानियत का कितना बड़ा नुक-सान है ?

क्या तुम्हें यह नहीं मालूम था कि शाहजादे को बचपन में सिखायी गयी चीजें उसे जिन्दगी भर याद रहती हैं? क्या जो कानून, मजहब और विज्ञान तुम मुझे सिखाना चाहते थे वह मेरी मादरेजुबान (मातृ-भाषा) में नहीं पढ़ाया जा सकता था या सिर्फ अरबी में ही उन्हें सीखा जा सकता था? तुमने मेरे अब्बा हुजूर, बादशाह शाहजहाँ से कहा था कि तुम मुझे फिलसफा (दर्शन) सिखाना चाहते हो। मुझे अच्छी तरह याद है कि कई वर्षों तक तुम मुझे वही सब सिखाते-पढ़ाते रहे हो जो आकाश-पाताल की बातें थीं, जिनसे मेरे दिमाग को कभी सुकून (शांति) नहीं मिला, जिनसे इन्सानियत या मुल्क को कोई फायदा नहीं होता। सब कल्पना की बातें थीं, हवाई बातें, जिन्हें सीखना जितना ही मुश्किल था उनको भूलना उतना ही आसान।

मुझे अभी भी अच्छी तरह याद है कि मैं बरसों तक तुम्हारे फिलसफे के भारी-भरकम लफ्जों से किस तरह भरमाया हुआ था, मुझ पर तुम्हारी काबलियत (विद्वत्ता) का कोई रोब नहीं पड़ा और तमाम फिलसफे के जो जादू (रहस्य) तुम मुझे बताना चाहते थे क्या वे सब सचमुच तुम्हें खुद ही ठीक से मालूम थे?

काश, कि तुमने मुझे बताया होता कि यह दुनिया सचमुच कितनी बड़ी है और हमारी सलतनत—यह मुल्क हिन्दुस्तान कितना छोटा है। तो क्या आज मैं तुम्हारे फिलसफे की तालीम पर यों बैठ कर खीझता, हाथ मलता या दुनिया को अपनी सलतनत में शामिल करने का उपाय करता? अगर तुमने यह सब किया होता तो निश्चय ही मैं तुम्हें वही इज्जत देता जो महान् सिकन्दर ने अपने गुरु एरिसटोटल को दी थी।

काश, कि मुझे बेवकूफ बनाये रख कर तुमने मुल्क और क़ौम के साथ गद्दारी न की होती, मुझे वही सब पढ़ाते जो एक बादशाह को जानना चाहिए! बताते कि एक महान् बादशाह की उसके रियाया के प्रति क्या जिम्मेदारियाँ हैं, या रियाया को बादशाह के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। कभी तुमने सोचा होता कि तुम उस तलवार का महत्व ही मुझे बता देते जिसके बल-बूते पर मैंने अपने भाइयों से अपना ताज छीना है!

क्या तुम्हें कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि तुम मुझे बताते कि दूसरे मुल्कों पर आक्रमण करने में या अपनी फ़ौज की व्यूह-रचना में क्या-क्या किया जाता है? इन चीजों को सीखने के लिए मैं दूसरों का एहसानमन्द हूँ, तुम्हारा

तो क़तई नहीं। अब तुम अपने गाँव, जहाँ से तुम आये थे, लौट जाओ और वहाँ किसी से यह न बताना कि तुम कौन हो और तुमने क़ौम व मुल्क़ के साथ कितना शर्मनाक व गद्दारी का सुलूक किया है।

मुझे यक़ीन है कि मेरी पाक आँखें अब कभी तुम्हारा नापाक व मनहूस चेहरा न देखेंगी !"

[शाही कागजातों से यह तो पता न लगा कि मुल्लाशाह ने अपने बादशाह शिष्य की आखिरी ख्वाहिश किस तरह पूरी की जो चिट्ठी की आखिरी लाइनों में लिखी थी, लेकिन यह शाह-फरमान (चिट्ठी) पाने के बाद से फिर न तो उसके नाम का कहीं जिक्र ही पढ़ा गया न किसी ने उसकी शक्ल ही देखी।]

[२]

सिकंदर और डेरियस के खत

[सिकंदर महान के जीवन व काल से सम्बन्धित कागजातों की हालत बड़ी खस्ता है। उन नष्टप्राय कागजातों और दुनिया भर में फैली हुई किवदंतियों के बीच बड़ी खाई भी है। आज स्कूल में पढ़ने वाला प्रत्येक विद्यार्थी सिकंदर के फौजी कमालों, शक्तिशाली और बहादुराना कारनामों से प्रभावित है······योरप, अफ्रीका और एशिया—तीन-तीन महादेशों के उसके फौजी जूतों से कुचले जाने की कहानी······उसकी सैनिक व्यूह-रचना, अचानक हमला और रात को हमला न करने की घोषणा······एरिसटोटल की शिक्षा, होमर को कंठस्थ करना, जेरुसलम पर उसकी विजय, सिकन्दरिया का निर्माण, उसका सूरज-सा देदीप्यमान जीवन और उसकी असामयिक मौत, केवल तैंतीस वर्ष में······

······पिछले कुछ बरसों से विश्व के इतिहास-पंडितों, विशेषकर योरप वालों में यह प्रवृत्ति जगी है कि वे इस बात का ऐतिहासिक सुधार करें कि सिकन्दर एक जंगली प्रवृत्तियों वाला वहशी था। ग्रीक इतिहास-पंडित, प्रोफेसर सी० ए० राबिन्सन (जू०) ने तो यहाँ तक सिद्ध किया है कि सिकन्दर जैसा महान विजेता, योद्धा और इतिहास में सर्वप्रथम बार विश्व के समस्त राष्ट्रों में भाई-चारे का सपना देखने वाला दूसरा आज तक धरती पर नहीं जन्मा।

······शौर्य और यौवन का प्रतीक, ग्रीस का सम्राट और विश्व-विजेता सिकन्दर ३५६ ई० पू०, मैकडोनिया क राजधानी पेला में पैदा हुआ जिसे बचपन में ही एरिसटोटल ने जीवन के हर शास्त्र की शिक्षा दी, अपने पिता—मैकडोन का फिलिप—के सामने ही सेनापति बन बैठा था। और जब उसे राज-सिंहासन पर बैठना पड़ा तब उसकी उम्र बीस की भी न थी तथा राज्य सँभालने के दो वर्ष बाद ही ३३४ ई० पू० में तीस हजार पैदल और पाँच हजार घुड़सवारों के साथ परसिया पर महान विजय प्राप्त करनी पड़ी। यही विजय थी जिसके आतंक से एशिया माइनर के मुल्कों ने अपने आप ही सिकंदर के स्वागत में अपने-अपने राज-द्वार खोल दिये। और तभी जब एक दूसरे बहादुर बादशाह डेरियस ने सिकन्दर की फतह की सूचना पायी तो वह सतर्क तो हुआ ही, तत्काल ही तत्कालीन महान इतिहास-पंडित मीरकंद को बुला-कर सचेत किया और अपनी प्रजा व अन्य देशों के निवासियों के नाम संदेश भिजवाया :

"हमारे सुनने में यह सच्ची खबर आयी है कि कोई लुटेरा जिसने दुनिया भर के चोरों को जुटा लिया है, तूफान की तरह दुनिया के हर मुल्क पर चढ़ता आ रहा है। उससे मुकाबला करने को तैयार हो जाओ, उसके आगे सिर न झुकाना, चाहे तुम्हें अपना सिर कटाना ही पड़े या तुम्हें अपने बच्चों व जानवरों को समन्दर में ही डुबाना क्यों न पड़े।"

······और अरमीनिया से लौट कर जब सिन्कदर ने अस्तुखुश नदी के किनारे अपना तम्बू गाड़ा तो डेरियस का सिंहासन हिलने लगा। तब डेरियस ने सिकन्दर के नाम यह खत लिखा :]

[डरियस का खत सिकंदर के नाम]

"······

······पैगामनामा, दुनिया के बादशाहों के बादशाह का, अपने सदर मुकाम से। मालूम हो कि जब तक सिर के ऊपर सूरज चमक रहा है, तब तक के लिये, बहिश्त के बादशाह ने मुझे धरती का राज्य सौंप दिया है······मालूम हो कि शोहरत, फतेह, और बादशाहत की शान कायम रखने के लिये बहादुर सिपाहियों का बहुत बड़ा कारवाँ भी मेरे इशारे के लिये निगाहें बिछाये रहता है।

मुझे शायद सही ही इत्तिला मिली है कि तुमने अपने चारों ओर डाकुओं,

लुटेरों और नापाक लोगों को जुटा रखा है जिन्होंने तुम्हारा दिमाग इस हद तक खराब कर रखा है कि तुम राजसिंहासन और ताज के सपने देखने लगे हो और हमारी धरती और रियाया की बरबादी की तुम्हारी नीयत हो गयी है।

गोकि यह हमारे लिये कोई नाई बात नहीं है, न तुम पहली बार हमारे सामने एक सवाल बने हो ! जब-जब रोम की आबादी बढ़ी है, यही हुआ है। लेकिन इस बार हम इस सवाल को हमेशा के लिये खतम कर देना चाहते हैं।...... तुम्हारे लिये यही नेक सलाह है, कि इस फरमान को पढ़ कर, तुम जिधर से आये हो उधर ही लौट जाओ। तुमने यह जो वहशियाना जुर्म किया है इधर देखने का, इसे हम कभी माफ या नज़र-अंदाज तो कर ही नहीं सकते लेकिन तुम तो इतने भी बड़े नहीं हो कि तुम्हें सज़ा भी हम दें—हमारी सज़ा पाने के लिये भी तुम छोटे हो। अब भी सम्हल जाओ ! हम तुम्हें एक बक्सा भर कर सोना और एक गधे के बोझ भर तिल (अनाज) भेज रहे हैं, इससे तुम्हें हमारी दौलत और ताकत का अंदाज लगेगा। हम तुम्हें एक चाबुक और एक गेंद भी भेज रहे हैं। गेंद तुम अपना प्रतीक समझो जिसका काम बिना मतलब इधर-उधर लुढ़कना ही है और जो तुम्हारे जैसे नादान-उम्रों के लिये मौजूँ भी है, तथा चाबुक को यह समझना कि तुम्हारा इलाज यही है।"

[यह खत पाकर, खत लाने वाले राजदूतों की गिरफ्तारी व कत्ल का हुक्म दिया सिकंदर ने। लेकिन राजदूतों ने रो-रोकर माफ़ी माँगी तब सिकंदर ने दया करके उन्हें माफ़ तो कर दिया और यह जवाब डेरियस के पास उन्हीं के हाथों भेजा :]

[खत सिकंदर का डेरियस के नाम]

"ज़ुल-उल-कुरनैन (सिकंदर) की ओर से, उसे, जो अपने को बादशाहों का बादशाह मानता है, कि बहिश्त का राजदूत अथवा देवदूत आज तुम्हारे सामने है और दुनिया के तमाम बाशिन्दे उसकी मौजूदगी और चमक से चका-चौंध हैं ! लेकिन जो बादशाह है वह सिकंदर जैसे नाचीज व छोटे से दुश्मन से इतना क्यों घबराता है ?

क्या दारा (डेरियस) नहीं जानता कि दुनिया का परवरदिगार, सलतनत की मिलिकयत उसी को सौंपता है जिसे वह चाहता है ? और दुनिया के मालिक का बन्दा जब इतना बददिमाग हो जाता है कि अपने को खुदा समझने लगता

है तो अल्लाह को उससे सलतनत व तख्त छीनने में एक पल भी नहीं लगता ?

फिर ऐसा सख्स अपने को खुदा समझने की हिम्मत भी कैसे करे जो मौत का शिकार भी हो सकता है और जिसकी सलतनत भी उलट सकती है, और जो कभी भी दुनिया को दुनिया वालों के लिये छोड़ कर दुनिया से रुखसत भी हो जा सकता है ?

खैर, सुन लो ! मैंने मैदाने-जंग में ही तुमसे मिलने का फैसला किया है, इसीलिये अब तुम्हारी सलतनत की ओर बढ़ रहा हूँ। मैं अपने को खुदा का बहुत कमजोर व अदना गुलाम मानता हूँ। उसी के सामने मैं अपनी फतह की दुआएँ माँगता हूँ, क्योंकि उससे ज्यादा ताकतवर मैं किसी को नहीं मानता।

अपने खत के साथ, जिसमें तुमने अपनी बेपनाह ताकत का हवाला दिया है, तुमने मुझे एक चाबुक, एक गेंद, एक बक्स भर कर सोना और गधे के बोझ भर तिल (अनाज) भेजा है, इन सबों को मैं अपनी अच्छी किस्मत और आने वाले अच्छे दिनों की निशानियाँ मानता हूँ··· ······चाबुक को मैं अपनी उस फतेह की निशानी मानता हूँ, जो तुम्हें फतह करके मैं पाऊँगा। गेंद, धरती की गोलाई की निशानी है जिसे मुझे फतह करना है। सोना जो तुम्हारे खजाने का एक हिस्सा है—बताता है कि इसी तरह तुम्हारी सारी दौलत मेरे पास आने वाली है और यह तिल का बोझ—इतने तिल कि इनकी गिनती सम्भव नहीं, अतः इतनी ही अनगिनत खुशियाँ तुम्हें फतह करके मुझे मिलेंगी।

तुम्हारे उपहारों के बदले में मैं तुम्हें एक गठरी सरसों के दाने भेज रहा हूँ। इन्हें खाकर तुम मेरी फतह का कड़ुवा स्वाद पा सकते हो। तुम गलत फहमी के शिकार होकर अपनी सलतनत को बहुत बड़ी समझने लगे हो। तुम अपने को खुदा की बराबरी से देखने लगे हो। और तुम्हारी जुर्रत इतनी बढ़ गयी है कि तुमने मुझे सचेत करने की हिम्मत की है। लेकिन खुदा के सामने गुस्ताखी करने वाला कभी भी बख्शा नहीं जाता। जान लो कि मैं तुम्हें शिकश्त देकर तुम्हारे होशोहवास दुरुस्त करने को ही इस दुनिया में भेजा गया हूँ। अतः, तुम्हें अपमानित करके, शिकश्त देकर खुदा मुझे जरूर ही फतह देगा। मुझे खुदा की ताक़त पर भरोसा है और यकीन है। और··· ··· ···जल्दी ही तुमसे मुलाकात होगी। हाफ़िज़।"

[अपनी माँ की भयानक बीमारी की सूचना पाकर सिकन्दर को विवश होकर मैकडोनिया वापस जाना पड़ा। लेकिन उसके स्वस्थ होते ही, सिकन्दर ने डेरियस से मोर्चा लेने फरिस्तान की ओर कूच किया। वहाँ फौजों में टकराव हुआ ! प्रसिद्ध इतिहास-पंडित मीरकंद ने उस युद्ध का यों वर्णन किया :]

......दो समुद्रों की कुछ लहरों की तरह दोनों ओर की फौजें बढ़ रही थीं, और दोनों यों आपस में टकराईं जैसे लोहे के कई पहाड़ आपस में गुँथ गये हों। युद्ध का मैदान गर्द से यों भर गया था जैसे काले धुएँ से ढँक गया हो। फौजी नगाड़ों की आकाश-फोड़ आवाज से सारा वातावरण थर्रा रहा था। सच कहा जाय तो युद्ध के समय, हर क्षण थर्रा रहे थे। आकाश ऐसे नाच रहा था, लगता था किसी भी क्षण गिर सकता है। योद्धाओं की तलवारों से यों खून की वर्षा हो रही थी जैसे बादल से पानी बरसे। और जमीन पर बिछी लाशों के शरीर में चुभी कटारें यों चमक रही थीं जैसे पानी में शीशे के टुकड़े।

यहाँ सिकन्दर को ही फतह मिली, डेरियस युफरेतस की ओर भाग गया। वहाँ भी उसने एक बड़ी फ़ौज इकठ्ठी की और सिकन्दर के पास संदेश भेजा कि वह शान्ति के लिये अपनी आधी सलतनत देने को तैयार है। लेकिन अपने सरदारों की राय के खिलाफ सिकन्दर तो पूरी फौज की जिन्दगी के साथ जुआ खेलने को तैयार था, क्योंकि वह सम्पूर्ण परसिया की फतह चाहता था। सिकंदर ने डेरियस को जो दूसरा खत लिखा वह यह है :]

[सिकंदर का दूसरा खत डेरियस के नाम]

"डेरियस,

डेरियस (शायद इसी नाम से तुम पुकारे जाते हो), अगर इतिहास में जो कुछ लिखा है वह सब सच है तो प्राचीन युग में यह सारा इलाका उजाड़ था, लेकिन एक नहीं तीन युद्धों व हमलों ने इस भूभाग को आबाद किया।

इसी वकिये के हवाले में मैं अपने बाप की मौत का भी जिक्र करूँगा जिसके हत्यारे को तुम जैसे लोगों ने धन-दौलत की लालच में गुमराह किया था।

तुम लोग नापाक इरादों के साथ जंग शुरू करते हो और बुजदिली से जंग चलाते हो और अपने शत्रुओं की बुजदिली से हत्या कराते हो जिनसे तुम्हें हार

का डर रहता है।......और मुझे यह बताने की जरूरत नहीं कि मेरी भी हत्या के लिये तुमने क्या-क्या किया, लेकिन तुम कामयाब न हो सके। लेकिन वह जंग जिसमें मैं आज-कल लगा हूँ, वह मेरे अपने बचाव के लिये है, और खुदा हमें जो फतह देगा और तुम्हारी सलतन देगा वह हमारे लिये खुदा का इंसाफ ही होगा। मैंने मैदानेजंग में तुम पर फतह हासिल की है, इसलिये तुम्हारी कोई भी राय मानना मेरे लिये जरूरी नहीं है। लेकिन हम तुम्हें यकीन दिलाते हैं कि अगर तुम हमारे सामने खुद आकर झुकोगे तो हम तुम्हारी बीवी व बच्चों को आजाद कर देंगे, बिना किसी मुआवज़े के। तुमने भी कई लड़ाइयाँ जीती हैं और जीत का स्वाद तुम्हें मालूम है, लेकिन तुम देखोगे कि जिस पर मैं फतह हासिल करता हूँ उनके साथ कैसा शरीफाना व बाइज्जत सुलूक करता हूँ। और अगर इतने पर भी तुम्हें यहाँ आने पर अपनी सलामती पर शक हो तो तुम अपने पहरे में आओ, और हम यकीन दिलाते हैं कि उसी पहरे में तुम वापस जा सकोगे।...हाँ, एक चीज ख्याल रखना, अब अगर तुम कभी सिकंदरे-आजम को खत लिखना तो उसे सिर्फ़ बादशाह मान कर नहीं, अपना भी बादशाह मान कर लिखना।........."

[अन्त में, ३३१ ई० पू०, २१ सितम्बर को सिकन्दर के नेतृत्व में मैकडो-निया फौज ने तिगरिस पार किया, फिर ग्रीस और परसिया। फिर अरबेला में दूसरी दुनिया की बहुत बड़ी लड़ाई उसे लड़नी पड़ी। इस बार भी फतह ने सिकन्दर के पाँव चूमे। तब सिकन्दर सिर्फ पच्चीस वर्ष का था। और दुनिया के बहुत बड़े हिस्से पर उसकी फतह का झण्डा फहरा उठा।

फिर सिकन्दर मध्य-एशिया में घुसा। लेकिन दुनिया को फतह करने को पैदा हुए इस नौजवान के पास जिन्दगी के कुल आठ साल बचे थे। इसी थोड़े समय में उसे बहुत-से मुल्क जीतने थे, बहुत-से सुधार करने थे और विश्व के दार्शनिकों से भी सम्पर्क बनाने थे। काम बहुत था और समय बहुत कम था। वह ३२३ ई० पू० में ३३ वर्ष की उम्र में मरा। और दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्य को जिसे उसने अपने बजुओं की ताकत से बनाया था, उसके तीन सरदारों में बँट जाना पड़ा—पटोलेभी, सिल्यूकस और एंटीगोनस—के बीच, जिन्होंने अपनी राजधानियाँ क्रमशः मिश्र, सीरिया और मैकडोनिया में बनायीं।]

[३]

जार्ज बर्नार्ड शॉ और एलेन टेरी के प्रेमपत्र

[पिछले कुछ वर्षों में मिसेज़ पेत्रिक कैम्पबेल ने कई बार चाहा कि अपने जीवन के प्रारंभिक काल में जार्ज बर्नार्ड शॉ के साथ हुए प्रेम-पत्र-व्यवहार को वह प्रकाशित करा दे। परन्तु जब उसने शॉ को लिख कर इसकी अनुमति माँगी थी तो शॉ ने लिखा था—"नहीं, नहीं स्टेला, खुदा के वास्ते मुझे घोड़ा मत बनाना······।"

लेकिन शॉ ने एलेन टेरी के साथ हुए अपने प्रेम-पत्र-व्यवहार को न केवल छापने की ही अनुमति दी बल्कि उन पत्रों पर अपनी जादूभरी लेखनी से बड़ी जानदार टिप्पणियाँ भी लिखीं।

निश्चय ही वे पत्र जब लिखे गये थे तब उनके प्रकाशित होने की कोई संभावना न थी। उन्हीं पत्रों से शॉ का वह प्रेमिक रूप भी संसार के सामने आया जो रूप दुनिया से वह सदा छिपाता रहा। एलेन टेरी की दो सौ प्रेम-पगी पातियाँ और इससे कुछ कम संख्या में शॉ के पत्रों का संकलन विश्व के बौद्धिक प्रेमियों के लिए महान प्रेरणा की वस्तु बना। प्रारंभिक पत्रों से पता चलता है कि एलेन टेरी बहुत भयभीत थी कि कहीं उसकी भेंट रंगशाला में हो गयी तो निश्चय ही शॉ उसे देख कर प्रसन्न न हो सकेगा, अतः वह बहुत प्रयत्नशील रही कि किसी कीमत पर भी भेंट टलती रहे। फिर दोनों जीवन भर नहीं मिले।

कुछ अंश देखें—

शॉ द्वारा टेरी को—तुम देखोगी कि मैं खबीस-सा दिखने वाला अधेड़ उम्र का लाल दाढ़ी वाला आइरिश हूँ, लेकिन क्या करूँ, विवश हूँ, शक्ल कैसे बदलूँ ?

टेरी द्वारा शॉ को—तुम कितने सलोने हो ! अभी तो बच्चे ही हो। एक आइरिश के लिए भला चालीस की उम्र भी कुछ है ? मजबूत बनो और किसी औरत के फेर में अपना समय मत बरबाद करो। दुनिया को झिझकोर दो। मूर्ख (प्यारे)······

शॉ द्वारा टेरी को—उनतीस की उम्र तक मैं इतना बेहूदा दिखता था कि कोई भी स्त्री मुझे पसन्द न कर पाती थी। तब मैं फटा हरा कोट पहनता था

जिसका कालर कैंची से काटा गया था। भयानक, भारी-भरकम, पुराने जूते पहनता। फिर जब मुझे नौकरी मिली तो मैंने एक नया सूट बनवाया। तत्काल ही एक महिला ने मुझे चाय पीने को आमन्त्रित किया, मेरे गले में बाँहें डाल दीं और बोली कि वह मुझे प्यार करती है। मैंने उसे प्यार करने दिया, यद्यपि मैं स्वयं यह सब व्यापार जानने को अत्यधिक उत्सुक था। मैंने कभी अपने को सुन्दर या आकर्षक पुरुष नहीं माना। इसीलिए मुझे आश्चर्य था, पर मैं उससे बराबर मिलता-जुलता रहा। उसके बाद तो जब कभी मैं कमरे में किसी स्त्री के साथ अकेले पड़ा कि उसने बिना क्षण भर देर किये ही मेरे गले को अपनी बाँहों में लपेट लिया और बोली कि वह मुझे बहुत चाहती है। इसे किस्मत कहते हैं! इसलिए तुम सतर्क रहना। अगर तुमने कभी एक क्षण को भी अपने को अकेले मेरे साथ एक ही कमरे में रहने दिया तो निश्चय ही तुम्हें भी मेरे गले में अपनी बाँहों को लपेटना पड़ेगा और कहना पड़ेगा कि तुम भी मुझे प्यार करती हो……

बाद में तो एलेन टेरी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि शॉ के साथ उसका पत्र-व्यवहार बहुत ही औपचारिक ढंग से प्रारम्भ हुआ था। जब वह चौवालिस वर्ष की थी और लीसियम थियेटर में हेनरी इरविंग के साथ अभिनय करती थी तब शॉ उससे उम्र में आठ साल छोटा था पर संगीत की दुनिया में तथा क्रांतिकारी परचे लिखने में काफी प्रसिद्धि पा चुका था। एलेन टेरी ने अधिकांश पत्र अपने लंदनस्थित घर, 'बर्कस्टन बाग, अर्लस कोर्ट' से ही लिखे थे। प्रारंभ में शॉ भी कुँआरा था और अपनी माँ के साथ फिट्जरॉय स्क्वायर में रहता था। एलेन के पत्रों की संख्या उससे अधिक थी। लेकिन एक बड़ी संख्या में पत्रों को एलेन ने नष्ट कर डाला था। कुछ गुम भी हो गये थे।

जिन लोगों ने बाद में कुढ़ कर यह शिकायत की कि पच्चीस वर्षों तक चलने वाला यह प्रेम-प्रसंग क्या केवल पत्रों के कागजों तक ही सीमित रहा? तो शॉ ने उन्हें उत्तर दिया था—"जो भी जो चाहे सोचे…पर यह कभी मत भूलो कि सदा ही मानवता ने महानता, सौंदर्य, सत्य, ज्ञान और प्रेम की ऊँचाई केवल कागजों में ही पायी है…"

जॉर्ज जीन नाथान ने लिखा है—"ग्रेटा गारबो और शॉ को बराबर संख्या में ही प्रेम-पत्र मिले होंगे। पर शॉ का प्रेम-पत्र-व्यवहार शाकाहारी भोजन जैसा था जहाँ गारबो का सामिष। पर दोनों ही डाकघर के लिए एक मुसीबत थे।"

यह है एलेन टेरी का पत्र, बर्नार्ड शॉ के नाम

१८ सितम्बर, १८९६
सेवाय होटल

नाटक का रिहर्सल वैसा ही काम है जैसे कोई प्रारम्भ में लगातार कई रातों तक सुनसान पहाड़ी पर जाये और वापस चला आये। किसी भी दृश्य को हफ्तों रटो, बिला नागा और चाहे जितनी भी सावधानी बरती जाये पहली बार, पहली रात को गलती जरूर हो जायेगी।

मैं भी जितनी अजीब हूँ! पैनापन और व्यंग्य मुझमें नहीं है लेकिन प्रेम-अभिनय में तथा रोने-धोने में मैं कितनी सफल हूँ!

तुम कहाँ सफल समझते हो अपने को?

लगता है, तुम सब कुछ सफलता से निभा सकते हो।

लेकिन मुझे याद है कि तुमने मुझे कितना हँसाया, बल्कि हैरान अधिक किया। इतनी हैरान मैं कभी नहीं हुई थी। वह संगीत! मैं संगीत का ककहरा भी नहीं पहचानती लेकिन संगीत मुझे सदा ही भाता है। क्या तुम वहाँ भी सफल हो? किसी भी कला में प्रवीण होना कितना भयावना है? कोई साथी नहीं बन सकता, क्योंकि कला में दो व्यक्ति बिल्कुल एक जैसी सफलता कभी नहीं पा सकते। मैं तो जैसे मर चुकी हूँ। मेरे लिये प्रार्थना करो, कामना करो। मेरा सिर, मेरा दिल, मेरा शरीर सब बुरी तरह दर्द कर रहा है। लगता है, मैं भयानक रूप से डर गयी हूँ।

और, आखिरकार, जैसे यह सब भी आवश्यक है!

जी० बी० एस०[1] का यह पत्र है। जी० बी० एस० शाकाहारी है। है न! मैं उसकी और तमाम आदतों से तो परिचित हूँ पर यह घास-पात के प्रति उसके प्रेम से अपरिचित।

निशाना चूक गई! शायद यही कहना अक्षरशः सत्य होगा क्योंकि मैं धीरे-धीरे जितनी बूढ़ी हो रही हूँ, मेरे अपने बारे में यह विचार दृढ़ता से विश्वास बनता जा रहा है। लेकिन मुझे इस भावना से मुक्ति पानी होगी। तुम भी मुझे सलाह दो न। मुझे शक्ति मिलेगी। तुम चाहे अकेले में या सबों के सामने मुझसे जो भी चाहो कह सकते हो। तुम मुझसे जो भी कहोगे, मेरा गौरव ही बढ़ेगा। यों मुझे यह बात बहुत ही अच्छी लगी कि तुमने कभी अपनी रचनाओं

१. जार्ज बर्नार्ड शॉ

में मेरा जिक्र नहीं किया। यह दूसरी बात है कि अब मुझे लगने लगा है कि जैसे हम कभी मिले ही नहीं (क्यों ?)। लेकिन, फिर भी, इससे अन्तर ही क्या पड़ता है ? कितनी छोटी बात है कि अगर दुनिया के सामने तुम्हें मुझमें केवल दोष ही नजर आवें तो सचमुच मैं समझूँगी कि मैं भाग्यवान हूँ।

एलेन का व्यक्तित्व बहुत ही लघु है, ऐसी बातें एक क्षण के लिये सोचने को ठीक हैं।

तुम मेरे लिये एक तरह से आदत बन गये हो। और महाशय, जानते हो ? हरेक सुबह, नाश्ते के पहले, दवा की मीठी गोली की तरह मैं तुम्हें निगलती हूँ—ग्रहण करती हूँ ?

केवल एक बात है जो मुझे सदा टीसती रहती है (यद्यपि इससे भी मुझे प्रसन्नता ही मिलती है) कि तुम मेरे पत्रों का बहुत ही जल्दी जवाब लिख भेजते हो, जबकि प्यारे, तुम्हें ऐसे पत्रों के उत्तर में इतना समय बेकार ही बरबाद नहीं करना चाहिये। लेकिन तुम इसके लिये निश्चय ही पुरस्कृत होगे। इसमें मुझे तनिक भी शंका नहीं है। और जब मंगलवार बीत जायेगा तो फिर काफी अरसे के बाद मैं तुम्हें फिर कष्ट दूँगी। क्योंकि मैं ज्यादा समय तक अपने नाती-पोतों से घिरी रहूँगी और उन्हीं के बीच अपने सुख में खोई रहूँगी (यह स्वार्थ है न !)। वे बच्चे अपनी इस मिटती हुई दादी के लिये बड़े प्यारे हैं···और मैं तुम्हारे प्रति निराश, थकी और कृतज्ञ हूँ।

—एलेन टेरी

पुनश्च: मैं यह पत्र कल तक नहीं भेजूँगी, ताकि तुम्हें एक दिन की और फुरसत मिल जाये।

[बर्नार्ड शॉ द्वारा एलेन टेरी के नाम लिखे गये पत्र बताते हैं कि सोलह वर्षों में ये कितने प्रेममय हो गये।]

१३ अगस्त १९१२
होटल इक्सेलजर, नैनसी,
मरथे-एट-मोसेले, फ्रांस

परम प्यारी एलेन,

कितना अजीब यह समाज है ! लगता है जैसे केवल पुराने डाक-टिकट ही इकट्ठे किये जा रहे हों। तुमने कहा कि तुम्हारा मुझ पर व्यक्तिगत रूप से

कोई प्रभाव नहीं है, यह एक भारी झूठ है, इसमें वह ध्वनि तो है ही कि मुझसे तुम परेशान हो।

मैं यहाँ अकेले ही अट्टहास कर रहा हूँ। अपनी टूटी मोटर ही साथ है। मैं किसीगेन में चारलोट को उसकी बहन के साथ छोड़ कर आल्प्स की ओर चल पडा। इस यात्रा में लगता है कि दुर्भाग्यवश मेरी मोटर में कोई बड़ी खराबी आ गयी है। विवश होकर मुझे रेल द्वारा अपनी मोटर यहाँ तक लानी पड़ी और चुंगी व अन्य दिक्कतों से छुटकारा पाते हुए किसी तरह मिस्त्री के कारखाने में पहुँचाना पड़ा।

अब मुझे तुम्हारे सम्मुख एक स्वीकारोक्ति करनी है। मैंने एलेकजेन्डर के के लिये एक नाटक[1] लिखा जो दरअसल मिसेज पेत्रिक कैम्पबेल के लिये लिखा जाना था। इसे पढ़ कर कोई भी यही समझेगा कि मैं औरतों का विशेषज्ञ दरजी हूँ। चाहे इस कला में मैं निरा बुद्धू ही होऊँ।

इस नाटक को सुन कर लेडी सिसली ने बहुत ही पसन्द किया। पुरस्कार में उसने मुझे 'प्यार' दिया। तीस सेकेन्ड के लिये मैं उससे मिलने गया था पर तीस घण्टे उसके पास रह गया। इसी बीच, बातचीत के दौरान तुम्हारी चर्चा छिड़ गयी। तनिक ईर्ष्या से भर कर उसने कहा—'एलेन टेरी तो मरदों की तरह चलती है।' बस, मैं उत्तेजना में उसे उत्तर देने में न चूका। बोला, 'और उसके पाँव तो बहुत ही वजनी हो जाते हैं जब वह किसी पुरुष के हृदय पर चहलकदमी करती है।'

फिर तो बड़ा तूफान उठा। पर जाने भी दो, उस तूफान को भी मैं झेल गया।

आज मैं उसे बड़े ही आकर्षक प्रेम-पत्र लिख रहा हूँ। गोकि तुम्हें प्रेम-पत्र लिखना वैसा ही है जैसे किसी गिरजा में दान दिया जाय।…… लेकिन संसार में एक ही साथ दो-दो औरतों के साथ यह व्यापार नहीं चलाया जा सकता। वह अपने ढंग की अजीब औरत है, पर दुनिया में एलेन तो अकेली और अपने ढंग की नितांत अकेली है।

मेरा पत्र अब तक तुम्हें थका चुका होगा, पर मैं क्या करूँ? तुम्हारे बिना कैसे चले?

---

१. पिगमेलियन

मैं अभी यहाँ कुछ दिनों और रहूँगा, तुम मेरे लिये फरिश्ता ही बनी रहो पर अपने प्यारे अक्षरों से कुछ भी लिख कर भेजना न भूलना।

—जार्ज बर्नार्ड शॉ

[इस पत्र-व्यवहार के काल-चक्र में १६२६ में शॉ ने लिखा—"अपने बुढ़ापे में एलेन टेरी किवदंती बन गयी, लेकिन इस बिषय में मैं कुछ भी नहीं कह सकता। क्योंकि हमारी कभी भी आपस में भेंट नहीं हुई, और केवल कुछ टूटे हुए पत्रों का ही आपस में हेर-फेर व फेर-बदल हुआ, क्योंकि पूरा पत्र उसने कभी लिखा ही नहीं।......और मेरे लिये वह कभी भी बूढ़ी नहीं थी।"

१६२८ में एलेन टेरी की मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व उसकी बेटी को कुछ पत्रों का एक पुलिन्दा मिला जिसके ऊपर एक चिट चिपकी थी जिस पर लिखा था—"मेरे दोस्त !" इस महान दोस्तों की फेहरिश्त में सबसे ऊपर नाम था—चार्ल्स रीड का और ठीक उसके नीचे नाम था जार्ज बर्नार्ड शॉ का।]

[४]

गे द मोपासां और मेरी बाशकिर्तशेफ के दो पत्र

[मेरी बाशकिर्तशेफ चौबीस वर्ष की भरी जवानी में तपेदिक से मरी। इस प्रतिभा-सम्पन्न रूसी युवती के जो पत्र प्रकाश में आये उनसे पता चलता है कि उसमें कितनी निर्भीकता, कितनी आग थी ! उसके पत्रों से केवल उसके जीवन पर ही नहीं, बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में योरप के उच्च स्तरीय समाज के जीवन पर भी पूरा प्रकाश पड़ता है।

बारह की कच्ची उम्र से ही उसने अपनी डायरी लिखनी प्रारंभ की। उससे पता चलता है कि जीवन में बहुत कम वर्ष जो उसे जीने को मिले, उसमें ही उसने कई प्रेम-सम्बन्ध बनाये। एक से एक बढ़ कर। और उसके सपने के नायकों में बादशाह फ्राँसिस द्वितीय और ड्यूक आफ हेमिल्टन का भी नाम है। उसे दुनिया ने केवल एक प्रतिभावान चित्रकार व संगीतज्ञ के रूप में ही जाना। पर उसकी चिट्ठियाँ ही उसकी महान कृतियाँ थीं। अपनी प्रतिष्ठा को उसने सदा झूठी समझा और प्रतिष्ठा के खोखेलेपन से ऊब कर अपने समकालीन प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम उसने जो रसभरे प्रेम-पत्र लिखे वे विश्व के प्रेमियों के लिये 'बाइबिल' सिद्ध हुए।

मौत के कुछ ही पूर्व ऐसे ही एक प्रेम-पगे क्षण में उसने तत्कालीन महान कथाकार गे द मोपासां को भी प्रेम-पत्र लिखे थे। पहला पत्र उसके भावुक मन का आइना है जिसे उसने 'मिस हेस्टिंग्स' के गुप्तनाम से लिखा था। बाद में मोपासां ने एक कहानी में इसी नाम की अपनी नायिका बनाई और बाद में वह कहानी 'मिस हेरियट' के नाम से छपी भी।]

महाशय,

मैं बहुत प्रसन्नता से आपकी रचनाएँ पढ़ती हूँ। आपको प्रकृति में जो सत्य दिखाई पड़ता है उसे आप धर्म की ऊँचाई के बराबर महान बना कर चित्रित करते हैं और जिसे पढ़ कर आपके पाठक मानवीय संवेदना से छू-छू जाते हैं, हिल-हिल जाते हैं। और जहाँ तक मेरी बात है, मुझे तो लगता है, जैसे आपके रचे पृष्ठों में सर्वत्र मेरा ही चित्रण हुआ है। इसीलिये मुझे आपसे एक तरह का भावना का प्यार हो गया है। क्या मेरा यह लिखना एक बेमाने शिकायत नहीं ? और शिकायत ही सही पर यह प्रमुख सत्य है।

आपको लगता होगा कि मुझे आपकी केवल प्रशंसा, सो भी अच्छे व चुने हुए शब्दों में करनी चाहिये, पर ऐसा कर पाना मुझे बड़ा कठिन लग रहा है। अचानक ही किसी की एकाएक तारीफ करना भी कितना हास्यास्पद है ! तो मुझे यह सब लिखना भी बकवास-सा ही लगता है क्योंकि आप स्वयं इतने समर्थ और महान हैं कि आपकी रचनाएँ दूसरों को प्यारे-प्यारे, सलोने से, प्रेम से लबालब सपने दिखा सकें और सपने देखने वाले मान बैठें कि आप में कोई बहुत सुन्दर आत्मा भी है। दूसरे शब्दों में मान लें कि आपकी आत्मा बड़ी महान व सुन्दर है।

और अगर आपकी आत्मा सुन्दर नहीं है और अगर आपकी रचनाओं में वह खूबियाँ नहीं है तो मुझे आप पर तरस आयेगा और मैं सब कुछ भूल कर आपको केवल एक महान (साधारण) साहित्य-स्रष्टा ही मान लूंगी और सभी विचारों को भुला दूँगी।

पूरे एक वर्ष मे, आपको पत्र लिखने का लोभ मेरे मन में अनेक बार आया और अक्सर मैं लिखते-लिखते बच गयी, क्योंकि कई बार ऐसा लगा कि अपने मन की बातें लिख कर कहीं मैं आपकी गलत प्रशंसा न कर बैठूं जो आवश्यकता से अधिक लगे और अनजाने ही मुझसे एक बड़ी गलती भी हो जाय।

दो दिन पहले की बात है कि अचानक मुझे ज्ञात हुआ कि 'गालोइस'* में किसी ने खुशामद के पैमाने पर आपकी रचनाओं की तारीफ कर दी है और आपने उसे पत्र लिखने के लिये उसका पता पूछा है। बस यह पता लगते ही मैं एक प्रकार की ईर्ष्या की आग में तपने सी लगी और अचानक ही आपकी साहित्यिक प्रतिभा कुछ अधिक चमकीली होकर मेरे सामने चकाचौंध पैदा करने लगी—और परिणाम-स्वरूप यह पत्र।

और अब मुझे आज्ञा दें कि मैं अपनी भावनाएँ व्यक्त करूँ। मैं केवल भावनात्मक रूप से आप पर मरने लगी हूँ। विश्वास कीजिये, मेरे भीतर कहीं बिंदु भर भी ऐसी आकांक्षा नहीं है कि मैं आपका दूर से भी दर्शन-लाभ करूँ। खुदा जाने, कहीं मेरी आँखों को आप अच्छे न लगे तो ? हाँ, अब तक मैं आपके बारे में इतना जान गयी हूँ कि आप युवा हो और कुँआरे भी, और मेरा विश्वास है कि ये दो प्रमुख सूचनाएँ ही, दूर से, कल्पना में प्यार करने को काफी हैं।

लेकिन मैं इतना बता देना तो आवश्यक ही समझती हूँ कि मैं अच्छी खासी सुन्दरी हूँ और मेरा विश्वास है कि यह मधुर कल्पना आपको मुझे पत्र लिखने को अवश्य विवश करेगी। यद्यपि मुझे लगता है कि आपके स्थान पर यदि मैं होती और मर्द होती तो कभी उत्तर न देती, रस्मी उत्तर भी नहीं चाहे पत्र लिखने वाली अँगरेज महिला जो कुछ भी क्यों न समझती।

मिस हेस्टिंग्स

पोस्ट—मेडेलीने का स्टेशन

[मोपासां सचमुच अपने को न रोक सका और उसका उत्तर यह था :]

मैडम,

निश्चय ही मेरा पत्र वैसा तो न होगा जैसे की आप आशा करती होंगी। सर्वप्रम मैं आपको आपकी कृपा और मेरे प्रति भावनाओं के लिये धन्यवाद देता हूँ। अब आगे हमलोगों को समझदारों की तरह बातें करनी चाहिये।

आप मेरा विश्वास लेना चाहती हैं ? लेकिन किस हक से ? मैं तो आपको जानता भी नहीं। मैं आपसे विश्वास की बातें क्यों बताऊँ ? आप पूर्ण अप-रिचिता हैं। पता नहीं, आपका मन, स्वभाव मेरी प्रतिभा के स्तर का न हो !

* एक पत्रिका

मैं वह सब आपको न बता सकूंगा जो मैं व्यक्तिगत या सार्वजनिक रूप से अपनी अन्य महिला मित्रों को कभी भी बेखटके बता सकता हूँ। क्या बता देना एक मूर्खतापूर्ण व बेहूदी बात न होगी, या मैं अविश्वासी मित्र न मान लिया जाऊँगा ?

भला आप ही बतावें कि ऐसे रहस्यमय पत्र भी क्या कभी अपने सम्बन्ध में कोई मधुरता ला सकते हैं ? क्या प्यार व आकर्षण के लिये किसी भी पुरुष व स्त्री का स्वरूप एक दूसरे को देखना, मिलना, वार्तालाप करना आवश्यक नहीं ? केवल चिट्ठी के कागज को चेहरा मान कर देखना सचमुच कितना खतरनाक खेल है !

यह कितना बड़ा धोखा है कि किसी ऐसे को केवल पत्र द्वारा ही आंतरिक आत्मीयता का विश्वास दिलाने की कोशिश की जाये जिसकी शक्ल न देखी हो, जिसके बालों का रंग न मालूम हो, जिसकी मुस्कानों की पहचान न हो और सब मिला कर जो सर्वथा अपरिचित हो ?

आपने मेरे एक प्रशंसक का अपने पत्र में हवाला दिया है। यह ऐसे व्यक्ति का पत्र है जिसने मुझसे सलाह माँगी थी। अब देखिये न, पिछले दो बरसों में मुझे साठ पत्र ऐसी महिलाओं के मिले हैं जिनसे मैं अपरिचित हूँ। अब बताइये, क्या इनमें से किसी को भी विश्वास देना मेरे लिये सम्भव व हितकर है ? लेकिन आपने तो विश्वास से ही बहुत कुछ लिखा है।

जब ये पत्र-लेखिकाएँ अपने ऊपर से बुर्का हटाएँ और सभ्य समाज के नियमों द्वारा परिचय प्राप्त करें, तभी मित्रता का रिश्ता बनाया जा सकता है। और ऐसा न होने पर मैं अपनी मौजूदा महिला-मित्रों के सौंदर्य से क्यों विमुख होऊँ और अपरिचित की बातों में आ जाऊँ जो निश्चय ही सुन्दरी हो सकती है पर आवश्यक नहीं कि मेरी प्रतिभा की ऊँचाई से भी मेल खा ही जाये। ऐसे काम बड़ी बहादुरी के नहीं हैं। क्यों ?

और हाँ, अगर मैं अपने को आपके पैरों-तले बिछा भी दूँ तो क्या विश्वास है कि आप भी मुझे नैतिक स्तर पर विश्वासपात्र ही पावेंगी ?

क्षमा कीजिये, मैडम, किसी भी पुरुष के तर्क, काव्य के मुकाबले अधिक व्यावहारिक होते हैं। फिर भी आप विश्वास करें कि मैं आपकी कद्र करता हूँ और आपका आभार मानता हूँ।

—गे द मोपासाँ

पुनश्च !—मेरे पत्र के लिये भी क्षमा। मैं बिना सोचे-समझे पत्र कभी नहीं लिखता। और लिख कर नकल रखना तो दुश्वार काम है ही।

[कुछ दिनों पत्र-व्यवहार चला। मोपासां के पत्र के उत्तर में मेरी ने व्यंग किया कि उसने मौपासां की कहानी 'प्रशंसकों के साठ पत्र' पढ़ी है और लिखा—"जितना मैं समझती थी कि आप प्रसिद्ध व्यक्ति हैं उतने आप हैं नहीं। फिर मैं इकसठवीं बनने को तैयार भी नहीं हूँ। मैं उनसे भी अजीब हूँ।

इन पत्रों ने शीघ्र ही और बातें खोल दीं। मोपासां ने बताया कि उसने बीमारी में उत्तर दिया था पर मिस हेस्टिंग्स को न पा सका। और मेरी ने भी उसकी चिन्ता छोड़ दी थी। उसका विश्वास था कि 'मिस हेस्टिंग्स' कोई स्त्री नहीं बल्कि पुरुष है। जब यह बात मेरी को ज्ञात हुई तो वह इतनी दुखी हुई कि उसने मोपासां से पत्र-व्यवहार बन्द कर देना चाहा। लेकिन मजेदार बात यह है कि मोपासां ने पत्र लिखने वाले की बहुत खोज की पर न जान सका कि इतना बड़ा कृपालु कौन है! क्योंकि मेरी ने कभी भेद न खोला।

अपने अन्तिम पत्र में मेरी ने अपने स्वभावानुसार लिखा—"अब तुम्हारे लिफाफे मुझमें कोई भी दिलचस्पी या उत्सुकता पैदा नहीं करते। पर मेरे लिफाफे तुम पर अभी भी असर करते हैं न? मान लो कि तुम्हारी रुचि ही गड़बड़ हो और तुम मुझे पसन्द न कर सको, तो क्या समझते हो कि यह मुझे अच्छा लगेगा चाहे मेरी नीयत कितनी भी साफ क्यों न हो?"

इस प्रकार यह अजीबो-गरीब पत्र-व्यवहार टूट गया।

एक किवदंती प्रसिद्ध है कि मेरी की मौत के कुछ पूर्व मोपासां से उसकी भेंट हुई थी। पैंसी के एक गिरजाघर पर उसके नाम का पत्थर लगा है और नाइस की एक गली भी उसके नाम पर है।]

[५]

दास्ताएवस्की का खत उसके भाई के नाम

[अपने जीवन को एकांकी नाटक की तरह खेलने वाले महान मानवतावादी लेखक दास्ताएवस्की ने अनेक महान उपन्यासों की रचना करके विश्व के महान औपन्यासिकों में प्रमुख स्थान पाया है। प्रस्तुत खत उसके

किसी भी उपन्यास या रचना से कम महत्वपूर्ण नहीं है। अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में अपने जैसे अनेक नवयुवकों के साथ उसने फ्रांसीसी समाजवादी लेखकों की कृतियों का अध्ययन शुरू किया और अपने देश में राजनैतिक सुधार लाने का प्रयास किया। वह खुद सुधारवादी था। जब वह केवल पच्चीस वर्ष का था, तभी उसका प्रथम उपन्यास—गरीब लोग—प्रकाशित हुआ। १८४६ में जब वह अट्ठाइस वर्ष का था तभी अपने कई साथियों के साथ उसे गिरफ्तार कर लिया गया। उस पर 'गुप्त षड्यंत्र' का अभियोग लगा, मुकदमा चला। फाँसी की सजा मिली। और फाँसी पर लटकाये जाने के निश्चित समय के कुछ ही क्षण पूर्व उसे पता लगा कि फाँसी न होगी, जान न ली जाएगी, देश-निकाला और जेल होगी। इन्हीं कुछ क्षणों में जो मिनट भी नहीं बन पाये, वह जीवन और मौत के बीच यों झूलता कि न मौत निश्चित थी न जिन्दगी। यह अनुभूति भी कितनी अजीब रही होगी! ओफ़!

अगले दिन, फाँसी तो न हुई पर उसे जीवन का अभी भी विश्वास न था। लगता था मौत सिर्फ एक मिनट की दूरी पर है... कुछ भी निश्चय नहीं। तभी इस ऐतिहासिक व असाधारण खत की रचना हुई जो उसने अपने भाई के नाम लिखा था। यह खत लिखते समय जेल की भयानक कालकोठरी में वह सोच रहा था कि मौत बहुत पास आ गयी है......इसी कठोर क्षण की अनुभूति है यह खत :)

पीटर और पाल का किला
दिसंबर २२, १८४६

मिहेल मिहेलोविच दास्ताएवस्की
नेवस्की, ग्रेजनी स्ट्रीट के सामने
निसलिद के मकान में

भाई, मेरे कीमती दोस्त! सब तय हो गया। मुझे चार वर्ष की सजा मिली है, कठोर सपरिश्रम, किले में (शायद औरेनबर्ग किला) और उसके बाद सादी जेल। आज २२ दिसंबर है, आज हमलोगों को सेमिओनोव के कवायद के मैदान में ले जाया गया। वहीं हमलोगों को मौत की सजा सुनायी गयी। हम लोगों से 'क्रास' चूमने को कहा गया। हमारे सिर के ऊपर ही हमारी तलवारें तोड़ डाली गईं। हमारी आखिरी सजावट की गई। (सफेद कपड़े पहनाए

गये।) फिर तीन को फाँसी के खम्भे से बाँधा भी गया। मैं उस क्रम में छठा था। एक-एक बार में तीन-तीन को पुकारा जाता था। इस तरह मैं दूसरे तीनों में था और अब जिन्दगी में एक मिनट से अधिक का समय न था।

मुझे तुम्हारी याद आयी, भाई, तुम्हारी सभी बातें याद आयीं। इस अंतिम मिनट में तुम, केवल तुम ही मेरे दिमाग में थे। तभी मैंने खुद अनुभव किया कि तुमको मैं सचमुच कितना प्यार करता हूँ। मेरे प्यारे भाई! मैंने प्रयत्न किया कि मेरे पास खड़े प्रेशचेयेव और दुरोब से मैं गले मिलूँ और अंतिम विदा लूँ। तभी वह आवाज आयी, सीटी बजी, और आश्चर्य! खंभे से बँधे ये तीनों खोल दिये गये। और घोषणा की गयी कि बादशाह ने हमारे जीवन को मुक्ति दे दी है। फिर यह नई सजा चालू हुई। अकेले पाम को ही पूरी माफी मिली है और उसे फौज के अपने पुराने स्थान पर वापस कर दिया गया है।

अभी-अभी मुझसे बताया गया है, मेरे प्यारे भाई, कि आज या कल हम लोग यहाँ से भेज दिए जाएँगे। मैंने तुम्हें देखने की बात की। लेकिन मुझसे कहा गया कि यह असम्भव है। मैं केवल तुम्हें पत्र लिख सकता हूँ, अतः तुम पत्र पाते ही जितनी जल्दी हो सके उत्तर देना।

मुझे डर है कि तुम्हें पहले ही किसी न किसी तरह मेरी फाँसी की सजा सूचना अवश्य मिल गयी होगी। अब हमलोग सेमिओनोव के कवायद के मैदान में ले जाये जा रहे थे तब जेल की लारी की खिड़की से, मैंने बहुत से लोगों की भीड़भाड़ देखी थी। इसीलिए लगता है कि खबर तुम तक अवश्य पहुँची होगी ...और तुम मेरे लिए कितने दुखी हुए होगे! लेकिन अब तुम मेरी ओर से आश्वस्त हो जाओगे।

भाई! मैं कहीं से कमजोर नहीं हुआ हूँ, न मन से कहीं बुझा हूँ। जिंदगी हर जगह जिंदगी है। जिंदगी हमारे भीतर है, बाहर कहीं नहीं। अपने चारों ओर भीड़-भाड होती है और भीड़-भाड़ में आदमी बने रहना, आदमी बन कर जिंदा रहना, कभी मन से न टूटना, न बुझना, चाहे मुसीबत व बदकिस्मती के कितने ही पहाड़ क्यों न टूटें, इसी का नाम जिंदगी है। यही जिंदगी का मकसद है। मैं यह खूब अच्छी तरह जान गया हूँ। यही विचार मेरे हाड-मांस व खून में बस गया है।

हाँ, यह सच है। वह सिर जो निर्माता था, कला के उच्चतम शिखर पर

पहुँचता था, जो मन व प्राण की हर माँग को समझता था, वह सिर सचमुच हमारे कंधों से काट कर अलग कर दिया गया है। अब वहाँ केवल पुरानी स्मृतियाँ और स्वरचित मूर्तियाँ हैं। वे मुझे तकलीफ देंगी, यह भी सच है! लेकिन मुझमें, मेरे दिल में मेरे खून-मांस में वह शक्ति है जिससे मैं प्यार भी कर सकता हूँ, कष्ट उठा सकता हूँ, चाह सकता हूँ, याद कर सकता हूँ और सबसे अंत में जी सकता हूँ।......अच्छा भाई, विदा! मेरे लिए दुख मत मनाना।

हाँ, अब कुछ संसारी वस्तुओं की बात : मेरी किताबें (बाइबिल अभी भी मेरे पास है) और कई पत्रों में लिखी पाण्डुलिपियाँ, उपन्यास और नाटक की रूपरेखा (और 'एक बच्चे की कथा' की पूरी प्रतिलिपि) आदि मेरे पास से हटा दी गयी हैं। शायद ये सब तुम तक पहुँचें। मैं अपना ओवरकोट और पुराने कपड़े भी छोड़े जा रहा हूँ, किसी को भेज कर मँगा लेना। मेरे भाई, अब शायद बहुत दूर की लम्बी यात्रा करनी पड़े। रुपयों की आवश्यकता है। मेरे प्यारे भाई, जब तुम यह पत्र पाना और अगर कुछ रुपये प्राप्त करने की कोई संभावना हो तो मुझे कुछ रुपये तत्काल भेजना। रुपयों की मुझे इस समय हवा और पानी से ज्यादा जरूरत है (एक विशेष कार्य के लिए)। पत्र भी लिखना। अगर मास्को से रुपये आएँ, मुझे याद करना और मुझे अकेला मत छोड़ना। बस, इतना ही! मुझ पर बड़े कर्ज हैं,[1] पर मैं कर भी क्या सकता हूँ?......

तुम्हारी बीवी और बच्चों को प्यार। उन्हें बराबर मेरी याद दिलाते रहना। देखना, वे मुझे भूलने न पावें। शायद, एक बार जरूर ही सबसे भेंट होगी। भाई, अपनी और परिवार की चिन्ता करना, शांति व सतर्कता से रहना। अपने बच्चों के भविष्य की योजना भी बनाना......

मस्त रहना। आज पता नहीं मुझमें इतनी आध्यात्मिक शक्ति कहाँ से आ गई है, जितनी पहले कभी नहीं थी। लेकिन मेरा शरीर साथ देगा? मैं कारण तो नहीं जानता पर मैं भीतर ही भीतर बीमार रहता हूँ, ऐसा लगता है। मुझे कण्ठमाला रोग लग गया है। लेकिन चिन्ता न करना! भाई मैं जीवन में इतना ज्यादा भोग चुका हूँ कि अब शायद ही कोई चीज मुझे डरा सके। अत: जो भी आये स्वागत है!

---

१ क्रेवेस्की से दास्ताएवस्की ने कर्ज लिया था जिसका भुगतान 'एक बच्चे की कथा' की पाण्डुलिपि द्वारा हुआ था।

अवसर मिलते ही मैं तुम्हें अपने बारे में लिखूँगा। माइकोव को मेरा नमस्कार कहना। उनसे कहना कि मेरे लिए लगातार उन लोगों ने जितनी चिन्ता की है उसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद दे रहा हूँ, मेरे संबन्ध में उनसे चर्चा करना। उत्साहवर्धक बातों से प्रसन्न करना। जो बातें उस समय तुम्हारे मन में मेरे संबंध में आवें वे सब कहना। इजेनिया पेत्रोनोवना[1] को भी मेरी याद दिलाना। मैं उसके लिये और अधिक खुशियों की कामना करता हूँ। उसे मैं सदा ही बड़े आदर से याद करूँगा। निकोले एपोलोनोविच और एपोलोन माइकोव और सबों को मेरी याद दिलाना। यानोवस्की की खोज कर, उसका हाथ दबाना और मेरी ओर से धन्यवाद देना। मुझे जो भी याद कर सकें, सबों से मेरी बातें करना। और जो मुझे भूल गये हों उन्हें फिर से याद दिलाना। भाई कोलया को मेरे लिए चूमना। भाई आन्द्रे को एक चिट्ठी लिखना और मेरा पूरा हाल लिखना। चाचा, चाची को भी लिखना। यह सब मेरी ओर से लिखना और मेरी ओर से उन्हें याद दिलाना। बहनों को भी लिखना, मैं सबों की प्रसन्नता की कामना करता हूँ।

और हो सकता है कि हमलोग फिर कभी मिल भी सकें भाई! अपनी खूब चिन्ता करना, ठाट से रहना, खुदा को याद करना और मेरे आने की प्रतीक्षा करना। शायद वह समय भी कभी आवे कि हमलोग एक दूसरे को कलेजे से चिपका सकें और अपनी जवानी के दिन याद करें। जवानी के वे सुनहरे दिन, जब आशाएँ ही आशाएँ थीं, जिन्हें मैं आज मानसिक स्थिति में अपने मन से निकाल कर दफना देना चाहता हूँ।

क्या यह संभव हो सकता है कि अब मुझे कभी हाथ में कलम थामने का मौका न मिले? शायद चार वर्ष बाद फिर समय आवे! मैं जो कुछ भी लिखूँगा, तुम्हें भेजूंगा, अगर लिख सका तो! या खुदा! कितनी कल्पनाएँ, कितने सपने मैंने आँखों में पाले, सब मिट गये, टूट गये, सभी या तो मेरे दिमाग में खो जाएँगे या जहर बन कर नसों में समा जाएँगे। हाँ, अगर मुझे नहीं हो लिखने दिया गया तो मैं बरबाद हो जाऊँगा। काश कि चार वर्षों की जगह पन्द्रह वर्षों की जेल हो पर हाथ में कलम जरूर हो!

मुझे जल्दी-जल्दी लिखना। खूब विस्तार से सब लिखना, खूब, खूब बातें। हर खत में परिवार की हर छोटी-बड़ी बात विस्तार से लिखना, हलकी बातें

---

१ दास्ताएवस्की के कवि मित्र एपोलोन माइकोव की माँ।

भी। भूलना मत। इससे मुझे आशाएँ मिलेंगी, जिन्दगी मिलेगी। काश कि तुम जान पाते कि यहाँ जेल में तुम्हारे ख़त मिलने से मैं कितना प्रसन्न होता हूँ। ये ढाई महीने बड़े ही कठिन बीते हैं, जब पत्र लिखना व पाना मना था। मैं बीमार था। तुम बराबर पैसे न भेजते तो पैसे न पाने से अधिक चिन्ता इस बात को होती कि तुम भी इसी समय मुसीबत का सामना कर रहे होगे। एक बार फिर मेरे लिये बच्चों को चूमना, प्यार करना। उनके नन्हें-नन्हें, प्यारे-प्यारे चेहरे एक क्षण को भी मैं नहीं भुला पाता। आह! उन्हें प्रसन्न रखना, खुद प्रसन्न रहना, भाई, मस्त रहना।

तुम्हें खुदा की कसम है। तुम मेरे लिये तनिक भी दुख न मनाना। विश्वास रखना मैं कहीं से हारा नहीं हूँ, न उम्मीदों ने मेरा साथ ही छोड़ा है। इन चार वर्षों में मेरी किस्मत जरूर पलटेगी। मैं सिपाही बनूँगा—सदा कैदी नहीं रहूँगा, और याद रखना, एक दिन आ कर तुम्हें कलेजे से चिपकाऊँगा। आज मैं पौन घण्टे तक मौत के शिकंजे में जकड़ा था। मैं जीवन के अन्त को आँखों से देख रहा था पर देखो न अब फिर मैं जी रहा हूँ।

अगर किसी को मुझसे गिला या शिकायत है, अगर किसी से मैं झगड़ा हूँ, अगर किसी के मन पर मैंने गलत छाप छोड़ी है तो उन सबों से कहना कि मुझे वे माफ कर दें। ऐसों को खोज-खोज कर मिलना और मेरी बात कहना। मेरे मन में किसी के लिये कठोरता या डाह नहीं है। मैं तो अपने किसी भी पूर्व-परिचित को कलेजे से लगाने को बेचैन हूँ। यह कितने सुख के क्षण होंगे! इसका अनुभव मुझे आज ही हुआ था, तब, जब मैं मौत के क्षण अपने सभी परिचितों से मन ही मन विदा ले रहा था। मैंने सोचा था कि मेरे फाँसी पड़ने की खबर पा कर तुम तो मर ही जाओगे। लेकिन अब कोई डर नहीं है। मैं अभी भी जी रहा हूँ और भविष्य में तब तक जीऊँगा जब तक तुम्हें कलेजे से एक बार और न लगा लूँ। इस समय मेरे दिमाग में सिर्फ यही बात नाच रही है।

तुम क्या कर रहे हो? आज तुम दिन भर क्या सोचते रहे? क्या तुम्हें हमारी खबर थी? आज का दिन कितना बेजान व ठंडा था!

काश, यह मेरा ख़त तुम्हें तत्काल मिल जाता! नहीं तो अब चार महीने तक मुझे तुम्हारी कोई खबर न मिल पायेगी। मैंने वे लिफाफे देखे जिनमें तुमने दो महीनों में रुपये भेजे थे, उन पर पता तो तुम्हारे हाथ का लिखा था और देख कर लगा कि तुम ठीक हो, यह मेरे लिये खुशी की बात थी।

जब मैं पीछे की ओर घूम कर देखता हूँ और सोचता हूँ कि कितना समय बेकार ही बरबाद हुआ, कितना समय भ्रमजाल में बीता, गफलतों में बीता, बेकारी में बीता, जीवन के प्रति विमोह में बीता, और मैंने समय की कद्र नहीं की, अपने दिल व आत्मा के प्रति पाप किया, तो मेरा दिल टीसने लगता है। जिन्दगी एक खूबसूरत उपहार है, जिन्दगी खुशी है, शायद हर छोटा मिनट भी खुशी का युग होता।......लेकिन अब बदली जिन्दगी मुझे मिली है। मैं एक नये रूप में जैसे पुर्नजन्म प्राप्त कर रहा हूँ। भाई ! मैं कसम खा कर कहता हूँ कि मैं उम्मीद नहीं छोड़ूँगा और अपनी आत्मा व दिल को पवित्र रखूँगा। मैं अच्छे भविष्य के लिये पुनर्जन्म प्राप्त करूँगा। बस, यही मेरी सम्पूर्ण आशा होगी, मेरा सम्पूर्ण सुख !

जेल के जीवन ने मेरे भीतर जागते सभी भौतिक सुखों को सदा के लिये मार डाला है। पहले तो मैं कुछ-कुछ ललचा भी जाता था। अब मेरे लिये व्यक्तिगत सुख कुछ नहीं है, और इसीलिये, मत सोचना कि कोई भी कितना तकलीफ मुझे मार सकती है। यह हो नहीं सकता। ओह, अब मैं कितना स्वस्थ हूँ !

विदा, विदा ! मेरे भाई ! मैं तुम्हें फिर कब लिखूँगा ? हो सका तो यात्रा का पूरा और विस्तृत वर्णन लिख कर भेजूँगा। बस, मैं अपनी तन्दुरुस्ती भर सम्हाल कर रख सकूँ, फिर बाकी सब तो ठीक होगा ही।

अच्छा, विदा, विदा, भाई ! मैं तुम्हें कलेजे से लगा रहा हूँ, मैं तुम्हें चूम रहा हूँ।

मुझे बिना किसी दर्द के याद करना। तनिक भी दुखी मत होना। मैं फिर प्रार्थना करता हूँ कि मेरे लिये तनिक भी दुखी मत होना। दूसरे खत में मैं लिखूँगा कि मैं कैसा हूँ।...... अभी तुम उतना सब याद रखना जो मैंने लिखा है।

जीवन के लिये योजना बना लो, जिन्दगी को बरबाद मत करना, अपना भाग्य सँवारो, बच्चों की चिन्ता करो। मैं तुम्हें देख रहा हूँ, साफ देख रहा हूँ......विदा ! अब मैं अपने प्रिय से अलग हो रहा हूँ, तुम्हें छोड़ना कितना दर्दनाक है ! उतना ही दर्दनाक जितना अपने को दो करना या दिल के दो टुकड़े करना। विदा ! विदा ! लेकिन मैं तुम्हें फिर देख सकूँगा, मेरा विश्वास है,—उम्मीद है, तुम बदलोगे नहीं, मुझे प्यार करते रहोगे, अपनी स्मृतियों को जमने या ठंडी मत होने देना, क्योंकि तुम मेरे बारे में जब

सोचोगे, वे क्षण मेरे जीवन में सबसे कीमती होंगे। विदा, विदा, एक बार फिर ! सबों से विदा !

तुम्हारा भाई
फ्योदोर दास्ताएवस्की

पुनश्च: मेरी गिरफ्तारी के समय मुझसे मेरी बहुत-सी किताबें छीन ली गयी थीं। उनमें सिर्फ दो जब्त किताबें थीं। क्या बाकी सब अपने ही लिये नहीं प्राप्त कर लोगे ? लेकिन एक प्रार्थना है, एक किताब --दि वर्कस् आफ वेलेरियन माई-कोव—उसके आलोचनात्मक लेख—जो इजेनिया पेत्रोनोवना की अपनी प्रति है, उसकी बहुमूल्य निधि है, मुझे केवल पढ़ने को दी थी। गिरफ्तारी के समय मैंने पुलिस अफसर से वह किताब लौटा देने को कहा, उसे उसका पता भी दिया था। पता नहीं वह किताब उस तक पहुँची या नहीं ? जरा पता लगा लेना। मैं उसकी उस पुस्तक से सम्बन्धित स्मृतियाँ नहीं छीनना चाहता। विदा, विदा, एक बार फिर,

तुम्हारा—दास्ताएवस्की

[हाशिये पर]

मुझे पता नहीं कि पैदल ही जाना पड़ेगा या घोड़े पर। मुझे तो लगता है कि घोड़े पर जायें, शायद !

एक बार फिर एमली फ्योदोरोवना का हाथ दबा कर मेरा नाम लेना, बच्चों को प्यार करना। क्रेवेस्की को मेरी याद दिलाना, शायद……

खूब विस्तार से अपनी गिरफ्तारी, नजरबन्दी और रिहाई की बातें लिखना।

[चार साल के कठोर कारावास के बाद दास्ताएवस्की की रिहाई हुई। लेकिन १८४९ की घटनाएँ, स्मृतियाँ उसके सारे जीवन पर छायी रहीं। जिसके फलस्वरूप उसने तीन महान उपन्यास लिखे—दि हाउस आफ डेथ (१८६१), मेमायर्स फ्राम अंडरग्राउंड (१८६४) और क्राइम एण्ड पनिशमेंट (१८६६)]

नेपोलियन बोनापार्ट के प्रेम-पत्र

[नेपोलियन पर जितनी खोज हुई है और जितना लिखा गया है, सब छपी सामग्री, शेक्सपियर के छपे पृष्ठों में अधिक है और केवल एक पुस्तक ऐसी छपी है जो छपायी की संख्या में उससे अधिक है, वह है— बाइबिल।

संसार भर के पुस्तकालयों में खोज करने पर लगभग तीस हजार पुस्तकों का पता लगा है जो नेपोलियन के सम्बन्ध में अब तक लिखी गयी हैं। लेकिन यह संख्या भी अब गलत लग रही है, क्योंकि ५५००० से ७५००० तक उसके पत्रों का पता चला है, जबकि उसके बहुत से खत रूस में जला दिए गये और अब तक ४१००० तो छप भी चुके हैं। नए-नए खत मिलते रहते हैं। नई-नई पुस्तकें भी आए दिन प्रेसों से बाहर आती रहती हैं।

यहाँ तो उसके खतों की कुछ बानगी ही पेश की जा रही है। नेपोलियन के समस्त खतों को प्रकाशित किया जाय तो विश्वकोष भी हल्का दिखेगा। केवल जोसेफिन के प्रेम-पत्र ही अगर छाप दिए जाएँ तो कई खण्ड की पुस्तक हो जाएगी।

फौजी जिन्दगी की मुसीबतें, राज्यों के बनाने-मिटाने के सिर-दर्द और एक क्षण को भी शाँति न देने वाली जिन्दगी के बीच भी नेपोलियन सदा ही जोसेफिन का प्रेमी बना रहा। जोसेफिन और उसके प्रेम-पत्रों के बारे में प्रसिद्ध है कि प्रथम पत्र तो था—'दोस्ती का दावतनामा' और अन्तिम था—'सुना जाता है कि तुम नारमन किसान की बीबी की तरह मोटी हो गयी हो। प्रथम मिलन के प्रथम क्षण में ही, जब नेपोलियन एक मामूली, दरिद्र, छोटा फौजी अफसर था और जोसेफिन, बत्तीस वर्ष की विधवा, बदसूरत लेकिन शानदार थी, नेपोलियन के दिमाग पर इस तरह छा गयी कि फिर वह कभी मुक्त न हो सका। युद्धों की हार-जीत, राज्यों का निर्माण-पतन भी उनके पत्रों के रास्ते न आये। और सिंहासन को वारिस न दे सकने के कारण जब उसने जोसेफिन को तलाक दिया तब भी उसके मन में नमी बाकी थी। विश्वविजेता उस नारी के सम्मुख याचक ही रह गया।

मार्च १७९६ में एक लेफ्टीनेंट की तेंतीस वर्षीय बेटी मेरी रोज जोसेफिन

ने एक दुबले-पतले, आकर्षणहीन, कमजोर सैनिक नेपोलियन बोनापार्ट से शादी करने की स्वकृति दी। नेपोलियन तब एक उठता हुआ अफसर था और जोसेफिन एक फाँसी पा चुके प्रमुख फौजी अफसर की विधवा थी। वह थी तो बदसूरत पर गजब की आकर्षक थी। शान-शौकत, फैशन, श्रृंगार व ऐय्याशी की रानी।

नेपोलियन के ही शब्दों में वह उसकी प्रेरणा थी। '…प्यार ने मेरी तर्क-शक्ति को नष्ट कर दिया। मैं न खा सकता, न सो सकता, न तो मुझे मित्रों की चिन्ता रहती है, न यश की। मैं जीत को केवल इसलिए महत्व देता हूँ कि इससे तुम खुश होती हो…तुमने अंतहीन प्यार से मुझे भर दिया है।… कितना नशीला प्यार है यह !'

अपने सत्ताइसवें वर्ष में नेपोलियन को इटली की फौज का प्रधान बनाया गया।…शादी के दो दिनों बाद ही वह अपनी फौज में आ मिला और जोसे-फिन पेरिस की रंगीनियों में डूबने को अकेली रह गयी। नेपोलियन ने अपनी बीबी को जाने कितने खत लिखे कि आकर मेरे पास रहो—पर जोसेफिन ने उसके पास जाकर फौज के जेनरल का समय नष्ट करना उचित न समझा। यों भी वह अपने शौहर के खतों का कभी ही कभी उत्तर देती। जब नेपो-लियन मिलान पहुँचा तो जोसेफिन उसके पास रहने गयी।]

विरोना, नवम्बर १३, १७९६

मैं तुम्हें प्यार नहीं करता, बिल्कुल नहीं। इतना ही नहीं, मैं तुमसे नफ-रत करता हूँ—

तुम शैतान, मूर्ख, बेहूदी औरत हो। तुम मुझे खत नहीं लिखतीं। तुम अपने पति से प्यार नहीं करतीं। तुम्हें क्या मालूम है कि तुम्हारा पत्र पाकर वह कितना प्रसन्न होता है ! और इतने पर भी तुमने उसे छ लाइनें भी नहीं लिखीं। क्रूरता की हद है !

श्रीमती जी, दिन भर तुम करती क्या रहती हो ? कौन-सा मामला इतना आवश्यक रहता है कि तुम अपने समर्पित प्रेमी को लिखने तक की फुर्सत नहीं पातीं ? ऐसा क्या है जो प्रेम को भी परे हटा देता है ? याद है, तुमने अपने पति से कितने प्रेम का वायदा किया था ? तुम्हारा नया प्रेमी कितना खुशनुमाँ है जो दिन भर का हर क्षण वह तुमसे छीन लेता है और अपने शौहर को तुम याद

भी नहीं कर पातीं ? जोसेफिन, होशियार हो जाओ ! किसी भी रात दरवाजा तोड़ कर मैं आ धमकूँगा।

मेरी प्यारी बीबी, तुम्हारा कोई समाचार न पाकर, सचमुच, मैं बहुत परेशान हूँ। खुदा के वास्ते, जल्दी से मुझे चार पन्नों का ख़त लिखो। हर पन्ना खुशनुमाँ बातों से भरा हो, ताकि मेरी भावनाएँ भी प्रसन्न हो जायें।

मैंने बहुत पहले ही तुम्हें अपनी बाहों में दबोच कर कुचल डालने और तुम्हारे चेहरे को लाखों गर्म चुम्बनों से भर देने की सोची थी !

—बोनापार्ट

[इटली में नेपोलियन ने जोसेफिन के हल्केपन का अनुभव करना शुरू किया। गोकि उसके प्रति उसमें अब केवल मुहब्बत बची थी, जोश खत्म हो चुका था। और एक प्रकार से एकतरफा पत्र-व्यवहार ही चल रहा था। मिस्र की लड़ाई से वापस आने के पहले ही उसे जोसेफिन और एक अन्य अफसर चार्ल्स के प्रेम के बारे में शक हो गया था। नेपोलियन तो तलाक की बात भी सोचने लगा था। लेकिन आँसुओं ने उससे समझौता करा दिया। और इतिहास इस बात पर एकमत है कि १८०४ तक उनके सम्बन्ध बड़े खुशी-खुशी चले। जहाँ तक आपसी झगड़े व उलझन का प्रश्न है, नेपोलियन ने बाद में कहा, "मुझे ही झुकना पड़ा।" १८९७ में नेपोलियन ने विरोना से लिखा, "मैं तुम्हें हजारों चुम्बन भेजता हूँ। मैं बहुत अच्छी तरह हूँ। हमारे केवल दस आदमी मरे और एक सौ घायल हुए। —बोनापार्ट"]

मिलान, नवम्बर २७, १७९६
दोपहर तीन बजे

मैं मिलान पहुँचा, सीधा तुम्हारे कमरे में दौड़ा गया, तुम्हें देखने के लिये सब कुछ छोड़ कर भागा, तुम्हें बाहों में दबा लेने को···तुम वहाँ नहीं थीं। तुम तो शहर-शहर भागी फिरती हो। मेरे आने के वक्त ही तुम चली गयीं। लगता है अब तुम्हें अपने प्यारे नेपोलियन की अधिक चिन्ता नहीं रहती। मैं मुसीबतों व खतरों का आदी हूँ और मैं जीवन की बुराइयों की दवा भी जानता हूँ। जो बदकिस्मती मैं सह रहा हूँ, वह सुधार से परे है। मुझे इससे बरी रखा जाता तो अच्छा होता।

मैं यहाँ ६ ता० की शाम तक हूँ। तुम कोई असुविधा न उठाना, न अपनी मौजों को कम होने देना, मौजें तुम्हारे लिये ही बनी हैं। समूची दुनिया, अगर तुम खुश रहो तो खुश होगी। केवल तुम्हारा शौहर, सिर्फ अकेला ही नहीं, बहुत रंजीदा भी है।

—बोन पार्ट

[बड़े साम्राज्य का मालिक बन कर भी नेपोलियन ने जोसेफिन की बात मानी और १ दिसम्बर १८०४ को बड़ी शान-शौकत व धार्मिक संस्कारों के बीच नेपोलियन ने जोसेफिन से पुनर्विवाह किया। भविष्य के प्रति सतर्क रह कर, उसने अपनी पत्नी के स्वभाव के कारण जानबूझ कर एक रीति छोड़ दी। कोई पादरी उपस्थित न था। छः वर्ष के बाद इसी रीति-भंग के कारण तलाक संभव हो सका। नाटरेडेम की ताजपोशी के दिन भी जोसेफिन अमीर रिश्तेदारों के संग रंगरेलियाँ मनाती रही और नेपोलियन योरप के बचे राष्ट्रों की फतह की योजना बनाता रहा। आस्ट्रिया व अन्य दो राष्ट्रों पर हमले की तैयारी थी। १८०४ के जून में उसने जोसेफिन को लिखा, "......मौसम बड़ा सुहाना है। मैं तुम्हें यकीन दिलाता हूँ कि मेरे मन में अपनी नन्हीं-सी जोसेफिन के प्रति प्यार से बढ़ कर दुनिया में कोई दूसरा सत्य नहीं है। बाकी सब बकवास है। —बो०]

ब्रन

दिसम्बर १६, १८०५

महा, महा सम्राज्ञी ! तुम्हारे स्ट्रांगवर्ग से जाने के बाद तुम्हारा एक भी खत नहीं। तुम बेडेन, स्टटगार्ट, मूनिच गयी, बिना एक शब्द भी मुझे लिखे हुए। न तो यह बहुत अच्छी बात है, न बहुत मासूम ही। मैं अभी ब्रन में हूँ। रूसी चले गये हैं। मैंने सोचा है कि कुछ दिनों बाद आगे की बात सोचूंगा।... अपनी महानता की ऊँचाई से, अपने गुलाम के लिये सोचने की तो फुर्सत निकालो।

—नेपोलियन

[जेना की लड़ाई व पश्चिमी योरप पर फतह करने के बाद नेपोलियन पूरब पर चाढ़ाई की योजना बना रहा था। रूसी साम्राज्य की चुनौती का उसे उत्तर देना था। जोसेफिन ने नेपोलियन के लिये थोड़ी नमी अनुभव की और उसके पास आने की इच्छा प्रकट की, लेकिन अब वह उसे नहीं चाहता था। फिर भी वह आश्चर्यजनक प्रेम-पत्र लिखता ही रहा।]

बरलिन
नवम्बर ६, १८०६
रात को नौ बजे

मुझे तुम्हारा पत्र मिला, जिसमें तुमने औरतों के बारे में अपनी भावना लिखी। यह सच है कि सब से ज्यादा नफ़रत मुझे चालाक औरतों से है। मैं अच्छी, सुन्दर और नाज़ुक-मिज़ाज औरतों की दोस्ती का आदी हूँ। उन्हें ही मैं प्यार भी करता हूँ। अगर ऐसी औरतों ने मुझे बरबाद किया तो गलती मेरी नहीं है, तुम्हारी है। तुम्हें मालूम है कि एक औरत के लिये मैं बहुत भला हूँ जिसने शराफत व अक्ल से काम लिया, मैडम……। जब मैंने उसे उसके पति का पत्र दिखाया तो उसने मुझसे कहा, 'सचमुच यह उसी की लिखावट है।' जब उसने पढ़ा तो उसकी आवाज मेरी आत्मा में चुभ-सी गयी, उससे मुझे तकलीफ हुई। मैंने उससे कहा, 'ओह! मैडम, यह ख़त आग में झोंक दो। अब मैं कभी तुम्हारे पति को सजा देने का हुक्म न दे सकूँगा।' उसने ख़त जला दिया और बड़ी खुश नज़र आयी। उसका पति अब मुक्त है। अगर यह भेंट दो घंटे बाद होती तो सचमुच बहुत देरी हो गयी होती। देखा न, मैं भली, शरीफ और खूशनुमाँ औरतों को ही प्यार करता हूँ, लेकिन यह सिर्फ इसलिये कि वे सब तुमसे मिलती-जुलती होती हैं।

मेरा प्यार। मैं ठीक हूँ।

—नेपोलियन

[सन् १९६१]

जिजीविषा*

[१८९० में जब विंसेंट वान गाग को कब्र में गाड़ा गया तब बहुत कम आदमी शव-यात्रा में गये थे। लेकिन कुछ ही बरस बाद जब लंदन से उसके चित्रों की प्रदर्शनी हुई तो १,५७,००० लोगों ने उसके चित्रों को देख कर उसकी प्रशंसा की। जीवन भर उसे भर-पेट खाने को भी न मिला, पर बाद में उसका केवल एक चित्र ही चार लाख रुपयों में बिका। अब तो उसके समस्त चित्रों की कीमत लगभग पाँच करोड़ रुपये आँकी जाती है।

विंसेंट वान गाग ऐसा चित्रकार था जो पीड़ा, भूख, अपमान, तिरस्कार और हर प्रकार के कष्टों को सह कर मनुष्यता का चित्रांकन करता रहा, और जब वह तड़प-तड़प कर मर गया, तो उसकी करुणापूर्ण जीवन-कथा विश्व की एक महान कहानी बन गयी।]

"वान गाग ! उठो, सबेरा हो गया।"

"मैं तो पहले से ही जागा हूँ," वान गाग ने कहा। वह जागते हुए भी पड़ा रह कर उर्सुला का इंतजार कर रहा था।

---

* अमर चित्रकार वान गाग के जीवन पर आधारित इर्विंग स्टोन की कृति 'लस्ट फार लाइफ' का संक्षिप्त-रूप।

उसके चौड़े कंधे माँसल थे, भुजाएँ मोटी और दृढ़ थीं, जैसे किसी कसरती खिलाड़ी का शरीर हो।

हजामत बना कर तथा नहा-धो कर वह नाश्ते के लिये मेज पर जा डटा। तभी उर्सुला ने उसे डाक से आया पत्र दिया। लिफाफा देख कर ही वह समझ गया कि उसकी माँ का पत्र है, अतः उसे उसने अपनी जेब में रख लिया। सोचा कि बाद में इतमीनान से पढ़ूँगा।

उर्सुला अपनी विधवा माँ के साथ रहती थी। उन्हीं के यहाँ वान गाग किराये का एक कमरा लेकर रहता था। उर्सुला अपनी माँ के साथ जीवन-यापन के लिये छोटे बच्चों का एक स्कूल चलाती थी।

उर्सुला इकहरे बदन की बड़ी सुन्दर तरुणी थी। वान गाग केवल उसकी हँसी देख कर निहाल हो जाया करता था। इक्कीस वर्ष के वान गाग को जीवन में प्रथम बार प्रणय का रस मिला था।

ह़ालैंडवासी यों ही लंदन में अभद्र समझे जाते थे—और उर्सुला के सामने तो वान गाग जैसे सहम जाया करता था। सदा ही उलटे काम कर बैठता और उर्सुला को हँसने का बहाना मिल जाता।

अप्रैल का महीना। बाग में वान गाग उर्सुला के पीछे-पीछे जा रहा था। उर्सुला के बालों से एक अजीब सी खुशबू निकल रही थी जो वान गाग को पागल बनाये दे रही थी। वह अपने को रोक न सका और कह उठा,

"उर्सुला !"

"क्या है ?"

वान गाग की जैसे साँस रुक गयी, गला सूख गया। हकला कर बोला, "मैं...मैं...!"

"बोलो न ! हकलाते क्यों हो ? क्या तुम्हें दुकान के लिये देर नहीं हो रही है ?"

"अभी काफी समय है।"

उर्सुला के बाल हवा में लहरा रहे थे, जिन्हें वह बार-बार अपने हाथों से समेट लेती थी। विंसेंट वान गाग उसकी सुघड़ देह को ललचाई निगाहों से देखता जा रहा था। उसके और कुछ कहने के पहले ही जाने क्या समझ कर

उर्सुला एकदम से घूमी और घर की ओर भाग गयी ।

विंसेंट भी दुकान चला गया । वह गौपिल्स नामक चित्रों की एक दुकान में काम करता था । लेकिन मूर्खों के हाथ चित्र बेचने के काम से वह ऊब-सा गया था । उसके काम से मालिक बहुत खुश था । उसी दिन मालिक ने बताया कि उसकी तनख्वाह में तरक्की कर दी गयी है ।

प्रसन्नता से विंसेंट नाच उठा । अपने मन ही मन वह उर्सुला से विवाह करने की कल्पना कर रहा था । आमदनी की बढ़ती से उसे अपनी कल्पना साकार होती दिखायी पड़ी । उस दिन दुकान से रात को वापस आते समय वह उर्सुला के लिये एक चित्र भी ले आया, जिसे देख कर उर्सुला सचमुच प्रसन्न हो उठी । बोली, "ठहरो, घर का काम निबटा लूँ, तो चल कर अभी स्कूल में टाँग आऊँ ।"

और अपने कमरे में आ कर विंसेंट शीशे के सामने खड़ा हो गया । यद्यपि वह बहुत ही बदसूरत था, पर उर्सुला के लिये वह अब हर समय अपने को अत्यधिक सुन्दर बनाने का ही प्रयास करता रहता ।

थोड़ी देर बाद उर्सुला आयी तो उसके साथ वह चित्र लेकर स्कूल की ओर चल पड़ा । अंधेरी रात, अँधेरा रास्ता । उर्सुला ने रास्ते में विंसेंट की बाँह पकड़ ली । इसका अर्थ विंसेंट ने कुछ और ही लगाया ।

स्कूल में दीवार पर बहुत कोशिश करने पर भी विंसेंट चित्र न टाँग सका। तब उर्सुला ने कहा, "तुम बिलकुल भोंदू हो । लाओ मैं टाँग दूँ ।"

और जब उर्सुला चित्र टाँग रही थी तो उसकी सुन्दर देहराशि को विंसेंट देखता रहा । उसके अन्दर जाने कैसी सिहरन उठ रही थी, जी चाहता था कि उर्सुला को वह अपनी बाँहों में कस ले । जब वह चित्र टाँग चुकी तो प्रसन्नता से बोली, "धन्यवाद विंसेंट !"

"मैं···मैं···" विंसेट ने कुछ कहना चाहा ।

"बोलो, क्या बात है ?"

"तुम ··तुम···तो जानती हो···कि···"

"मैं कुछ नहीं जानती, जल्दी बोलो । मुझे ठंड लग रही है ।"

"मैं समझता था कि तुम···तुम समझ गयी होगी !"

"मैं कुछ नहीं समझती । तुम साफ-साफ कहो ।"

"तुम मुझसे शादी कर···"

"क्या ? क्या बकवास कर रहे हो ? यह असंभव है। जानते नहीं, मेरी मँगनी पहले ही हो चुकी है।"

"क्या ? किससे ?"

"क्या तुम्हें नहीं मालूम ? जिस कमरे में तुम रहते हो, वहीं वह रहता था। मैं···मैं समझती थी कि तुम्हें यह मालूम हो गया होगा।"

"लेकिन मैं भी तुमसे प्रेम···"

"तो क्या जो भी मुझसे प्रेम करे, उसी से मुझे शादी करनी पड़ेगी ?"

विंसेंट अपने को रोक न सका और बढ़ कर उसने उर्सुला को पकड़ लिया। उर्सुला ने कड़े शब्दों में कहा, "छोड़ो मुझे, नहीं तो मैं शोर मचा दूँगी।"

विंसेंट ने उसे छोड़ दिया। उर्सुला ने घृणा व क्रोध से उसे देखा और "लाल बालों वाला मूर्ख बंदर !" कह कर भाग गयी।

फिर दूसरे दिन विंसेंट को कोई उठाने न आया। खाना खाते समय रोज की तरह उर्सुला की माँ ने प्यार नहीं दिखाया, बल्कि बड़ी बेरुखाई से विंसेंट से बोली, "अब तुम और कहीं अपने रहने का ठिकाना कर लो। मेरा भावी दामाद जुलाई में आने वाला है। मुझे उसी के लिये यह कमरा चाहिये।"

विंसेंट सन्न रह गया। अपनी समझ से वह उर्सुला के बिना एक दिन भी नहीं रह सकता था। फिर घर छोड़ने की कल्पना से तो वह मर-सा गया।

उसके दो चाचा चित्रों की कई दुकानों के मालिक थे। उसका पिता पादरी था। उर्सुला के यहाँ से अपमानित होने पर वह अपने पिता के पास चला गया। पिता ने पुत्र की उदासी देख कर समझा कि वह गौपिल्स में खुश नहीं है, अतः उन्होंने उसे भी पादरी बनने की सलाह दी, पर माँ की स्नेहमयी आँखों ने बहुत कुछ जान लिया और वह बोली, "बेटा, अब तुम उर्सुला का मकान छोड़ दो। वह अच्छी लड़की नहीं है। मैं तुम्हारे लिये अच्छी-सी डच लड़की खोज दूँगी।"

विंसेंट को आश्चर्य था कि माँ को सब कुछ कैसे पता चल गया।

लंदन वापस आ कर विंसेंट एक दूसरे घर में एक कमरा ले कर रहने लगा, पर दिन-रात उसका मन उर्सुला के घर की ओर ही भाग जाने को होता।

वह अपने को रोकता, लेकिन कभी-कभी रात को वह उर्सुला के घर तक चला जाता और दूर खड़ा होकर तब तक उस घर की ओर निहारता रहता जब तक उर्सुला के कमरे की बत्ती बुझ न जाती।

क्रिसमय का दिन आया। उस दिन बड़ी सतर्कता से विंसेंट ने दाढ़ी बनायी, नयी कमीज व नयी टाई पहनी और खूब सज-धज कर उर्सुला के घर की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँच कर देखा कि सारा घर जैसे किसी जलसा घर की तरह जगमगा रहा है। बाहर काफी संख्या में गड़ियाँ खड़ी थीं, लोग आ-जा रहे थे। उसे भी प्रसन्नता हुई। आगे बढ़ कर वह दरवाजे पर गया ही था कि सामने ही उर्सुला खड़ी दिखायी दी। विंसेंट का दिल धड़कने लगा। वह बोल भी न पाया था कि उर्सुला चीख उठी, "चले जाओ, जाओ यहाँ से !" और झट से उसने किवाड़ बंद कर लिये।

अपमान से पीड़ित, प्रणय में हारा विंसेंट दूसरे दिन ही हालैंड के लिए चल पड़ा। उर्सुला द्वारा किये गये तिरस्कार से वह बहुत निराश हो गया था। पिता ने फिर उसे पादरी का जीवन अपनाने की शिक्षा दी, पर विंसेट कुछ दिनों बाद लंदन के पास ही रैम्सगेट शहर के छोटे बच्चों के स्कूल में अध्यापक हो गया। यहाँ उसे कोई तनख्वाह न मिलती। केवल खाना और रहने की जगह मिली थी।

एक दिन स्कूल के किसी काम से विंसेंट को लंदन जाना पड़ा। लंदन तक वह वर्षा में भीगता पैदल ही गया। उर्सुला को देख पाने की आशा में वह कोई भी कष्ट उठा सकता था। और थका-माँदा व भीगा जब वह उर्सुला के घर पहुँचा तो वहाँ रोशनी की सजावट देख कर वह दंग रह गया। घर के भीतर से नाच-गाने की आवाज आ रही थी। विंसेंट ने बाहर खड़ी गाड़ी के कोचवान से पूछा, "यहाँ क्या हो रहा है ?"

गाड़ीवान ने बताया, "किसी की शादी है।"

सुन कर विंसेंट को लगा कि वह खड़ा न रह पायेगा। तभी सामने के मुख्य द्वार से उर्सुला नवबधू बनी, खिलखिलती, एक नवयुवक के हाथ-में-हाथ डाले बाहर निकली। पीछे से लोग उस पर चावलों की वर्षा कर रहे थे। विंसेंट से देखा न गया। वह और अँधेरे में खिसक गया। नववधू बनी उर्सुला अपने पति के साथ एक सजी हुई गाड़ी में बैठी। गाड़ी चल दी। सड़क की रोशनी में

विसेंट ने देखा कि गाड़ी के भीतर उर्सुला का शरीर उसके पति की बाँहों में था।

विंसेंट को जैसे किसी ने छुरा मार दिया। उसका हृदय चूर-चूर हो गया। दूसरे ही दिन उसने इंग्लैंड का त्याग कर दिया।

□ □ □

लंदन छूटने के साथ ही चित्रों की दुकानों से भी मुक्ति मिली। विंसेंट ने अब पादरी बन कर ईश्वर की सेवा में ही लगने का निश्चय कर लिया था। उसके एक चाचा हालैंड में उच्च जल-सेना अधिकारी थे। उन्होंने विंसेंट को अपने एक रिश्तेदार पादरी स्ट्राइकर के सुपुर्द किया। पहली ही भेंट में उन्होंने विंसेंट को अपने यहाँ खाने पर बुलाया।

जब विंसेंट उक्त पादरी के यहाँ पहुँचा तो एक सुन्दर, सलोनी, लंबी तरुणी ने स्वागत करते हुए कहा, "मैं तुम्हारी मौसेरी बहन 'के' हूँ। कितना अजीब है कि इतने निकट संबंधी होकर भी आज तक तुमसे भेंट न हो सकी। इसीलिए मैं छब्बीस वर्ष की होकर भी तुम्हें..."

"मैं चौबीस का हूँ..."

"हाँ, चौबीस वर्ष के होकर भी मुझसे न मिल पाये!"

जल्दी ही विंसेंट 'के' से हिलमिल गया। एकाएक 'के' ने पूछा, "विंसेंट, तुम कुछ चिंतित लगते हो!"

"नहीं, सोच रहा था कि अगर चित्रकार रेमब्रांट तुम्हें देख पाता तो निश्चय ही तुम्हारा चित्र बनाता।"

"नहीं, रेमब्रांट को तो सिर्फ शोक भरे चेहरे ही अच्छे लगते हैं।"

तभी एक सुन्दर-से नवयुवक ने एक छोटे-से बच्चे के साथ कमरे में प्रवेश किया। 'के' ने बताया, "ये मेरे पति और यह हमारा बच्चा है।"

पति के आगमन से 'के' बहुत प्रसन्न हो उठी। उसकी आँखों की चमक व गालों की लाली और बढ़ गयी। बच्चे के साथ उसे मग्न देख कर विंसेंट के दिल में एक अजीब तरह का दर्द होने लगा। उर्सुला की याद ताजी हो गयी।

विंसेंट की धार्मिक शिक्षा श्री मेंडेस ने शुरू की। पढ़ाई में ही विंसेंट ने अपने को भुला देना चाहा। उन्हीं के साथ उसने गाँव वालों के जीवन को निकट से देखा, ग्रामीणों की करुणा और उनकी विवशता को पहचाना। विंसेंट अब अठारह-बीस घंटे मेहनत करता था।

एम्सटरडम आये उसे अब एक वर्ष पूरा हो रहा था। विंसेंट अपने शिक्षक श्री मेंडेस के साथ टहलने जा रहा था। सामने ही चित्रकार रेम-ब्रांट का मकान था। उसे देखते ही मेंडेस के मुँह से निकाला, "बेचारा!"

विंसेंट ने चौंक कर पूछा, "क्या हुआ, महोदय!"

"बेचारा अपमान और दरिद्रता की चोटों से मरा।"

किसी कलाकार के प्रति पादरी की यह संवेदना देख कर विंसेंट चौंका। बात को बढ़ाने के लिए उसने कहा, "लेकिन मरते समय तो वह दुखी नहीं था।"

"इसलिए कि अपनी कला द्वारा वह अपने को पूरी तरह व्यक्त कर चुका था। यही तो एक कलाकार की चरम सफलता है!"

"लेकिन शायद दुनिया इसे न माने!"

"दुनिया के मानने, न मानने से भला क्या होता है! विंसेंट, कला का मर्म यही है कि कलाकार अपनी भावनाओं को किस प्रकार व्यक्त करता है। रेमब्रांट ने जीवन का जो लक्ष्य बताया था, उसे पूरा किया। इसे ही जीवन की सफलता कहते हैं।"

विंसेंट गंभीर हो कर चुप हो गया।

जब लौट कर वे लोग गिरजाघर पहुँच तो पास के कब्रिस्तान में अपनी माता व पिता की क़ब्रों की ओर इशारा कर के मेंडेस ने कहा, "हर आदमी में कोई-न-कोई चारित्रिक गुण अवश्य होते हैं, और जब उसे अपने गुणों की पहचान हो जाती है तभी वह सफल हो सकता है। मैं समझ गया हूँ कि तुममें भी कुछ गुण हैं। तुम भी अवश्य ही सफल होंगे। अच्छा, अब चला जाये। अच्छा विदा!"

पादरी तो चले गये, पर विंसेंट चक्कर में फँस गया। क्या सचमुच वह सफल हो सकेगा? वह चित्र की दुकान पर बेकार सिद्ध हुआ, शिक्षक के रूप में असफलता पायी। अब क्या पादरी बन कर सफल हो सकेगा?

और शिक्षा पूरी होने पर उसे बोइरनेज जा कर धर्म-प्रचार करने की आज्ञा मिली।

बेलजियम के दक्षिण में कोयले की खानों का यह छोटा-सा शहर! कोयले की खानें, चिमनियाँ, धुआँ और कोयले के रंग में रंगे आदमी। विंसेंट ने उनका जो जीवन देखा, उससे वह काँप गया। हजारों फुट धरती के नीचे सुरंगों में जा कर कोयला खोदना और अक्सर वहीं दब कर मर जाना। छोटे-छोटे गंदे, बीमारी के घर। जानवरों से भी बुरा जीवन वे जी रहे थे।

उनके लिए विंसेंट ने पाठशाला खोली, दवा का प्रबंध किया। खूब मेहनत की। गिरजा की कमेटी ने उस पर प्रसन्न हो कर पचास फ्रांक मासिक बाँध दिये। वह धन भी वह उन्हीं की सेवा में लगा देता।

एक दिन मजदूरों के साथ वह सुरंग के भीतर गया। यहाँ साँप की तरह लेट कर सुरंग में चलना पड़ता था। रोशनी और हवा का नाम नहीं। आखिर लोग जिंदा कैसे रहते हैं यहाँ!

जीवन के इस सत्य को इतने पास से देख कर वह स्तंभित रह गया। क्या यह इंसान का ही जीवन है!

एक दिन उसने अपने सामने ही एक खान को धँसते देखा। उसमें लगभग पचहत्तर मजदूर मर गये। खान में ही उनकी कब्र बन गयी। उसने दौड़-भाग करके मृतक मजदूरों के बाल-बच्चों की सेवा की, दवा दी, खाना पहुँचाया तथा अन्य सब कुछ किया। वह खान-मालिकों से मिला ताकि मरे मज़दूरों के परिवारों का कुछ प्रबंध हो सके, पर कहीं उसे मनुष्यता के दर्शन न हो सके। सभी उसे ही पागल समझते थे।

विंसेंट को दुनिया से ऊब होने लगी। ईश्वर पर से उसका विश्वास उठने लगा। आत्म-विश्वास भी खोने लगा। इधर उसके भाई थियो के भी पत्र आने बंद हो गये थे। थियो ही तो दुनिया में ऐसा था जो उससे स्नेह तथा सहानुभूति रखता था। क्या थियो का भी उस पर से विश्वास उठ गया?

धीरे-धीरे विंसेंट जीवन से निराश होने लगा। कभी-कभी घर से भूले-भटके एक आध पत्र भी आ जाते, जिसमें उसे केवल गाली ही मिलती। लिखा होता—'तुम काहिली का जीवन अपना कर कुटुब की इज्जत मिट्टी में मिला रहे हो!'

एक दिन बहुत उदास मन वह खेत की मेड़ पर बैठा अपने इस जीवन के बारे में सोच रहा था कि उसे सामने खेत में एक मजदूर आता दिखायी पड़ा। झुकी कमर, हड्डी का ढाँचा-मात्र। विंसेंट उसे देख कर बड़ा प्रभावित हुआ। तत्काल उसके हाथ अपने कोट की जेबों में चले गये। पिता का गाली भरा पत्र और छोटी सी पेंसिल मिली। उसी पत्र के पीछे वह मजदूर की आकृति बनाने लगा।

घर आकर एक साफ कागज पर उसने उसी मजदूर का बड़ा चित्र बना कर दीवार पर टाँग दिया और रात भर लेटा उसे ही निहारता रहा।

अब वह रोज ही सुबह जाकर खेतों में काम करते मजदूरो के चित्र बनाता। इसी से उसे शांति मिलती।

धीरे-धीरे उसकी चित्रकला का क्षेत्र विस्तृत होने लगा। मजदूरों के अलावा वह गाँव की सुन्दर लड़कियों तथा दुकानदारों के भी चित्र बनाने लगा। मजदूरों के घरों में जा कर वह उन के जीवन को अपनी चित्रकला के माध्यम से व्यक्त करने की कोशिश करता।

कुछ दिनों तक इस प्रकार बिना किसी योजना के चित्रकारी करने के बाद उसके मन में आया कि उसे बड़े कलाकारों की कृतियों का अध्ययन करना चाहिए। उसने अपने भाई थियो को उसकी नाराजगी के बावजूद पत्र लिखा—"तुम्हारे पास मैंने कई प्रसिद्ध चित्रकारों के एलबम देखे थे। वे सब तुम मुझे भेज दो। मैं भी चित्र बनाने लगा हूँ। तुम जब देखोगे तो खुश होगे। मेरे चित्र बहुत बुरे नहीं हैं..."

एक दिन विंसेंट की जेब में केवल तीन फ्रांक थे। वह अपने चित्रों के साथ ब्रुसेल्स जाना चाहता था। रेल-किराया भी पूरा न था। अंत में सोच-विचार कर विंसेंट पीठ पर चित्रों को लाद कर पैदल ही चल पड़ा। ब्रुसेल्स सत्तर किलोमीटर दूर था। पूरे दो दिन और एक रात वह चलता रहा। कपड़ों पर बुरी तरह गर्द चढ़ गयी थी। थकान से शरीर चूर हो गया था। जूतों के तल्लों में बड़े-बड़े छेद हो गये थे, लेकिन वह चलता ही रहा। भूखा-प्यासा जब वह यात्रा की समाप्ति पर आया तो पाँवों के तलवे खून से लथपथ हो गये थे। शरीर थकान से चूर था। पर इन सब के बारे में वह क्यों सोचता! आज वह ब्रुसेल्स में दूसरे कलाकारों से मिलने जा रहा था।

थका, चूर, विक्षिप्त-सा जब वह पादरी पीटरसन के यहाँ पहुँचा तो उसकी बेटी विंसेंट को देख कर चीख पड़ी। सूखा चेहरा, बढ़ी दाढ़ी, अस्त-व्यस्त शक्ल। बेटी की चीख सुन कर जब पादरी आये तो देखा कि विंसेंट था।

सबसे पहले विंसेंट को उन्होंने नहलाया-धुलाया। बड़ी कठिनाई से वह हजामत बना सका। जब खाने बैठा तो लगा कि आज कोई दानवी भूख उसके भीतर जाग उठी है; और जब खा कर वह सोया तो चौबीस घण्टे तक उठा ही नहीं।

उसकी स्थिति पर तरस खा कर पादरी पीटरसन ने उसके चित्रों की तारीफ की और उसे प्रोत्साहन दिया। बहुत प्रसन्नता व उत्साह से जब विंसेंट लौटने लगा तो पादरी ने उसे एक नया जूता खरीद दिया और रेल टिकट भी कटा दिया।

विंसेंट जब बोइरनेज वापस आया तो देखा कि थियो ने कई एलबम व कई पुस्तकें उसके लिये भेज दी थीं। इन पुस्तकों को पा कर वह अब दूने उत्साह से चित्र बनाने में जुट गया। लेकिन पेट की समस्या ! रंग तथा कागज जुटाने में ही उसकी मुसीबत थी। खाना कहाँ से जुटाता ! आत्मा की भूख तो रंग खरीद कर मिटा लेता, पर पेट की भूख ! सो कुछ दिनों भूखा रहने में ही क्या हर्ज है !

भूखा रह कर चित्र बना-बना कर वह उन्हें थियो के पास भेज देता। लेकिन इतने चित्र बना कर भी विंसेंट कला का मर्म नहीं समझ पाया था। आखिर में वह कला का रहस्य जान कर ही शांत होगा।

एक दिन विंसेंट किसी की पदचाप से चौंक पड़ा। देखा तो अवाक रह गया, थियो सामने खड़ा था। भाई के प्रेम-वश उससे मिलने चला आया था।

विंसेंट की हालत देख कर थियो का जी रो उठा। भाई का पिंजर-शरीर, रक्तहीन चेहरा, चीथड़े कपड़े, बदबूदार गंदे बिछौने। उसे कहीं से विंसेंट के ब्रुसेल्स पैदल जाने की बात भी पता लग गयी थी। उसने रो कर कहा, "विंसेंट ! तुमने यह क्या हाल कर रखा है ?"

विंसेंट चुप।

थियो बड़ी देर तक भाई के सिर पर हाथ फेरता रहा। फिर अचानक वह

बाहर चला गया। करीब एक घंटे बाद वापस आया तो पीछे-पीछे दो छोकरे सामान लिये हुए आये—कंबल, बिछौना, पहनने के कपड़े, खाने का सामान, कोयला आदि।

थियो ने अपने हाथ से विंसेंट की दाढ़ी बनायी, कपड़े बदले, अंडे व आलू उबाले, गोश्त पकाया, रोटी सेंकी। और जब अपने ही हाथों से अपने प्यारे भाई को खिलाना चाहा तो विंसेंट फफक कर रो पड़ा। संसार में कोई तो है जो उसे प्यार करता है!

जाने कितने दिनों बाद आज विंसेंट को तंबाकू पीने को मिली। वह शांत पड़ा पाइप पी रहा था।

थियो ने कहा, "विंसेंट अब मेरी तनख्वाह दुगुनी हो गयी है। तुम मेरे पास रहो। मनमाने चित्र बनाओ। पैसे मैं दूंगा।"

"मैं सत्ताइस वर्ष का हो गया हूँ, थियो! अब कब तक बेकार रह कर दूसरों के लिये भार बना रहूँ?"

"तुम जो राह अपना रहे हो, उसमें समय की कोई सीमा नहीं मानी जाती। और तुम इसकी फिक्र मत करो। मैं तुम्हें कभी पैसों की तकलीफ न होने दूंगा। तुम जहाँ चाहो रहो—पेरिस, ब्रुसेल्स, हेग, एम्सटरडम।"

और उसी रात अपने भाई के साथ विंसेंट ब्रुसेल्स के लिये चल पड़ा।

□ □ □

विंसेंट को पता लगा कि गौपिल्स नामक जिस दुकान पर वह काम करता था उसके अध्यक्ष अब श्री हरमन टर्सटीग थे। टर्सटीग चित्रकारी के सबसे बड़े आलोचक थे। उन्होंने ही मौ, इजराईल और जेकब मारिस जैसे नये चित्रकारों को बुला कर हेग में बसा लिया था और सभी की आर्थिक सहायता करते थे।

विंसेंट ने अपने चित्र उन्हें दिखाये। उन्होंने न बुराई की, न तारीफ। जाहिर था कि उसके चित्र उन्हें नहीं रुचे। अतः आधुनिक चित्रकला से परिचय प्राप्त करने की लालच में वह चित्रकार मौ के यहाँ जा कर काम करने लगा।

मौ का सुन्दर घर, उसकी पत्नी व बच्चे, तथा उसका सुखी संसार देख कर

विंसेंट ने सोचा—क्या मैं भी कभी ऐसा ही सुखी हो सकता हूँ ? उसने मौ से प्रार्थना की, "मुझे अपना शिष्य बना लो !"

"शिष्य ! भला चित्रकार का शिष्य, शिष्य…"

"आप 'हाँ' भर कह दें। मैं आप पर तनिक भी बोझ न बनूँगा। केवल आप को चित्र बनाता देखूँगा, बस।"

"अच्छा, अच्छा !"

विंसेंट को लगा कि अब सफलता उसके पास आ जायेगी। वह खुश था—'मुझे गुरु मिल गया ! अब मेरी कला अनाथ नहीं रहेगी।'

इस बार जब विंसेंट घर गया तो देखा कि वहाँ 'के' आयी थी।

'के' का पति मर चुका था। इस दुख ने 'के' को बिलकुल ही बदल दिया था। न पहले की-सी चपलता, न शोखी, न कुछ ! उसे हो क्या गया… ?

सहानुभूति के तौर पर उसने उसके बच्चे की तारीफ करना प्रारम्भ किया। फिर कहा, "'के', तुम बच्चे जेन को लेकर मेरे साथ खेतों में चलना। मैं वहाँ चित्र बनाऊँगा।"

"तुम्हारा समय बरबाद नहीं करूँगी।"

"नहीं 'के', तुम्हारे रहने से काम में मन अधिक लगेगा।"

वह प्रतिदिन 'के' के साथ खेतों में जाता, चित्र बनाता, 'के' तारीफ करती। 'के' का समय भी अच्छी तरह बीतता। पर बात इतनी आसान न थी। 'के' के प्रति उसका आकर्षण और भी बढ़ता जाता। उसके रूप और सौंदर्य में विंसेंट को एक नयापन दिखायी देने लगा। 'के' की नीली आँखों में विंसेंट को और गहराई दिखायी दी। 'के' के साथ के कारण विंसेंट के निराश हृदय का सारा प्रेम तथा कोमल भावनाएँ फिर लहलहा उठीं। 'के' की उपस्थिति में वह अपनी पूर्णता का अनुभव करता।

न जाने कितनी बार उसे प्रबल इच्छा हुई कि वह लपक कर 'के' को बाँहों में कस ले। पर कोई ऐसी शक्ति थी जो उसे बार-बार रोक लेती थी। इस रुकावट के बावजूद उसकी आशक्ति और भी बढ़ती जाती।

प्रेम की प्यास ऐसी ही होती है। जब बढ़ने लगती है तो अबाध रूप में ही बढ़ती जाती है। वह न तो कोई रुकावट मानती है, न बन्धन।

फिर विंसेंट की अतृप्त आत्मा ! वह तो जन्म-जन्मांतर से ही प्यासी थी। उसे कभी किसी ने प्रेम नहीं किया था। किसी ने उसके बालों में प्रेम से उँगुलियाँ नहीं फिरायी थीं। उसे न तो चुम्बन का स्वाद मालूम था, न प्रेम के निवेदन का ढंग। मिचलर के ये शब्द उसे सदा ही याद आते थे—'बिना प्रेम किये व्यक्ति ऐसा है जैसे वह पैदा ही नहीं हुआ।'

और इधर विंसेंट अनुभव कर रहा था कि केवल 'के' के प्रेम के कारण ही उसमें नया जीवन संचरित हो रहा था।

एक बार उसने उर्सुला में प्रति प्रेम निवेदित किया था तो उसे ठोकर मिली थी। अब 'के' के प्रति उसका प्रेम जागा है। अगर 'के' ने भी उसे ठुकरा दिया तो !

वह हर समय कल्पना करता रहता। 'के' उसकी पत्नी होगी। उसका बेटा होगा। उसका अपना घर होगा। छोटी सी सुखमय गृहस्थी होगी। और उसे जीवन में फिर कुछ नहीं चाहिये !

कई बार हिम्मत कर के विंसेंट ने 'के' के प्रति प्रेम का हलका-सा प्रदर्शन किया, पर कभी उसे 'के' की ओर से कोई उत्तर न मिला। बल्कि 'प्रेम' व 'विवाह' की चर्चा को 'के' सदा ही बचा ले जाती।

हे भगवान ! विंसेंट क्या करे···कैसे करे···कैसे कहे ? क्या वह पागल हो जायेगा ?

अब उसके हेग वापस जाने के दिन भी पास आ गये। उसकी व्यग्रता और बढ़ गयी।

एक दिन, दोपहर को खेत में, चित्र बनाते समय एकाएक विंसेंट उठा और जा कर 'के' के दोनों हाथों को पकड़ कर पागलों-सा बोलने लगा, " 'के' ! मेरी प्रियतमे 'के' ! मैं तुम्हारे बिना अब नहीं रह सकता······मैंने तुम्हें जब पहली बार देखा था, तभी से तुम्हारे प्रेम में पागल हूँ। अब अधिक मुझसे नहीं सहा जाता······बोलो 'के'····· तुम मेरी पत्नी बनोगी न ! बोलो······ 'के' बोलो······"

पहले कुछ क्षण तो 'के' की आँखें खुली की खुली रह गयीं—जैसे उसके शरीर में जान ही न हो। फिर वह एकाएक उठी और सोते बच्चे को उठा कर

भागी। विंसेंट उसके पीछे दौड़ा, "रुको···रुको···'के'···रुको···"

पर वह न रुकी और जब फिर रास्ते में विंसेंट ने उसे पकड़ा तो वह फूट कर रो पड़ी और चीखी, "नहीं, कभी नहीं···नहीं, कभी नहीं!"

फिर रोती हुई वह घर भाग गयी।

शाम को जब विंसेंट घर गया तो घर का वातावरण उसे बदला-सा लगा। 'के' बच्चे के साथ कमरा बन्द करके भीतर बैठी थी। माता-पिता के चेहरे भी गम्भीर थे। पिता ने तो नहीं पर माँ ने उदासी के स्वरों में कहा, "तू ने ऐसा क्यों किया?"

"क्या किया मैंने?"

"तू ने 'के' के साथ अनुचित व्यवहार किया! वह तेरी चचेरी बहिन है! तू उसे पत्नी रूप में कैसे देखना चाहता है?"

"किसी से प्रेम करना अनुचित है क्या?"

"किसी से नहीं, पर वह तेरी चचेरी बहिन जो है!" कह कर माँ तो चुप हो रही पर विंसेंट ने कहा, "इसमें हर्ज ही क्या है?"

अब तक खामोअ बैठे पिता एकाएक गरज उठे, "मैं नहीं समझता था कि तू इतना बड़ा पागल हो गया है! अपनी चचेरी बहन के बारे में इतनी गंदी कल्पना ही तू ने कैसे की?"

"क्या कहते हैं आप? बाइबिल में भी भाई-बहिन के प्रेम···"

"खामोश! नीच कहीं का! तू क्या गाग परिवार के इतिहास पर कलंक लगा कर ही रहेगा? बहुत पढ़-लिख गया है न! दिन भर गंदी किताबें जो पढ़ता रहता है, उसी का यह फल है। बदमाशों, चोरों के संग का और क्या असर होगा?"

"क्या आप विक्टर ह्यूगो और मिचलर को चोर और बदमाश कहते हैं? जरा आप भी कभी उनकी कोई किनात पढ़ें तब पता लगे। वे संसार के महानतम कलाकार हैं। उन्हें ऐसा कहने से आप की ही अज्ञानता का पता लगता है!"

"क्या? मुझे अज्ञानी कहता है? पापी! दूर हो जा मेरी आँखों के सामने से!" कहते हुए पिता ने घृणा से जमीन पर थूक दिया।

विंसेंट बड़बड़ाता बाहर चला गया। रात को उसने खाना भी नहीं खाया, न रात भर उसे नींद ही आयी। सुबह-सुबह जब वह रसोईघर में गया तो उसे केवल माँ ही वहाँ दिखायी दी।

"पिता जी कहाँ हैं ?" उसने पूछा।

"वे 'के' को स्टेशन पहुँचाने गये हैं। वह एम्सटरडम जा रही है।"

"क्यों ?"

"उसने और कुछ नहीं कहा, केवल अपने माता-पिता के यहाँ जाने की इच्छा प्रकट की थी।"

"गाड़ी कब जाती है ?"

"साढ़े दस पर।"

"तब तो साढ़े दस बज चुके हैं।"

वह चुपचाप अपने कमरे में वापस आ गया। रह-रह कर उसके कानों में 'के' के यही शब्द गूँजते रहे, 'नहीं...कभी नहीं, कभी नहीं।' उसने एक बार एम्सटरडम जाकर 'के' से बातें करना आवश्यक समझा। पर जाये कैसे ? किराये के पैसे कहाँ थे ?

तत्काल ही उसने थियो को पत्र लिखा, "क्या मेरे कोई चित्र नहीं बिके ? जैसे भी हो, कुछ पैसे भेजो, मुझे बहुत आवश्यक काम से एम्सटरडम जाना है।"

तीन दिन के बाद थियो ने पंद्रह फ्रांक भेज दिये।

एक क्षण की भी देरी किये बिना वह चल पड़ा।

जब वह एम्सटरडम पहुँचा तो शाम हो गयी थी। वह सीधा 'के' के पादरी पिता के यहाँ गया। यह घर उसका चिर-परिचित था। कितने ही दिनों वह यहाँ रह भी चुका था। ज्यों ही उसने दरवाजे की घंटी बजायी कि नौकरानी आयी और विंसेंट को देखते ही बोली, "घर में कोई नहीं है।"

"मुझे 'के' से बातें करनी है।"

"पर यहाँ कोई नहीं है।"

उसे धक्का दे कर बड़े आवेश में विंसेंट भीतर चला गया। सीधे खाने के कमरे में पहुँचा। पादरी अपने बच्चों व पत्नी सहित बैठे थे। केवल 'के' वहाँ न थी। पादरी ने उसे देखते ही पत्नी व बच्चों को इशारा किया। वे

चले गये। एकांत हो जाने पर पादरी ने बड़ी शांति से कहा, "तुम इतने पागल क्यों हो रहे हो? मैंने तुम्हें क्या इसीलिए इतना पढ़ाया-लिखाया है?"

"मैं केवल 'के' से बातें...सिर्फ़ एक बार बातें करना चाहता हूँ।"

"लेकिन वह तुम्हारी शक्ल भी देखना नहीं चाहती।"

"क्या ऐसा उसने आप से कहा है?"

"क्या तुम सचमुच इंसानियत छोड़ चुके हो? तुमने उसके साथ जो व्यवहार किया है, क्या उसके बाद भी वह तुम्हारे सामने कभी आयेगी?"

"तब तो उसे आना ही पड़ेगा। आप एक बार उससे मेरी बातें करा दें।"

"असंभव है!"

"ऐसा न करें! केवल उतनी देर के लिए ही आप उसे बुला दें जितनी देर मैं अपना हाथ आग पर रखे रहूँ।"

और इतना कहते हुये विंसेंट ने फ़ौरन ही मोमबत्ती की लौ पर अपना हाथ रख दिया।

विंसेंट का चेहरा दृढ़ बना रहा और पादरी अवाक देखते रहे।

एक मिनट, दो मिनट, तीन मिनट, पाँच मिनट!

विंसेंट आँखें मूंदे खड़ा रहा।

पादरी के तो जैसे बोल खो गये थे।

पाँच मिनट, दस मिनट, पंद्रह मिनट!

अब तो मांस के जलने की बदबू भी आने लगी थी।

विंसेंट की पूरी हथेली जल गयी।

पादरी चीख उठा, "पागल है यह!"

और मोमबत्ती उठा कर उसने जमीन पर पटक दी।

अँधेरे में दोनों एक-दूसरे को ठीक से देख भी न पा रहे थे। विंसेंट हाँफ रहा था। पादरी डर गया था। वह चीखा, "पागल है, यह पागल है। इसे निकालो यहाँ से!"

और अपना जला हाथ लिए विंसेंट चुपचाप बाहर निकल गया।

□ □ □

'के' के यहाँ से भी जब विंसेंट को ठोकर ही मिली तो हर ओर से

निराश होकर वह हेग आ गया। छोटी-सी कोठरी किराये पर ली और अपनी चित्रशाला खोली। यहाँ वह मौ से कला की उच्च शिक्षा लेने आया था, पर इन दिनों मौ भी कहीं बाहर गया था। अतः विवश हो कर उसने अपना घर-बार जुटाया। लेकिन सब कुछ करने पर भी जो कमी रह गयी थी वह यह कि वह खाट न खरीदा सका, जमीन पर ही सोता। रोज तेल खरीदने को पैसा न था, अतः लैंप भी न लिया और सूरज की रोशनी में ही काम करता। दो दिनों में एक शाम ही खाना खाता।

लौटने पर मौ को जब विंसेंट की दशा का पता लगा तो उसने तत्काल उसे सौ फ्रांक का एक नोट दे कर बिस्तर, बत्ती खरीदने तथा मकान का किराया चुकाने को कहा। विंसेंट तो इसी से प्रसन्न था कि मौ ने उसे चित्र-कला सिखाना स्वीकार कर लिया है। अतः रुपये उससे लेकर वह उस पर भार नहीं बनना चाहता था। पर मौ के स्नेहपूर्ण आग्रह को वह टाल भी न सका।

वह जी-जान से काम पर जुट गया।

अपनी शक्ति भर वह चित्र बना-बना कर मौ से सलाह लेता रहा। इधर तीन दिनों से उसे भोजन नसीब नहीं हुआ था। चौथे दिन जब नहीं रहा गया तो उसने थियो को पत्र लिख कर रुपये माँगे।

पाँचवें दिन भूख के कारण उसका सिर चकराने लगा। वह तो अब उठने-बैठने योग्य भी न था।

अब वह क्या करे! रात को बुखार भी हो जाता। छठवें दिन किसी तरह घिसटते हुए वह गौपिल्स जा कर टर्सटीग से मिला। कुछ चित्र रख कर टर्सटीग ने पचीस फ्रांक 'ऐडवांस' के रूप में दे कर उसके यहाँ किसी दिन आने का वायदा किया।

जब उसकी जेब में पचीस फ्रांक थे। आधी भूख तो यों ही मिट गयी। वह सीधा एक होटल में गया और डट कर खूब खाना खाया। छह दिनों का भूखा था। खा कर तंबाकू खरीदी और घर आकर आराम से लेट कर धुआँ उड़ाने लगा। एक हफ्ते बाद उसका पाइप सुलगा था। लेकिन न जाने क्यों आज रह-रह कर उस 'के' की याद बुरी तरह सता रही थी। जब उसकी बेचैनी बेकाबू होने लगी, तो हैट लगा कर वह एक सस्ते से 'कैफे' में जा बैठा। 'के' की याद अभी तक पीछा नहीं छोड़ रही थी। उसे भूलने के

लिए उसने शराब पीनी शुरू की। जब कुछ नशा होने लगा तो अचानक उसे सामने की मेज़ पर एक स्त्री बैठी दिखायी दी, जो अकेले ही शराब पी रही थी। न जाने क्यों विंसेंट एकटक उस स्त्री को देखने लगा। उसकी आँखें भी विंसेंट से टकरायीं। तभी बैरे ने आकर उस औरत से पूछा, "और क्या लाऊँ?"

एक लंबी साँस छोड़ते हुये वह बोली, "मेरे पास अब पैसे नहीं हैं।"

विंसेंट को जाने क्या सूझा कि बैरे को बुला कर उसने अपनी ओर से एक गिलास शराब उस औरत के पास भेज दी।

दूसरे ही क्षण वह औरत उठ कर विंसेंट की मेज़ पर आ गयी। विंसेंट उससे कुछ न बोला। पर वह गौर से उसे देखता रहा।

यद्यपि वह न सुन्दर थी न जवान, पर इकहरे व सुडौल शरीर के कारण आकर्षक अवश्य थी। उसकी आँखों में ऐसा तेज था जिसने विंसेंट को अपनी ओर आकर्षित किया था।

लंबी खामोशी के बाद। दोनों को ही काफी नशा चढ़ आया था। उस औरत ने खुद ही कहा, "मेरा नाम सीन क्रिश्चिन है। तुम्हारा?"

"मैं विंसेंट वान गाग हूँ—एक चित्रकार!"

"ओह, यह तो और नारकीय जीवन है। मैं तो घरों में कपड़े धो कर अपना निर्वाह करती हूँ। पर इससे भी पूरा नहीं पड़ता।"

"फिर क्या करती हो?"

"गलियों में घूम कर कमा लेती हूँ, कुछ न कुछ। पाँच बच्चे हैं, उनके पालन के लिए कोई न कोई आदमी ही खोजती हूँ।"

"पाँच बच्चे?"
"हाँ, और छठा पेट में है।"
"हे भगवान! क्या तुम्हारे पति नहीं है?"
"ये सभी तो गलियों में मिलने वाले ग्राहकों के हैं।"
"तो इनके बापों को भी नहीं जानतीं?"
"सड़क और होटलों में मिलने वाले ग्राहकों का कहाँ तक हिसाब रखूँ?"

"अच्छा एक गिलास और पियो।" कह कर विंसेंट ने अपनी जेब से एक

अध-जला सिगार निकाल कर सुलगाया। यह देख कर वह औरत बोली, "तुम भी खुश-हाल नहीं दिखायी देते। क्या तुम्हारे चित्र अच्छे दामों में बिकते हैं? क्या उम्र है तुम्हारी? क्या चालीस के हो?"

"मेरे चित्र अभी नहीं बिकते। यों उम्र केवल तीस है।"

"तो तुम मुझसे भी गरीब हो?"

"हाँ सीन! तुम कहाँ रहती हो? किसके साथ?"

"माँ के साथ।"

"क्या वह तुम्हारा व्यापार जानती हैं?"

"वही तो मुझे इसके लिए भेजती है। उसका जीवन भी ऐसा ही था। उसे भी मेरे व मेरे भाई के बापों का पता नहीं है। खैर, छोड़ो इसे। तुम्हारे हाथ में यह दाग कैसा है?"

"यह मैंने ही जला लिया था?"

"अपने से! क्यों?"

"पीड़ा का अनुभव करने के लिये।"

क्षण भर खामोश रह कर सीन इस अजीब आदमी को समझने लगी। तभी विंसेंट बोला, "सीन! क्या कभी तुमने किसी से प्रेम भी किया है?"

"हाँ, किया है। अब मैं बत्तीस की हूँ। सोलह साल पहले, एक से, जो मेरी पहली संतान का बाप था। पर वह मर गया और अब तो मैं भी मर जाऊँगी!"

"क्यों?"

"मैं और बच्चे जनने की स्थिति में नहीं हूँ। डाक्टर कहता है कि इस बार शायद मैं न बचूँ। फिर दवा में पैसे लगते हैं।"

"अब तुम कहाँ जाओगी?"

"आज दिन भर की मजदूरी नहीं मिली। अतः यहाँ कोई ग्राहक खोजने आयी थी।"

"नहीं, आज मेरे साथ चलो। मैं अकेले रहते-रहते ऊब गया हूँ।"

"हाँ चलूँगी, पर पहले एक गिलास और पिलाओ।"

"नहीं सीन, अब और मत पिओ। लो, यह सारे पैसे तुम रख लो।"

वह मुस्करा पड़ी, "रखे रहो। मुझसे अधिक पैसों की तुम्हें ही आवश्कता है। मुझे तो कोई भी दो फ्रांक दे देगा। अब मेरी यही कीमत है। पहले जब जवान थी, तब चित्रकार मुझे 'माडल' बना कर काफी दे देते थे।"

"क्या तुम 'माडल' भी रही हो?"

"हाँ।"

"तो तुम अब भी मेरी 'माडल' बन सकती हो। अभी तो नहीं, पर जब मेरे चित्र बिकने लगेंगे तो मैं तुम्हें दो फ्रांक रोज के हिसाब से दूँगा"।

दोनों बाहर आये। विंसेंट घर पहुँचा। सीन साथ थी। और जब विंसेंट सो कर उठा तो उसे जीवन बदला-सा लगा। आज रात वह अकेला न था। रात भर अकेला नहीं रहा। मन में सूनापन न था, शांति थी। उसके मन में एक प्रकार की उत्सुकता थी।

सीन चली गयी तो विंसेंट अपने आप बोल उठा, "वासना जीवन को सरस बना देती है।"

वह कब तक विचारों में डूबा बैठा पाइप पीता रहा, उसे पता न था। अचानक किसी के आगमन से वह चौंका। देखा तो श्रीमान टर्सटीग खड़े थे। विंसेंट घबरा गया, "यों ही आ गये! खबर भी न दी!"

"मैं कलाकारों के यहाँ ऐसे ही अचानक पहुँच जाता हूँ। अपने नये चित्र दिखाओ न!"

सभी नये चित्र देख कर टर्सटीग ने कहा, "पहले से तो अच्छा है। बस लगे रहो। कुछ कर ही लोगे। पैसों की जरूरत हो तो आ जाना।"

और वे चले गये।

दोपहर को ही थियो के भेजे एक सौ फ्रांक भी मिले।

"वाह, कितना शुभ दिन है, सीन! तुम्हें धन्यवाद।" विंसेंट ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए सोचा।

अब हर ओर से उत्साह दिखायी देने पर उसका काम में भी अधिक मन लगने लगा।

एक सप्ताह बाद फिर सीन आयी। उसे देखते ही विंसेंट खिल उठा। बोला, "सीन, खाना तैयार है।"

"क्या बनाया है?"

"आलू उबाले हैं और चाय।"

"आज मेरी भी दो फ्रांक की कमाई हुई है। जाकर गोश्त ले आऊँगी।"

और जब वह मांस खरीद कर लौटी तो विंसेंट चूल्हा जला चुका था। देख कर सीन ने डाँटा, "तुम दूर बैठो। मैं स्त्री हूँ और यह काम स्त्रियों का ही है।"

आग की रोशनी में सीन को देख कर विंसेंट का जी कचोट उठा। आज उसके घर में एक स्त्री खाना पका रही है! काश सीन की जगह 'के' होती!

और खाना खा कर जब विंसेंट बरतन धोने लगा तो फिर सीन ने डाँटा और खुद सब काम करने लगी। वह रात भर रही। और सुबह काफी पीकर वह चली गयी।

अब सीन प्रतिदिन आती, दिन को भी वह 'माडल' बनती और विंसेंट चित्र बनाता। सीन को वह प्रतिदिन एक फ्रांक दे दिया करता था। इसी बहाने सीन विंसेंट का घर भी ठीक-ठाक रखती।

एक दिन उदास होकर विंसेंट ने कहा, "सीन, अब मैं पहली तारीख को तुम्हें कुछ न दे सकूँगा। मेरे पास कुछ नहीं बचा।"

"कोई बात नहीं। मैं खाली समय में यहाँ आती हूँ।"

अगले सप्ताह विंसेंट को बुखार आ गया। दो दिन से उसे खाने को न मिला था। चौथे दिन सीन आयी। विंसेंट के मुँह पर झुर्रियाँ थीं और आँखें गढ़े में धँसी थीं। बीमारी का कारण वह समझ गयी। बाजार से सामान ला कर वह पकाने लगी। खाने की सुगंध से विंसेंट की नींद खुली। उसे लगा जैसे अपने घर में उसकी माँ कुछ पका रही हो। वह बड़ी कठिनाई से कह पाया, "सीन!"

"लो खा लो! सब तैयार है। कैसे आदमी हो! यों ही मरना चाहते हो तो ठीक से मरो।"

विंसेंट जीवन की असफलताओं से ऊब गया था! कहीं से एक पैसे की भी आमदनी नहीं। विवश होकर वह टर्सटीग के पास गया, पर टर्सटीग ने स्पष्ट रूप से अपनी राय दे दी, "तुम्हारी कला दो कौड़ी की है। तुम्हें तो थियो के टुकड़ों पर पलना है।"

"चित्र न सही। मुझे दस फ्रांक कर्ज ही दे दें। मुझे किराया देना है।"

घृणा से मुँह बना कर टर्सटीग ने दस फ्रांक का नोट उसकी ओर फेंक दिया। विसेंट चुपचाप अपमान से झुलसता बाहर आ गया।

इधर विसेंट देख रहा था कि मौ भी उसके प्रति बेरुखी का ही व्यवहार रखता है। यह सब क्यों हो रहा है? क्यों सभी उसका साथ छोड़ते जा रहे हैं? विसेंट की समझ में कुछ न आता।

मौ ने भी नाराज होकर उससे आने को मना कर दिया।

एक दिन जब वह सो कर उठा तो सीन आ चुकी थी। आज वह कुछ उदास थी। काफी बना कर वह जाने लगी तो विसेंट ने उसे रोक कर पूछा, "आखिर बात क्या है?"

"कुछ नहीं, पेट में भयानक दर्द है।"
"चलो डाक्टर को दिखा दूँ।"

विसेंट खुद उसे ले कर डाक्टर के पास गया। डाक्टर ने बताया "पेट का बच्चा अपने स्थान से हट गया है। आपरेशन होगा। पचास फ्रांक का खर्च है।"

विसेंट ने सोचा, बीफ फ्रांक तो उसे थियो से मिल जायेंगे और तीस चाचा कोर से। उसने डाक्टर से कहा, "हाँ, डाक्टर आपरेशन करो। मैं खर्च दूँगा।"

फाके की चिन्ता न कर के विसेंट ने पचास फ्रांक खर्च कर दिये।

क़रीब दो हफ्ते तक विसेंट बाहर न निकला। एक दिन पैसों की भारी कमी से विवश होकर वह सभी परिचितों—टर्सटीग, मौ, अन्य चित्रकार मित्रों के यहाँ गया लेकिन सभी ने जैसे कोई सलाह करके, उससे मिलने से इनकार कर दिया। विसेंट की समझ में कुछ न आया। आखिर ऐसा क्यों? क्यों सभी उसके पीछे पड़े हैं? एक चित्रकार मित्र के यहाँ जाने पर जब मित्र ने उसका स्वागत किया तो विसेंट चीख उठा, "मैं तीन दिन से भूखा हूँ!"

"तब तो अब जल्दी सफल चित्रकार हो जाओगे!"
"क्यों?"
"बिना भूख और पीड़ा के कभी सफलता नहीं मिली।"
"तो क्या तुम कुछ मदद नहीं करोगे?"

"नहीं, तुम्हें मदद देकर मैं तुम्हारी सफलता में बाधक नहीं बनना चाहता। अब तुम जा सकते हो !"

निराश विंसेंट लौटने लगा। किन्तु न जाने क्यों उसने फिर मित्र के पास जा कर पूछा, "आखिर तुम लोग मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों करते हो ?"

"क्या सुनना ही चाहते हो ?"
"हाँ, बताओ न, क्या बात है ?"

"तो सुनो ! हम लोग तुमसे बात भी नहीं करना चाहते। टर्सटीग, मौ और सभी चित्रकार तुम्हारा बहिष्कार करने वाले हैं।"

"लेकिन क्यों ?"

"तुमने सड़क की एक वेश्या को अपनी रखैल बना लिया है ! जानते हो, वह कितनी गन्दी और सस्ती है ? उसके साथ तुम रहते कैसे होगे ? तुम्हारी हीन भावना का यह प्रतीक है।"

"क्या कहते हो ? मैं उसे अपनी पत्नी बनाने वाला हूँ।"

"तब तो तुम्हें अवश्य ही सफलता मिलेगी।"—कह कर उसने इतना घृणित मुँह बनाया कि विंसेंट चुपचाप ही लौट आया।

उसका मन रो रहा था। सारी दुनिया क्यों उसके साथ इतना अन्याय कर रही है ? क्या वह मर जाये ?

घर पहुँचा तो देखा कि सीन उसका कमरा साफ कर रही थी। उसे देखते ही वह बुरी तरह उत्तेजित हो गया। लपक कर वह गया और सीन की बाँहें पकड़ कर बोला, "मैं कह आया हूँ कि तुम मेरी पत्नी हो। बोलो, मेरी पत्नी बनोगी न !"

"पत्नी ?"
"हाँ।"
"बच्चों का क्या होगा ?"

"छोटा बच्चा और यह नया वाला अपने साथ रहेगा। बाकी को अपनी माँ के पास छोड़ देना। बस, अब तुम मेरा घर सँभालो। मैं चित्र बनाऊँगा। मुझे दुनिया की चिन्ता नहीं है। पर देखो, सीन, तुम मुझे धोखा मत देना !"

उत्तर में सीन विंसेंट से चिपक गयी।

और ठीक समय से एक अस्पताल में सीन को बच्चा हुआ। विंसेंट ने संतोष की साँस ली, "बच्चा चाहे जिसका भी हो; पर है तो मेरी ही पत्नी का !"

जब सीन अस्पताल से लौटी तब तक थियो का पत्र आ चुका था, जिसमें उसने लिखा था कि उसकी तरक्की हो गयी है और अब वह विंसेंट को डेढ़ सौ फ्रांक प्रति मास भेज सकेगा।

विंसेंट ने सीन की गोद में बच्चे का एक चित्र बनाया और उसके नीचे लिख दिया—'ईसा और ईसा की माँ।'

इसी तरह दिन कटते गये।

धीरे-धीरे चारों ओर से विरोध कम होता गया। लोग सीन और विंसेंट की चर्चा भूल गये।

पर विंसेंट के भाग्य में शांति न बदी थी। कुछ दिनों के लिए सीन अपनी माँ के यहाँ गयी थी। एक दिन जब वह उससे मिलने गया तो देख कर दंग रह गया। सीन अपनी माँ, भाई तथा भाई के रखैल के साथ बैठी शराब और सिगार पी रही थी। विंसेंट को देखते ही वह चीख उठी, "क्यों आये हो यहाँ? तुम मेरे कौन हो? जब तुम मुझे ठीक से खिला और पहना भी नहीं सकते तो फिर मुझ पर अधिकार क्यों समझते हो? चले जाओ यहाँ से !"

और विंसेंट हतबुद्धि-सा चुपचाप वापस आ गया। उसके सीने व पेट में भयानक दर्द हो रहा था। आकर अपने कमरे में वह लेट गया।

दूसरे ही दिन अपना सामान बाँध कर वह स्थान छोड़ देने के इरादे से वह घर से निकला। तभी डाकिये ने उसे पिता का पत्र दिया। पिता ने उसे घर बुलाया था।

वह घर के लिये चल पड़ा। न जाने क्यों आज उसे माँ की याद रह-रह कर सता रही थी।

जब सारी दुनिया से ठोकर लगे तो माँ ही एक सहारा होती है।

□ □ □

विंसेंट सीधे घर गया। अपने बेटे की मानसिक बीमारी का अंदाजा माता

पिता को लग चुका था। उन्होंने अपनी ओर से सारा प्रेम व स्नेह बेटे को देना प्रारम्भ किया ताकि वह वहीं मन लगा कर रह जाये विंसेंट भी सारी दुनिया की ठोकर खा चुका था। अब घर पर ही जमने को वह अपने मन को तैयार करने लगा।

घर पर खाने-पीने की पूरी सुविधा थी। वह दिन भर खेतों में जाकर चित्र बनाता और अपने दिमाग से उर्सुला, 'के' तथा सीन की याद को भुलाने का प्रयत्न करता।

महीनों बीत गये।

इधर अजीब बात हो रही थी। जब वह चित्र बनाता और उठ कर कहीं चला जाता तो वापस आकर देखता कि किसी ने उसके चित्र पर गीले रंग लीप-पोत दिए हैं। इस प्रकार उसके कई चित्र नष्ट हो चुके थे। वह बड़ी सतर्कता से इस चोर को पकड़ना चाहता था पर उसे कोई सफलता न मिली।

एक दिन उसे लगा कि कोई चुपचाप उसके पीछे आ कर खड़ा है। अचानक वह घूमा तो एक औरत भागती नजर आयी। दौड़कर विंसेंट ने उसे पकड़ लिया। अरे, यह तो उसके पड़ोसी वेगनन परिवार की ही है। विंसेंट पड़ोसी से अधिक उसके बारे में न जानता था। पूछा, "कौन हो तुम?"

"मारगोट!"

विंसेंट ने गौर से देखा। लगभग तीस वर्ष की वही तरुणी जैसे किसी अभाव के कारण सूखती जा रही थी। विंसेंट ने पूछा, "तू हफ्तों से मेरा पीछा क्यों कर रही है?"

"मुझे तुम्हारे चित्र बहुत अच्छे लगते हैं—" कहते हुए वह विंसेट से लिपट गयी और उसने अपना मुँह उसकी दाढ़ी में गड़ा दिया। विंसेंट पर भी न जाने कैसा नशा छाने लगा। जब उसे होश आया तो वह बड़ा मग्न होकर मारगोट को चूम रहा था।

एक ही झटके में मारगोट ने अपने को छुड़ाया और कहती हुई भाग गयी, "कल आऊँगी। आज देर हो रही है।"

विंसेंट खड़ा जीवन का यह नया व अजीब-सा नाटक देखता रहा। हे भगवान अब क्या होने वाला है!

दूसरे दिन मारगोट खूब सजधज कर आयी। आते ही वह प्रश्न कर बैठी, "विसेंट बोलो न, क्या कल तुमने मेरे बारे में कोई गलत धारणा तो नहीं बना ली ?"

"नहीं तो।"

"कल प्रथम बार तुमने चूमा था मुझे, इसके पूर्व मुझे इसका स्वाद ही न मालूम था। लेकिन तुम्हारे लिये यह कोई बात न रही होगी !"

"हाँ, मैं इसके पहले तीन औरतों के प्रति प्रेम-प्रदर्शन कर के ठोकरें खा चुका हूँ।"

मारगोट पास आ कर उसके बालों में हाथ उलझा कर कहने लगी, "तो तुम मुझसे प्रेम करो। मैं नहीं ठुकराऊँगी।"

विंसेंट को लगा कि ईश्वर ने कम से कम एक प्राणी को तो प्रेम करने को बनाया ही है। लेकिन वह कुछ बोल न सका। तभी मारगोट ने फिर कहा, "तुम शायद मेरे बारे में कुछ नहीं जानते। मैं उनतालीस साल की हूँ और एक साल में चालीस की हो जाऊँगी। मेरा प्रण है कि चालीस के पूर्व अगर मेरा विवाह नहीं होगा तो मैं आतमहत्या कर लूँगी। अब, जबकि मैं मन-ही-मन निराश हो गयी थी, तुम आ गये। अब बस तुम ही हो मेरे जीवन के राजा। बोलो, तुम मुझसे प्यार करोगे न ! अगर तुमने भी गड़बड़ की तो समझ लो मेरी पाँचों कुँवारी बहिनें मुझे मार ही डालेंगी।"

विंसेंट घबरा रहा था, किन्तु यह मौका भी नहीं चूकना चाहता था। वह यह तो समझ रहा था कि मारगोट पूरी तरह उसके प्रेम में डूब चुकी है, लेकिन फिर भी उसकी हिम्मत नहीं पड़ रही थी।

विंसेंट ने मारगोट को अपनी पिछली जिन्दगी बता कर उसके मन में अपने प्रति घृणा उपजाने का प्रयास किया, पर इसका फल उलटा ही हुआ। मार-गोट उसके और निकट आ गयी और विंसेंट को उसके सम्मुख अपने को समर्पित करना ही पड़ा।

थोड़े ही दिनों में इन दोनों के संबंधों की चर्चा सारे गाँव में फैल गयी। यों तो लोग उसे पहले से ही सनकी व आधा पागल समझते थे, पर मारगोट के घर वालों ने तो आकाश ही सिर पर उठा लिया। दूसरे दिन जब मारगोट

आयी तो उसकी आँखें सूजी हुई थीं। उसने बताया कि पाँचों बहिनों ने मिल कर उसे रात भर पीटा है।

विंसेंट ने कहा, "आज रात तुम्हारे घर आकर तुम्हारे घर वालों से बातें करूँगा।"

रात को वह मारगोट के घर गया। वहाँ मारगोट की माँ व बहिनों ने अपमानित करके उसे निकाल दिया। मारगोट काफी चीखी-चिल्लायी, पर बेकार!

दूसरे दिन मारगोट खेत पर नहीं आयी। उस दिन विंसेंट का भी चित्रकारी में मन न लगा।

तीसरे दिन दोपहर के बाद विंसेंट ने उसे बहुत दूर से ही भाग कर आते देखा। आयी तो देखा कि वह दूध की तरह सफेद कपड़े पहने थी तथा और दिनों से अधिक प्रसन्न तथा सजी-धजी थी। आते ही वह विंसेंट से लिपट गयी। विंसेंट ने पूछा, "आज क्या बात है? बहुत खुश हो?"

"हाँ, तुम पास हो इसलिये खुश हूँ।"

दोनों शाम तक साथ-साथ रहे। बहुत प्रसन्न। जीवन जैसे सुख की खान हो। और जब शाम को विदाई के चुंबन के बाद विंसेंट ने उसे छोड़ा तो वह निर्जीव सी गिर पड़ी। पास ही एक छोटी-सी शीशी भी लुढ़कती नजर आयी। वह चीख पड़ा, "मारगोट, मारगोट! क्या हुआ?"

उसने शीशी उठा कर देखी। ज़हर! नब्ज़ देखी, ठंडी।

घबरा कर उसने उसे उठाया और उसके घर की ओर भागा। घर पहुँच कर पाँवों से धक्के मार कर दरवाजा खोला। मारगोट को सोफे पर डाल कर वह डाक्टर को लेने भागा।

डाक्टर आया। उसकी राय थी, अभी मरी नहीं है। अस्पताल पहुँचा देने से बच भी सकती है।

कंबल में लिपटी बेहोश मारगोट को जब गाड़ी पर लादा गया तो विंसेंट खामोश एक ओर खड़ा था। जब गाड़ी चली तो पाँचों बहिनों और माँ ने विंसेंट को खूब गालियाँ दीं।

सभी लोग उसे कोसने लगे, "यह तो सनकी है ही। यह तो सभी को

पहले से मालूम था।"

इस घटना के बाद ही उसके पिता की एक गड्ढे में गिरने से मृत्यु हो गयी।

अब भला विंसेंट की उस घर या गाँव में कहाँ जगह थी ! मारगोट की घटना से वह बहुत दुखी होकर पेरिस के लिये चल पड़ा।

□ □ □

विंसेंट का भाई थियो पेरिस में काफ़ी नाम पैदा कर चुका था। विंसेंट जा कर उसी के पास रहने लगा। यहीं उसकी भेंट लात्रे नामक चित्रकार से हुई।

लात्रे दोनों पाँवों का लँगड़ा था। लेकिन उसके चित्र बड़े कीमती समझे जाते थे। आधुनिकता का एक अजीब नया रंग उसके चित्रों पर होता।

यहीं उसकी गोगाँ नामक दूसरे प्रसिद्ध चित्रकार से भेंट हुई।

दोनों से ही विंसेंट की गहरी मित्रता हो गयी, पर लात्रे और गोगाँ दोनों में बड़ा अन्तर था—चित्र-शैली में, स्वभाव में और जीवन में भी !

लात्रे सीधा-सादा तथा गरीब था और गोगाँ था पैसे वाला, शराबी, ऐयाश !

यहीं विंसेंट को एक व्यक्ति और मिला जो उसे सभी चित्रकारों से बड़ा इंसान दिखायी दिया। समाज का सेवक, जीवंत तथा महान लेखक एमिला जोला। जोला से विंसेंट की बहुत पटी। जोला के उपन्यासों को पढ़ कर विंसेंट को लगा कि जिन्दगी के नये-नये दरवाजे उसके लिये खुलते जा रहे हैं।

एक दिन उसने थियो से कहा, "क्या तुम सिर्फ मेरा ही पालन-पोषण करने को नौकरी करते हो ?"

"तुमसे मतलब —" थियो ने बात टालनी चाही।

"नहीं, मैं बत्तीस का हो कर भी कुछ नहीं कमाता, यह शर्म की बात है। मैं चाहे मर जाऊँ पर अब तुम पर भार नहीं बना रह सकता। यह मैं आखिरी बार सोच कर कह रहा हूँ।"

"क्या सचमुच तुम पागल हो गये हो ?"

"हाँ, केवल तुम्हीं थे जो मुझे पागल नहीं समझते थे। अब तुम भी समझने लगे!"

विंसेंट जानता था कि पेरिस छोड़ने का मतलब है कि फिर पिछले दिनों की ही तरह संघर्ष, वही मैले-कुचैले कपड़ों में जीवन-पालन। पर अब वह यह सब करेगा। वह किसी पर भार बन कर नहीं रहेगा।

और रात को जब थियो घर आया तो दीवार पर उसे विसेंट के नये चित्र टँगे मिले और मेज पर एक पत्र था—

"प्यारे थियो !

मैं आर्ल्स जा रहा हूँ। नये चित्रों को दीवार पर इसलिये टाँग दिया है कि वे तुम्हें मेरी याद दिलाते रहें।

हृदय का प्यार !

तुम्हारा—विंसेंट"

□ □ □

राइन नदी के किनारे बसे आर्ल्स में एक मामूली-से होटल में कमरा ले कर विंसेंट ने नयी तरह से जीवन प्रारम्भ किया।

होटल में ही उसे एक लेखक मिला जो अपनी पुस्तक पूरी करने वहाँ आया था। उसने विंसेंट से कहा, "यह जगह पागलखाना है। यहाँ का हर रहने वाला पागल है।"

"मेरी पागलों से निभ जाती है। मैं खुद भी पागल हूँ न—" विंसेंट ने उत्तर दिया। और वह वहाँ के लोगों को और दिलचस्पी से देखने लगा।

वहाँ उसने सेब के बागों तथा नदी के किनारों के बहुत-सारे चित्र बनाये। वह समझता था कि वहाँ के बनाये चित्र उसके सर्वोत्तम चित्र होंगे। वह अपनी कला पर खुद ही मुग्ध था। अब तो दिन-रात वह चित्रों में ही बसा रहता। उसकी आत्मा चित्रमय हो गयी थी।

दो सप्ताह बाद एक दिन। वह एक कैफे में गया। वहाँ सभी युवतियाँ ही काम करती थीं। जब विंसेंट पर शराब का नशा छा गया तो उसने

एक युवती का हाथ पकड़ कर उसे अपने पास बिठा लिया ।

"क्या नाम है तेरा ?" उसने पूछा ।

"राचेल !"

"अभी बच्ची हो, और···"

"क्या कहा ? मैं सोलह की हूँ ।"

विसेंट ने देखा । वह सुन्दर और सुडौल थी । विसेंट को लगा कि यदि वह इस छोकरी को माडल बना कर उसका चित्र बना सके तो अवश्य ही अमर हो जायेगा । यही सोच कर उसने राचेल के लिये शराब मँगायी और दोनों की घनिष्ठता बढ़ने लगी । जब नशा खूब चढ़ गया तो विसेंट ने पूछा, "क्या तुम मुझसे प्यार कर सकोगी ?"

वह हँस पड़ी, "क्या किसी पागल से भी प्यार किया जाता है ?"

"क्या तुम मुझे पागल समझती हो ? क्या पहले से जानती हो मुझे ?"

"हाँ, मैं रोज ही तुम्हें कंधे पर चित्र का चौखटा लाद कर आते-जाते देखा करती हूँ ।"

"तब तो तुम और सब बातें भी जान गयी होगी ?"

"हाँ सब ! अच्छा चलो ऊपर, मेरे कमरे में चलो । पर एक बोतल शराब और ले लो । रात कैसे कटेगी ?"

शराब ले कर जब विसेंट ऊपर राचेल के कमरे में पहुँचा तो देखा कि कमरा गुड़ियों से भरा था । उनके बीच राचेल खुद एक गुड़िया ही दिखायी दे रही थी । उसके पास विसेंट का खूब मन लगा । और जब आधी शराब दोनों ने खत्म कर ली तो नशे में चूर राचेल विसेंट से खेलने लगी । अचानक उसके कानों को छूते हुए उसने कहा, "तुम्हारे कान बहुत अच्छे हैं ।"

"तो इन्हें ले लो !"

वह फिर हँस पड़ी । बोली, "पागल हो न ! भला कोई अपना कान दे सकता है ?"

"मैं दे दूँगा ।"

"तो दे देना, मैं इन्हें गुड़िया के बक्से में रखूँगी । हाँ, विसेंट, क्या तुम रोज आया करोगे ?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"मेरे पास इतना पैसा कहाँ है?"

राचेल इस पर कुछ न बोली, विंसेंट से और चिपट गयी और चुम्बनों से उसका मुंह भर दिया।

जब विंसेंट वहाँ से आया सो प्यास से उसका गला सूख रहा था और छाती यों हो रही थी जैसे रेगिस्तान।

दूसरे दिन उसे थियो के भेजे पचास फ़ांक मिले और साथ ही उसके मित्र गोगाँ का एक पत्र भी मिला। उसमें लिखा था—

"मैं बीमार हूँ। दूकान वालों ने मेरे सभी चित्र जब्त कर लिये हैं। मुझ पर बहुत कर्जा है। शायद जेल ही काटना पड़े अब। किसी तरह मेरी रक्षा करो।"

पढ़ कर विंसेंट का हृदय रो उठा। कला के लिये जीवन लगा देने वाले चित्रकारों की यह दशा? समाज क्यों चित्रकारों से इतनी निर्दयता बरतता है?

अब विंसेंट ने हर ओर से खर्चे कम कर के पैसे बचाने शुरू किये ताकि वह गोगाँ को अपने पास बुला ले। यहाँ तक कि एक दिन नागा कर के खाना खाता और दिन-रात काम करता,

एक दिन करीब तीन मील पैदल चल कर वह एक खेत के किनारे रुका। वहीं बैठ कर चित्र बनाने लगा। रंग में डुबो कर कूंची उठायी ही थी कि पीछे से किसी स्त्री का स्वर सुनायी पड़ा,

"इतनी क्या जल्दी है, विंसेंट?"

घूम कर देखा। देखता ही रह गया। एक स्त्री, स्वर्ग की परी-सी सुन्दर, सफेद कपड़े पहने खड़ी थी। एकाएक वह फिर बोल पड़ी, "विंसेंट, अब मैं तुम से और दूर नहीं रह सकती। बहुत हो चुका। अब···"

"पर तुम कौन हो? मैं तुम्हें नहीं जानता। तुम मेरा नाम कैसे जानती हो?"

"मेरा नाम माया है। मैं सारे योरप में तुम्हारा पीछा करती रही हूँ।"

"शायद तुम भूल रही हो।"

"संसार में दूसरा विसेंट वान गाग नहीं है। कैसे भूलूंगी?" कहते हुए वह और पास आ गयी।

"तुम मुझे कब से जानती हो?"

"आठ बरसों से।"

"आठ बरस पहले तो मैं..."

"हाँ, तुम बोइरनेज में थे। किसी चिट्ठी के पीछे तुमने पेंसिल से एक मजदूर का चित्र बनाया था, तभी से मैं तुम्हारे प्रेम में पड़ गयी थी।"

"प्रेम में?"

"हाँ, जैसा प्रेम मारगोट करती थी।"

"क्या मारगोट को जानती हो?"

"हाँ, मारगोट और 'के' को भी जानती हूँ।"

"उर्सुला को?"

"नहीं, वह मेरे पहले की बात है।"

"देखो मेरे दाँत हिल रहे हैं। बाल उड़ गये हैं। गाल पिचक गये हैं। मैं बड़ा बदसूरत हो गया हूँ।"

"यह सब तो तुमने जान-बूझ कर किया है, पर तुम्हारी आत्मा बहुत सुन्दर है। मैं उसी से प्रेम करती हूँ।"

अब विसेंट चीख उठा, "बकवास करती हो! सब झूठ है। तुमने कहीं से मेरा भूत जान लिया है। यह तुम पाखंड रच रही हो।"

"ऐसा मत कहो विसेंट! मैं तुम पर अपना जीवन दे रही हूँ।"

अब विसेंट को क्रोध हो आया। उसने पूरी शक्ति से उस औरत को ढकेल दिया। गिरने पर भी वह उठ कर पास आ गयी और बोली, "मैं अब तुमसे दूर नहीं जा सकती।"

"मुझे स्त्रियों से घृणा है। सभी ने मुझे दुतकारा है।"

"पर मैं शिकायत दूर कर दूंगी।"

"आखिर क्यों? यह सब क्यों?"

"क्योंकि मुझे दुनिया में कुछ करके दिखाना है।"

"क्या करोगी ? मेरे चित्र बेकार हैं। ये पसंद नहीं किये जाते।"

"एक दिन आयेगा जब दुनिया में इनकी प्रशंसा होगी। तुम्हारा एक-एक चित्र लाख-लाख फ्रांक का बिकेगा। ये चित्र अन्तर्राष्ट्रीय चित्रशालाओं में उच्च स्थान पायेंगे। तुम्हारी कला पर पुस्तकें लिखी जायेंगी। तुम्हारी जीवन-गाथा लिखी जायेगी।"

यह सब सुन कर विंसेंट के मन में भारी तूफान उठने लगा। माया और निकट आ गयी। विंसेंट का अंग-अंग काँपने लगा। वह माया से लिपट गया। फिर वह उस स्थिति में कब तक रहा, पता नहीं।

और जब विंसेंट ने आँखें खोलीं तो देखा कि वहाँ कोई न था। माया का कहीं पता न था। क्या यह सब सपना ही था ?

विंसेंट तड़प कर रह गया।

कुछ दिनों बाद गोगाँ उसके पास रहने आ गया।

विंसेंट की चित्रकला अब चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। वह दिन-रात काम करता। खाना न खाता पर तंबाकू व शराब पहले से बहुत बढ़ गयी थी।

लेकिन अब कभी-कभी गोगाँ उसके चित्रों की आलोचना करता और वाद-विवाद के बाद दोनों झगड़ा कर लेते।

गोगाँ ने विंसेंट का एक चित्र बनाया। बना कर विंसेंट को दिखाया तो विंसेंट बोला, "इसमें तो तुमने मुझे पागल बना दिया है।"

"यह तो मैं जैसा समझता हूँ बना दिया।"—गोगाँ ने कहा।

गुस्से में विंसेंट ने उस पर शराब का गिलास फेंक मारा।

दूसरे दिन गोगाँ ने कहा, "मैं अब वापस पेरिस जाऊँगा।" विंसेंट ने रो-रो कर उसे रोका।

एक दिन गोगाँ को लगा कि जब वह सोता होता है तो विंसेंट उसके कमरे में आ कर उसे घूरता है।

एक दिन विंसेंट ने खाना पकाया और गोगाँ ने खाया तो मालूम हुआ कि विंसेंट ने खाने में मसाले की जगह रंग मिला दिया है।

गोगाँ समझ गया कि विंसेंट पागलपन की ओर बढ़ता जा रहा है।

एक दिन कैफे में राचेल मिली। उसने विंसेंट को हँसी में टोका, "अभी तक तुमने मुझे कान नहीं दिये!" विंसेंट कुछ न बोला।

घर आ कर गोगाँ बत्ती बुझा कर सो गया। अचानक वह चौंक कर उठ बैठा। देखा अँधेरे में विंसेंट हाथ में दाढ़ी बनाने का उस्तरा लिये खड़ा है। लेकिन गोगाँ के उठते ही वह वापस चला गया।

घबरा कर, अपना सामान समेट गोगाँ एक होटल में भाग गया। विंसेंट जा कर आईने के सामने बैठ गया। वह अपनी आकृति देखने लगा। ओफ़, वह कितना बदल गया है! उसे जाने क्यों लगा जैसे उसके अंतिम दिन आ गये।

उसने उस्तरा उठाया और एक ही झटके में अपना दाहिना कान काट डाला। कान नीचे जा गिरा और खून की धारा बह निकली। एक भींगा तौलिया उसने सिर पर लपेटा ताकि खून बंद हो सके। कटे कान को पानी से धो कर सफेद कागज में लपेटा और बाहर आया।

सीधा राचेल के होटल में पहुँचा। उसे देखते ही रचेल ने पूछा, "इस बेवक्त कैसे आये?"

"मैं तुम्हारे लिए उपहार लाया हूँ। लोगी न?"
"हाँ, जरूर।"
और कागज का पुलिंदा उसने उसे पकड़ा दिया।

ज्यों ही राचेल ने उसे खोला और कटा कान देखा तो वह बेहोश होकर गिर पड़ी।

विंसेंट अपने घर वापस चला आया।

सबेरे लोगों ने देखा। कटे कान को हाथों से दाबे, दर्द से बेहाल विंसेंट खून के धब्बों से भरे कमरे में लेटा था। गोगाँ ने देखा तो घबरा गया। उसने पुलिस व डाक्टर को एक साथ बुला भेजा। पुलिस अफ़सर से उसने कहा, "यह कुछ सनकी है। इसका यत्नपूर्वक इलाज करा दें। यदि यह मुझे पूछे तो कह दीजिएगा कि मैं पेरिस चला गया हूँ।"

अस्पताल में दूसरे दिन जब विसेंट को होश आया तो थियो पास ही बैठा था।

धीरे-धीरे विसेंट का स्वास्थ्य सुधरने लगा। दो दिन बाद थियो चला गया। एक सप्ताह बाद जब वह कुछ अच्छा हो गया तो डाक्टर ने पूछा, "तुमने अपना कान क्यों काटा ?"

"मुझे कुछ याद नहीं डाक्टर, हाँ तुम्हारी दाढ़ी बढ़ी हुई है, लाओ मैं बना दूँ।"—कहते हुए विसेंट ने उस्तरा उठा लिया। डाक्टर डर कर चीख पड़ा। लोगों ने सँभाला।

हफ्तों बाद वह अस्पताल से छूटा।

पुन: उसका काम चालू हो गया। वह चित्र बनाने लगा, दिन बीतते गये। पर खाना अब वह कम ही खाता। शराब व तंबाकू ज्यादा हो गयी थी।

एक दिन वह एक होटल में खाना खाने गया।। ज्योंही बैरा खाना रख कर लौटा कि विसेंट ने मेज उलट दी। चिल्ला उठा, "मैंने अपनी आँखों से देखा है। इसने खाने में जहर मिलाया है।"

आर्ल्स-वासियों का विश्वास था कि चित्रकार पागल होते हैं। अत: कान व भोजन की घटनाओं ने विसेंट को भी पागल सिद्ध कर दिया। लोग उस पर आवाजें कसते, बच्चे मुँह बना कर चिढ़ाते, स्त्रियाँ देख कर छिप जातीं, होटल वाले उसे घुसने न देते। टोलियाँ बना कर बच्चे उसके पीछे भागते और बोलते, "अरे पगले ! दूसरा कान काट कर हमें दे दो।"

"ले पगले, यह मिठाई, इसमें जहर है !"
"पगला है ! कनकटा है !"

विसेंटा का जीना दूभर हो गया। घर से निकल न पाता। बच्चे परेशान करते। कभी-कभी वे विसेंट के घर तक जाकर चीखते, ढेले फेंकते। घबरा कर विसेंट चिल्लाता, गाली देता, जो चीज मिलती फेंक कर मारता।

बच्चे ही नहीं, शहर का हर व्यक्ति उसे पागल समझता।

शहर के लोगों ने मेयर को पत्र लिखा कि इस पागल को यों खुला छोड़े रहने से हर समय खतरा बढ़ता जा रहा है।

विसेंट के घर का दरवाजा तोड़ कर जब पुलिस भीतर घुसी तो वह

फ़र्श पर औंधा पड़ा था।

पुलिस उसे पकड़ ले गयी।

मकान-मालिक ने किराये के बदले उसका सारा सामान, सारे चित्र जब्त कर लिये।

एक सुबह जब उसकी नींद खुली तो वह एक पागलखाने की कोठरी में था—चौकीदारों व नर्सों से घिरा हुआ।

पागलखाने में विंसेंट की स्थिति और भी खराब थी। लड़के से लेकर बूढ़े तक वहाँ बंद थे। सभी पागलपन में एक-से-एक बढ़ कर। लेकिन कभी-कभी विंसेंट अकेला कोठरी में छिप कर चित्र बनाया करता था।

अब अक्सर वह बेहोश हो जाया करता था। डाक्टरों ने समझा, यह चित्रकारी के कारण है। उन्होंने उसका चित्र बनाना रुकवा दिया। विंसेंट चिल्लाया, "चित्र बनाने दो, तभी मैं अच्छा हो सकूँगा।"

इसे भी लोगों ने पागल की आवाज समझी।

एक सुबह विंसेंट कोयले की कोठरी में गिरा मिला।

दुसरी सुबह वह गिरजा की सीढ़ियों पर पड़ा था, लहूलुहान!

उसे फिर कोठरी में बन्द कर दिया गया।

एक दिन थियो का पत्र आया—'तुम्हारा लाल बैलों वाला चित्र चार सौ फ्रांक में बिक गया।'

तो अब चित्र बिकने लगे!

एक हफ्ते बाद दूसरा खत मिला—"दूसरा चित्र भी छ सौ फ्रांक में बिक गया।"

क्या दुनिया ने विंसेंट की कला को पहचान लिया?

विंसेंट ने थियो को पत्र लिखा, "क्या मैं जंगली जानवर हूँ जो इस तरह बाँधा गया हूँ? मुझे छुड़ाओ या आकर मेरी जगह रह कर देखो, तुम भी पागल हो जाओगे।"

एक सप्ताह में ही थियो आया और विंसेंट को अपने साथ लिवा गया।

पेरिस पहुँचते ही जो पहली खबर उसे मिली वह यह थी कि जोला को जेल हो गयी है और लात्रे भी पागल हो गया है।

थियों ने पेरिस में विंसेंट के चित्रों की प्रदर्शनी की। आर्ल्स में बनाये गये विंसेंट के चित्रों को सारी पेरिस में अभूतपूर्व प्रसिद्धि मिली। पर यह सब समझने-बूझने की विंसेंट में शक्ति न थी।

धीरे-धीरे विंसेंट अच्छा होने लगा। अब कभी-कभी वह टहलने भी जाता, कभी-कभी होटलों में भी जाता।

थोड़ा और स्वस्थ होने पर विंसेंट फिर चित्र बनाने में लग गया। लेकिन रह-रह कर उसकी स्मृति कुछ देर के लिए खो जाती थी। वह इस बात से बड़ा चिंतित रहता—उसका जीवन क्या हो गया है? क्या वह जीवन भर दुनिया के लिए भार ही बना रहेगा?

एक दिन अचानक जब विंसेंट सोकर उठा तो सूरज की तरफ मुँह किये खड़ा था, एकाएक उसके मुँह से निकला, "आज बिदाई का दिन है।"

और दूसरे ही क्षण पिस्तौल ला कर छाती से नली लगा कर गोली चला दी।

वह गिर पड़ा। सँभल कर उठा। लोग दौड़े। डाक्टर आया। उसे ताज्जुब था कि अभी तक वह जिंदा कैसे है?

खबर पाकर भागा हुआ थियो आया।

थियो की गोद में मुँह छिपा कर विंसेंट रो पड़ा। बोला, "तुम्हें देखने को ही मेरे प्राण अटके थे।"

थियो रात भर विंसेंट के सिरहाने मूर्ति-सा बैठा रहा।

रात के घने अंधकार में जब चारो ओर शांति थी, तब विंसेंट का शरीर हिला उसने धीरे से कहा, "थियो, अब मैं जीना नहीं चाहता।"

और चंद मिनट बाद ही विंसेंट की आँखें मुँद गयीं।

थियो जान गया कि उसका महान कलाकार, प्यारा भाई उसे छोड़ कर चला गया।

□ □ □

दूसरे दिन सारे कैफे बन्द रहे।

विंसेंट की लाश को ताबूत में बन्द किया गया। उसके चित्रों को दीवार पर टाँगा गया।

शव-यात्रा में बहुत कम लोग थे—चित्रकार, कलाकार और आलोचक। गोगाँ, लात्रे तथा एमिल जोला भी उनमें थे।

कब्र के पास सूरजमुखी के बीज बो दिये गये।

□ □ □

विंसेंट मर गया। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद ही लोगों ने उसकी कला को महान मान लिया।

आज विंसेट के चित्रों की कीमत लाख-लाख फ्रांक है। उसके चित्र लंदन, पेरिस, बर्लिन, एम्सटरडम, मास्को तथा न्यूयार्क के रष्ट्रीय संग्रहालयों में अमूल्य निधि के रूप में सुरक्षित रखे गये हैं।

आज विंसेंट के जीवन पर खोज हो रही है। उस पर पुस्तकें लिखी जा रही हैं। उसके चित्र ही नहीं,पत्रों तक को सँजोया जा रहा है।
काश ! यह सब विंसेंट अपने जीवन में ही देख पाता !

[सन् १९६२]

सीज़र नीरो*

तीन साल लगातार युद्ध करने के बाद इंग्लैंड पर विजय पा कर रोमन सेना लौटी।

विजयी सेनापति मारकस अपने साथी सेनापति फ़ेबियस से बड़े उल्लास से बोल उठा, "देखो, अपना रोम दिखाई पड़ रहा है। तीन साल बहुत लम्बा समय है।"

तभी एक युवक सैनिक ने आगे बढ़ कर मारकस के हाथों में एक फरमान—सम्राट सीज़र नीरो का एक फरमान पकड़ा दिया। मारकस एक साँस में ही उसे पढ़ गया और क्रुद्ध होकर उसे फ़ेबियस की ओर बढ़ाते हुए बड़बड़ाया, "तीन साल लगातार खून बहाने का यह पुरस्कार मिला है! नीरो ने एक सप्ताह तक फौज को रोम के बाहर ही ठहरने को कहा है। मैं जाकर पूछता हूँ कि ऐसा क्यों?"

□ □ □

रोम सम्राट का महल! जगह-जगह योद्धाओं की काँसे व संगमरमर की

* हेनरिक सिंकीविज के उपन्यास 'को वेडिस' का संक्षिप्त रूप।

मूर्तियाँ सिर उठाये खड़ी थीं। वह बढ़ता चला गया। सम्राट के कक्ष की ओर। सीधा। द्वार पर खड़े दो अंगरक्षकों ने रास्ता छोड़ दिया। तेजी से, आवेश में मारकस ने दरवाजे पर लटका बड़ा लाल परदा हटाया। सामने ही नीरो स्नान कर रहा था। चार सुन्दर कामिनियाँ उसे नहला रही थीं। मदिरा-पात्र लिए एक अन्य सुन्दरी एक ओर खड़ी थी।

तीस साल के नवजवान सीजर नीरो का ललाट चमकदार और प्रशस्त था। वह गर्वीला, सनकी व भयंकर प्रकृति का था। पास ही मारकस का मौसा पेट्रोनियस, जो नीरो का प्रमुख दरबारी था, खड़ा था। मारकस को देखते ही उसने राजा से कहा, "मारकस अपनी फौजों के साथ ब्रिटेन-विजय करके लौट आया है। परन्तु आप की आज्ञा से फौज को रोम के बाहर ही रोक दिया गया है।"

नीरो अपनी सनक में था। अपनी पूर्व आज्ञा के बारे में वह भूल चुका था। उसने तत्काल कहा, "मारकस व सैनिकों का सामूहिक स्वागत हो।"

पेट्रोनियस ने मारकस को इशारा किया और उसके साथ चुपचाप बाहर आ गया। फिर धीरे से पूछा, "मारकस, हाथ-पाँव सलामत तो हैं?"

"यहाँ का क्या हाल है?" मारकस ने तीन सालों में हुई घटनाओं को जानना चाहा।

"तुमने सुना तो होगा ही। नीरो ने अपनी पत्नी अग्रियिना और माता आक्टेविया को कत्ल करा दिया है, केवल इसलिये कि वे दोनों राज्य में सुव्य-वस्था चाहती थीं। अब इसने पिपईया नाम की एक छिछोरी व लंपट स्त्री से शादी कर ली है। इसे ले कर दरबारियों में मतभेद हो गया है। कुछ तो नीरो की जगह गाल्बा को सीजर बनाना चाहते हैं।"

"चाहे जो सीजर हो, पर जब तक सैनिकों के वेतन के लिये राजकोष में धन है, रोम अमर है।"

□ □ □

दूसरा दिन। अवकाश प्राप्त वृद्ध सेनापति प्लाटियस के बाग में घूमते-घूमते मारकस की नजरें अचानक फूलों के बीच बैठी कुमारी लीजिया से जा टकरायीं। सैनिक वेष के भीतर सोया मारकस का कलाकार जाग उठा। वह

शायद इसी सुन्दरी के लिये जी रहा था। रेशम की यह काया कहाँ छिपी थी आज तक !

लीजिया भी मारकस को देखती ही रह गयी। मुग्ध—प्रेम-विभोर !

"तुम्हारा नाम ?" मारकस ने पूछा।

"लीजिया !"

"क्या तुम यहाँ नौकरानी हो ?"

"इस घर में कोई नौकर नहीं। मुझे वृद्ध सेनापति की बेटी होने का सौभाग्य प्राप्त है।"

हतप्रभ मारकस के मुँह से केवल इतना निकला, "लगातार तीन वर्ष युद्ध करते-करते मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है।"

खाने की मेज पर मारकस व लीजिया की आँखें फिर टकरायीं। फिर दोनों के दिलों में ज्वार उठे। लीजिया पर प्रभाव डालने के लिए मारकस अपनी वीरता की कहानियाँ सुनाने लगा। वृद्ध सेनापति की पत्नी पंपानिया समझ गयी और उसने तत्काल ही दोनों का परिचय कराया। बोली, "इसका नाम कलीना था, लेकिन हमने लीजिया ही कहना शुरू कर दिया, क्योंकि यह लीजिया प्रदेश की है। यह मेरी गोद ली हुई लड़की है। इसकी एक दर्द-भरी कहानी है। इसका पिता लीजिया का बादशाह था। लीजिया-विजय के समय यह बन्धक के रूप में मुझे मिली थी।"

लीजिया के बारे में मारकस और भी चर्चा चलाना चाहता था, पर तभी खबर आयी कि प्लाटियस से मिलने टार्सस के पॉल आये हैं। पॉल एक यहूदी धर्माधिकारी थे। प्लाटियस तत्काल बाहर चला गया। दूसरे कमरे में धीरे से प्लाटियस ने पॉल से पूछा, "क्या पीटर का पता चला ?"

"ठीक पता नहीं लगा। वो जेरुसलम, फारस और पूर्व की ओर निकल गये हैं। लेकिन अब किसी भी दिन यहीं आ जायेंगे।"

"यहाँ, रोम में ? पीटर यहाँ आयेंगे ?" प्लाटियस प्रसन्न हो गया।

"लगता है पीटर का शुरू किया काम अब फल देगा। मुझे हर जगह लोग मिले जिन्होंने धरती पर मछली की शक्ल बनायी और हमने काम की चर्चा की।"

"काम बहुत भयानक है। ईसाइयों पर सन्देह किया जा रहा है। लेकिन अब तो जो भी होगा, देखा जायगा।" प्लाटियस ने बात समाप्त की।

□ □ □

उसी रात बाग के तालाब पर। चाँदनी में नहाती-सी लीजिया मारकस के बारे में सोच रही थी। पॉल के आने की सूचना से भी वह उद्विग्न थी। अनजाने ही जमीन पर मछली की शक्ल बना रही थी। और इतनी तन्मय थी कि उसके कंधे का वस्त्र नीचे खिसक आया है—इसकी भी उसे खबर न थी। तभी उसे मारकस के पाँवों की चाप सुनाई पड़ी। क्षण भर बाद ही मारकस सामने था। उसने पूछा, "तुम किसकी प्रतीक्षा में हो? मुझे तो तुम्हारी कल्पना ने सोने नहीं दिया।"

मारकस की ओर देख कर कुछ लजाती-सी लीजिया ने कहा, "हाँ, किसी की प्रतीक्षा ही थी।"

"क्या वह पूरी हुई?"

"हाँ।"

लीजिया लजा गयी। मारकस ने आगे कहा, "कल हमारा विजय-उत्सव देखने तो आओगी न?"

"नहीं! मैं वहाँ नहीं आऊँगी। अब मैं चली।"

मारकस ने रास्ता रोका, "क्या तुम्हें मैं और मेरी विजय पसंद नहीं?"

"मुझे रक्तपात से मिली विजय पसंद नहीं।"

"रक्तपात! नहीं, यह तो संसार की सांस्कृतिक एकता के लिये···"

"पर एकता के लिये रक्त क्यों बहाते हो? बंदियों से रथ क्यों खिंचवाते हो? पॉल ने तो ऐसे समाज की कल्पना की है जहाँ कोई दास न हो।"

"वह बूढ़ा दार्शनिक! उसके दिमाग में तो कूड़ा भरा है।"—कहते हुए मारकस ने लीजिया को अपनी बाँहों में समेट लिया।

लीजिया ने चेहरे पर तिरस्कार लाते हुए कहा, "किसी नारी का हृदय जीतने का क्या यही तरीका है? ऐसे व्यवहार से आदमी प्रेम को घृणा में बदल देता है।"

मारकस को कुछ बुरा-सा लगा। उसने रोष में कहा, "क्यों भूलती हो कि तुम रोम में बंधक हो।"

एक झटके के साथ लीजिया ने अपने को छुड़ाया और चली गयी। मारकस उसकी ओर लपका, तभी अँधेरे से निकल कर यूरुसस ने मारकस का रास्ता रोक लिया और बोला, "सेनापति! बस, आगे मत बढ़ना।"

"दूर हटो! तुम कौन हो?"

"मैं एक चट्टान हूँ। उसका संरक्षक। पहले इसके पिता बादशाह का संरक्षक था, अब इसका हूँ।"

वापस लौटते हुए ताने के स्वर में मारकस ने कहा, "बूढ़े खूँसट! तो अच्छी तरह रक्षा करना!"

और लीजिया जा कर प्लाटियस के कमरे में ईसा की मूर्ति के सामने प्रार्थना करने लगी, "ईश्वर, मेरे क्रोध व ईर्ष्या को क्षमा करो! मुझे जाने क्या हो गया है!"

□ □ □

युद्ध से लौटी विजयी सेनाओं के स्वागत में विजय-उत्सव! सारा रोम जैसे उल्लास से लहरा रहा था। राजमहल के सामने की बलिवेदी पर देवताओं को बलि दी जायगी। तरह-तरह के जानवरों को नहला-धुला कर, माला पहना कर वहाँ खड़ा किया गया था। बलि चढ़ाने वाला भी तैयार था। सामने रोम-निवासियों का समुद्र। नरमुंड-ही-नरमुंड! सीजर नीरो की जयजयकार के नारे। नुकीली टोपी पहने एक ओर पादरियों का झुँड। अर्द्धनग्न स्त्रियों का दल नाच रहा था। अभी तक महल के छज्जे पर नीरो नहीं आया था। उसकी प्रतीक्षा थी।

एक दरबारी ने जा कर नीरो को बताया कि जनता उसके दर्शनों को बेचैन है। सुनते ही खीझ कर नीरो ने कहा, "मैं: उनके मन-बहलाव के लिये क्यों चलूँ?"

बड़ी खुशामद के बाद नीरो तैयार हुआ। सम्राज्ञी पिपईया के साथ वह छज्जे पर आया। उसे देखते ही जनता चिल्ला उठी, "नीरो! नीरो!!"

दूर बारजे पर खड़ी एक ठिगनी-सी औरत ने घृणा से कहा, "नीरो, हत्यारा ! स्त्री व माँ का हत्यारा ! जानवर !"

पास खड़े उसके पति ने डाँटा, "चुप रह, बेवकूफ ! तू हमें भी कत्ल करायेगी !"

वहीं धूल से लथपथ एक वृद्ध व्यक्ति खड़ा था। सफेद लम्बी दाढ़ी, नुकीला नाक-नक्शा। वह उस स्त्री के पास खिसक आया। पवित्र मूर्ति-सा दिखने वाला वह व्यक्ति ईश्वर का दूत था—संत पीटर !

संत ने स्त्री को समझाते हुए कहा, "कोई भी मनुष्य पशु नहीं होता।"

उसी समय फूलों से सजे एक रथ पर मारकस निकला। सारी जनता उसे निहार रही थी और मारकस की आँखें लीजिया को खोज रही थीं। क्या सचमुच लीजिया नहीं आयी ? तब तक रथ नीरो के सामने आ गया था। उसने नीरो को सलामी दी।

वह देख न सका कि एक सुन्दरी कनटोप से सिर, मुँह ढाँके, भीड़ में धक्के खाती उसे एकटक निहार रही है। यह लीजिया थी।

तभी पिपईया ने किसी से पूछा, "यह तो मारकस है न ? बहुत ही सुन्दर नौजवान है !"

उसी रात मारकस ने बहुत खिन्न मन से पेट्रोनियस से पूछा, "जो बंधक रखे जाते हैं क्या उनकी बिक्री नहीं होती ? कानून क्या कहता है ?"

"अरे छोडो, तुम्हें मिस्र का राज्य देने वाला है नीरो।"

"पहले बताओ, बंधक के क्या नियम हैं ?"

"किसे खरीदना चाहते हो ?"

"प्लाटियस के यहाँ एक छोकरी बंधक है, लीजिया !"

"हाँ-हाँ देखा है। जब आयी थी, तब बच्ची थी।"

"पर अब तो उसके धधकते यौवन की चमक मुझसे सही नहीं जाती।"

"पर बंधक तो राज्य की सम्पत्ति है। तुम्हें मिस्र मिल रहा है।"

"मुझे मिस्र नहीं चाहिये, लीजिया चाहिये।"

"अच्छा बताऊँगा।"—पेट्रोनियस गम्भीर हो गया।

□ □ □

दूसरे दिन ! लीजिया जबरदस्ती राजभवन में बुला ली गयी। विवश हो,

रो-धो कर उसे आना ही पड़ा। वह बंधक थी, राज्य-दासी थी। परन्तु चलते समय पंपानिया ने नीरो की परित्यक्ता स्त्री ऐक्टे के नाम एक गुप्त पत्र उसे दे दिया था।

महल में पहुँचते ही लीजिया को सब से पहले ऐक्टे ही मिली। उसने उसे देखते ही पूछा, "मैं यहाँ क्यों लायी गयी हूँ?"

लीजिया बहुत क्रोधित थी, पर ऐक्टे की सुन्दरता ने उसे बहुत कुछ शांत कर दिया था। उसने बहुत प्रेम से कहा, "सम्राट ने बुलवाया है।"

"पर सम्राट ने तो कभी मुझे देखा भी नहीं।"

"हो सकता है। दस साल पहले जब मैं यहाँ लायी गयी थी तब मुझे भी सम्राट ने पहले से नहीं देखा था। लेकिन मैं समझती हूँ कि तुम्हें बुलाये जाने का कारण कुछ और है, क्योंकि सम्राट पर तो पिपईया का अधिकार है। वहाँ दूसरी औरत नहीं जा सकती। खैर, तुम नहा-धो लो, तुम्हारे लिये कपड़े तैयार हैं।"

फारस के कपड़ों में सजी लीजिया को जब सम्राट के भोजन-गृह की ओर ले जाया गया, तो वह अकेली थी। केवल दासियाँ साथ थीं।

एक बड़े कमरे में पलंग पर, जो सम्राट नीरो की कुर्सी के सामने था, उसे बैठाया गया। कमरे में उसके पहुँचते ही मारकस व पेट्रोनियस आ गये। मारकस को देखते ही लीजिया की आँखें क्रोध से जलने लगीं। उसका अंग-अंग फड़कने लगा।

एक-एक कर दरबारी व दास-दासी उस कमरे में आ कर बैठने लगे, शेरों के बीच हिरनी-सी लीजिया डरी-डरी यह सब देखती रही।

मारकस उसके पास आ कर खड़ा हो गया और मुस्कराने लगा। लीजिया ने तड़प कर कहा, "मुझे घर भेज दो।"

मारकस के उत्तर देने से पूर्व ही दरवाजे पर हड़बड़ मची और पिपईया के साथ नीरो भीतर आया। हर्ष-ध्वनि के बीच वह अपनी कुर्सी पर बैठा। बगल की पलंग पर पिपईया बैठी।

नीरो ने पूछा, "क्या यही वह दासी है?"

"हाँ, देवता! यही है वह। आप महान हैं, उदार हैं।"—मारकस ने उत्तर दिया।

"तुम्हारी पसंद की दाद देता हूँ।"—नीरो बोला। फिर उठते हुए कहा, "जरा पास से देखूँगा।"

पास आ कर लीजिया को सम्बोधित कर नीरो ने कहा, "दासी ! युद्ध में बहादुरी और स्वामिभक्ति की भेंट-स्वरूप मैं आज से तुझे मारकस को सौंपता हूँ। तू ही उसके लिये उचित इनाम है। आज से प्लाटियस तेरा संरक्षक नहीं है।"

नीरो चला गया और उसके पीछे-पीछे लीजिया को ईर्ष्या से घूरती पिपईया भी चली गयी।

एक-एक कर सभी चले गये, एकांत पा कर मारकस ने कहा, "लीजिया, अब अपने हृदय में मेरे प्रति प्रेम उपजाओ। अब जीवन में आनन्द का क्षण आ गया।"

दुखित स्वर में लीजिया ने कहा, "मेरे शरीर पर तुम्हारा पूरा हक है। पर मैं तुम्हें प्यार नहीं दे सकती।"

"प्रेम न करने पर मैं तुम्हें कोड़े लगवा सकता हूँ।"

"जो चाहो करो। मैं केवल तुम्हारे लिये भगवान से प्रार्थना करती रहूँगी।"

मारकस ने आवेश में बढ़ कर उसके कंधे पकड़ लिये। वह शायद उन्हें दबोचने ही जा रहा था कि एक दास ने आ कर कहा, "सेनापति, सम्राज्ञी तत्काल आप को बुलाती हैं।"

एक अन्य दास को बुला कर मारकस ने लीजिया को पेट्रोनियस के घर ले जाने को कहा और आप चुपचाप सम्राज्ञी के कक्ष की ओर चल पड़ा।

कमरे में पिपईया अकेली थी। उसने मारकस को बगल में बैठने का इशारा किया। मारकस बैठ गया। पिपईया के हाथ में शराब का गिलास था। उसे खाली करके उसने कहा, "मारकस, शायद अभी तुम लीजिया पर अधिकार नहीं कर सके !"

"हाँ, सम्राज्ञी ! नयी घोड़ी जल्दी काबू में नहीं आती।"—मारकस ने अदब से कहा।

पिपईया ने पास खड़े दास से दो गिलास शराब लाने को कहा। एक अपने लिये और एक मारकस के लिये।

मारकस को विवश हो कर गिलास लेना पड़ा। पिपईया ने बड़े नाटकीय ढंग से कहा, "मैं तो औरत और मर्द की लड़ाई में सिर्फ समय की बरबादी ही देखती हूँ। न जाने शक्ति का कितना अपव्यय होता है इसमें !"

मारकस सम्राज्ञी का मतलब समझ गया, वह चौकन्ना हुआ। सम्राज्ञी कह रही थी, "तुम्हारे लिये मैं सम्राज्ञी नहीं हूँ, मारकस ! मेरे दिल को पहचानो। तुम सर्प हो, तुम्हारे मुँह में विष है और मुझे उस विष का स्वाद बहुत अच्छा लगता है।"

मारकस विवश था। हर तरह से उसे सम्राज्ञी की आज्ञा का पालन करना ही था।

ऐक्टे ने जब लीजिया को जाते हुए देखा, तो रोक लिया और एकांत पाने के लिये दास को डोली देखने के लिये भेज दिया। अपनी दासी से लीजिया के लिये एक लबादा मँगाया और जब वह लबादा लीजिया को ओढ़ाने लगी तो जान-बूझ कर पास रखे अपने शृंगार मेज पर से पाउडर का डिब्बा उलट दिया। पाउडर समेटने के बहाने वह नीचे झुकी और उसने फर्श पर फैले पाउडर के बीच मछली का चित्र बनाया। लीजिया ने मछली की आकृति देखी, चौंक पड़ी। तत्काल ही ऐक्टे ने वह मछली बिगाड़ दी और उठ कर लीजिया के कंधों पर लबादा ठीक करने लगी। मौका पा कर धीरे से उसने उसके कान में कहा, "हिम्मत से काम लेना।"

लीजिया यह सब देख-सुन कर चकित थी। ऐक्टे द्वारा बनाये गये मछली के संकेत से उसे बहुत कुछ ज्ञात हो गया था, उसे कुछ ढाढ़स बँधा। जब वह पालकी पर बैठ कर चली, तो उसका मन बहुत हल्का था, ऐक्टे खिड़की से रुमाल हिला रही थी और इमारतों के साये में छिपा यूरुसस पालकी के पीछे-पीछे चल रहा था। पर पालकी कहाँ जा रही थी, यह किसी को ज्ञात न था—न लीजिया को, न यूरुसस को !

□ □ □

क्रोध में भरा हुआ मारकस प्लाटियस के यहाँ गया। जाते ही उसने पूछा, "लीजिया कहाँ है ?"

"मुझे नहीं मालूम।"—प्लाटियस ने उत्तर दिया।

तभी पंपानिया ने आ कर कहा, "बेटा मारकस! हम लोग तुझे सदा ही बेटे की तरह प्यार करते रहे हैं। तू हमारा विश्वास क्यों नहीं करता?"

पंपानिया को सामने देख कर मारकस शांत हो गया। वह समझ गया कि लीजिया यहाँ नहीं है। घूमा और सीधा पेट्रोनियस के यहाँ गया।

मारकस को खाली हाथ वापस आया देख कर वह सब समझ गया। मारकस ने बताया, "वे लोग उसके विषय में कुछ नहीं जानते।"

पेट्रोनियस ने मुस्करा कर कहा, "यह बकवास है। वे झूठ बोलते हैं। पर तुम्हारा इस तरह एक मामूली औरत के पीछे भागना उचित नहीं। अब वह तुम्हारे हाथ नहीं आ सकती। अब उसका खयाल छोड़ कर तुम मेरे साथ कल एंटियस चलो। वहाँ तुम्हारे लिये मनोरंजन के बहुत साधन हैं।"

"लेकिन सम्राट की भेंट को प्राप्त करना मेरा धर्म है।"

"तुम लोग प्लाटियस को नहीं जानते। उसका मित्र, वह दार्शनिक, पॉल टार्सस बहुत चालबाज है। उस पर दो बार सम्राट ने अभियोग लगाया है।"

"कैसा अभियोग?"

"वह ईसाई है न। अब तुम्हें इस अंडे की तलाश में ईसाइयों का घोंसला टटोलना पड़ेगा।"

"ईसाई! क्या वह भी उस मरे हुए बढ़ई को ही अपना ईश्वर मानता है?"

"हाँ, उसे ही! उसी राजद्रोही यहूदी को, जिसे ईसामसीह कहते हैं। सुना है पैलेस्टाईन में उसे सूली पर चढ़ा दिया गया है।"

"तो अब मैं फौजी ढंग से लीजिया की खोज शुरू करूँगा।"

"समझ से काम लेना। ये ईसाई बहुत चालाक होते हैं। अगर तुमने खुलेआम सैनिक कार्रवाई की तो तुम्हारी लीजिया ऐसी गायब कर दी जायगी कि लाख सिर पटकने पर भी तुम उसका पता न लगा सकोगे।"

"तो आखिर मैं करूँ क्या?"

"हाँ, एक ग्रीक को मैं जानता हूँ। वह ज्योतिषी है। पर है लालची।

थोड़ा धन तुम उसे दोगे तो वह तुम्हारी मदद करेगा। वह अपनी ज्योतिष से सब कुछ जान जाता है। अगर वह चाहेगा तो आज ही तुम्हें लीजिया मिल जायगी। उसका नाम चिलो है।"

□ □ □

रोम की गली दर गली के भीतर एक गंदे-से मकान में चिलो के पास बैठा मारकस लोजिया का पता पूछ रहा था। बहुत हिसाब-किताब लगाने के बाद चिलो ने कहा, "अरे, वह छोकरी तो ईसाई-धर्म को मानने वाली है। देखो, यहाँ लिखा है कि उसका भाग्य प्रतीक 'इक्थुस' है। ग्रीक भाषा में इस के माने होते हैं मछली!"

"हाँ, उसने एक बार जमीन पर मछली की शक्ल बनायी थी। लेकिन वह है कहाँ? उसे पाया कैसे जाय?"

"ठहरो!"—चिलो ने कहा, "मेरे हिसाब से वह वहीं है जहाँ ईसाइयों का गिरोह रहता है। जानते हो ये लोग शहर के बाहर गुफाओं और कंदराओं में अँधेरे में रहते हैं पर उन तक जाना कठिन है। वे समाज के शत्रु हैं, दूसरे धर्म वालों को जहर तक पिला देते हैं।"

"लेकिन चलना तो होगा ही।"—मारकस ने निश्चयपूर्वक कहा।

"यह बड़ा भयानक है! वे सौ से भी ज्यादा हैं। पर चलिए कपड़ों के नीचे हथियार रखना होगा। पर मैं बूढ़ा वहाँ क्या करूँगा! वे बहुत ताकतवर होते हैं।"

"तुम चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारी रक्षा के लिए क्राटन को भी ले चलूँगा। हम तीनों चलेंगे।"—मारकस ने कहा।

चिलो की इस विद्या के लिए मारकस ने उसे दो अशर्फियाँ दीं।

रात को तीनों, शहर के बाहर, गुफाओं की ओर चले। तीनों ने ईसाइयों के कपड़े पहन रखे थे, लम्बे लबादे और कनटोपे। बहुत घुमावदार रास्तों से होते हुए वे ईसाइयों के अड्डे पर पहुँचे।

लाइनों में इसाई खड़े थे और बूढ़ा दार्शनिक पॉल, उनके हाथों को छू-छू कर उन्हें दीक्षा दे रहा था।

दूर खड़े तीनों यह सब देखते रहे।

फिर पॉल ने भाषण देना प्रारम्भ किया, "हमारे प्रभु जीसस सब समझते हैं। आज हमारे बीच एक ऐसा व्यक्ति आया है, जिसकी लोगों को बहुत दिनों से प्रतीक्षा थी। यह वह व्यक्ति है जिसने ईसामसीह के मुँह से बातें सुनी हैं। इसने ईसा को छुआ भी है, यह जेरुसलम का मल्लाह है। इसका नाम पीटर है और यह प्रभु का पहला दूत है।"—यह कह कर पॉल ने एक ओर उँगली उठा दी।

सभी ने घूम कर देखा—वह शानदार कपड़े पहने टीले पर खड़ा था। सामने आकर उसने भाषण शुरू किया—

"मुझे रोम का यह रास्ता जीसस ने दिखाया ताकि यहाँ एक गिरजा बना सकूँ। मुझे प्रसन्नता है कि बिना जीसस को देखे ही आप लोग उनके प्रति इतने श्रद्धालु हैं। मैंने उनकी आवाज गैलिली के समुद्रतट पर सुनी थी। उस दिन रात भर की कोशिश के बाद भी, एक भी मछली न पकड़ पाने के कारण मैं निराश था, तभी मुझे पुकार कर उन्होंने कहा, 'अब अपना जाल सुखा लो, आज से इन्सानों के मछुए बनो?' हम मन्त्र-मुग्ध-से उनके पीछे चलने लगे। लेकिन मुझे बन्दीगृह में डाल दिया और उन्हें सूली पर चढ़ा दिया। उनके सिर पर काँटों का ताज था। जब हमने उनके मृत शरीर को देखा तो हमें विश्वास हो गया कि वह ईश्वर ही थे। उन्होंने बताया था कि अपने दुश्मन को भी प्यार करो और अगर तुम्हारे दाहिने गाल दर कोई चाँटा मारे तो अपना बायाँ गाल भी उसकी ओर कर दो। जो तुमसे घृणा करे उससे भी प्रेम करो।"

पीटर के भाषण से मारकस भी बहुत प्रभावित हुआ। तब तक सवेरा होने लगा था और प्रात: के धुँधलके में वे सभी वहाँ से जाने लगे।

वे गाते हुए आगे बढ़ रहे थे और किनारे पर खड़े मारकस, चिलो और क्राटन एक-एक को गौर से देख रहे थे।

अचानक मारकस की दृष्टि लीजिया पर पड़ी वह भी लबादा पहने थी। फिर तीनों ने लीजिया का पीछा किया।

लीजिया चली जा रही थी। उसके साथ मरियम और उसका बेटा नजारियस था। उन्हीं के यहाँ वह छिपी थी। जब वे एक गली में मुड़े तो अचानक युरुसस पीछा करने वालों के सामने आ गया और बोला, "सेनापति, अब आगे मत बढ़ना!"

मारकस ने फौरन ही अपनी कमर से चाकू निकाल लिया। यूरुसस ने लपक कर उसका हाथ पकड़ा और एक ऐसा धक्का दिया कि वह दीवार से टकराया और बेहोश हो गया।

क्राटन ने उछल कर युरुसस को दबोचा और युरुसस चारों खाने चित गिर पड़ा। दोनों में मल्लयुद्ध होने लगा और युरुसस ने अपनी टाँगों से क्राटन की टाँगों को फैला दिया। वह गिर पड़ा। दूसरे प्रहार में बेहोश हो गया। तब युरुसस ने क्राटन के बेहोश शरीर को गली के आगे नदी के पुल पर फेंक दिया और उसका शरीर लुढ़कता हुआ नदी में जा गिरा। उसे मरा समझ युरुसस कुछ डरा और वापस आकर उसने मारकस को देखा। जिसके सिर से खून बहा रहा था। उसे उठा कर वह मरियम के घर लाया।

यह सब प्रारम्भ होते ही चिलो डर कर पहले ही भाग गया था।

मरियम के कमरे में मारकस को जब होश आया तो लीजिया उसके घाव धो रही थी। मरियम पट्टी बाँध रही थी।

मारकस का सिर चकराया और वह बेहोश हो गया।

थोड़ी देर बाद जब आँखें खुलीं तो वह काफी स्वस्थ था। कमरे में कोई न था। तभी युरुसस के साथ लीजिया आयी। उसने कहा, "युरुसस कुछ कहना चाहता है।"

युरुसस ने कहना शुरू किया, "मैं क्षमा की भीख माँगता हूँ। आप के मित्र का मुझसे वध हो गया है।"

मारकस ने आश्चर्य से पूछा, "तो क्या तुमने क्राटन को खत्म कर दिया? शाबाश! और उस बूढ़े ग्रीक को भी?"

"नहीं, वह तो पहले ही भाग गया था।

बीच में ही लीजिया ने कहा, "युरुसस को क्षमा कर दो।"

मारकस ने जरा तीखे ढंग से पूछा, "मुझे भी तुमने क्यों नहीं मारा?"

"हत्या हमारे धर्म में पाप है।"

युरुसस चला गया तो मारकस ने लीजिया से कहा, "लीजिया मैं हार गया। अब तुम आजाद हो। मैं अब तुम्हारा पीछा न करूँगा। तुम अब खुले-आम रहो। अब बोलो, खुश तो हो?"

मारकस दरवाजे की ओर बढ़ा। लीजिया ने लपक कर उसे आलिंगन में कस लिया, "मारकस, प्रिय मारमस !"

चुंबनों की आवेशपूर्ण बौछार रुकी, तो मारकस बोला, "इतनी चोट खाकर जो कुछ पाया है वह महान है। लीजिया, मैं तुम्हें सदा के लिए अपने साथ देखना चाहता हूँ। क्या मेरी पत्नी बन सकोगी ?"

लीजिया की आँखों में आँसू आ गये। धीरे से बोली, "हाँ, मारकस !"

"तो चलो, इस गुफा से निकलो। मेरे साथ एंटियम चलो। वहीं विवाहोत्सव होगा और पेट्रोनियस प्रीतिभोज का आयोजन करेंगे।"

लीजिया ने उसे फिर चूमा और बोली, "अभी पॉल आने वाले हैं। मैं जरा उनसे आशीर्वाद ले लूँ !"

मारकस ने कमरे में रखी लकड़ी की सूली की ओर इशारा करके उससे पूछा, "यह क्या है ?"

"यही वह सूली है, जिस पर ईसा का बलिदान हुआ था।"—लीजिया ने कहा।

मारकस ने जरा व्यंग्य से कहा, "तो यही तुम्हारे परमात्मा का प्रतीक है ! मैं भी सिसली के अपने बाग में एक बड़ी-सी सूली बनवाऊँगा।"

लीजिया मारकस के पास आकर बोली, "देखो, खरी-खोटी मत सुनाओ। मैं शादी के लिए कोई शर्त नहीं लगाती, पर आशा करती हूँ कि तुम्हारे मन में भी ईसा के लिए प्रेम पैदा हो जायगा।"

मारकस हँसा, बोला, "मेरा मन सिर्फ तुम्हारे लिए है। उसमें कोई दूसरा कैसे जगह पा सकता है ?"

तभी दरवाजा खुला और पॉल भीतर आया। मारकस से कहा, "हम लोग तुम्हारी ही प्रतीक्षा में थे।"

लीजिया ने बीच में ही कहा, "पॉल, मारकस ने मुझे अपनी पत्नी बनाने की बात कही है। आप जानते हैं कि मैं इन्हें कितना प्यार करती हूँ।"

मारकस चिढ़ गया, बोला, "मैं इतना तो समझ ही गया कि तुम दोनों मुझे

बेवकूफ बना रहे हो। मैं क्या करूँ, समझ में नही आता !"

पॉल ने सम्हल कर कहा, "क्या अभी तक तुम नहीं समझ पाये कि बिना युद्ध व रक्तपात के, प्रेम द्वारा विजय पायी जाय ! आदमी को गुलाम बना कर रखना कितना गलत है। तुमने दास क्यों रख छोड़े हैं ? उन्हें स्वतन्त्र क्यों नहीं कर देते ?"

मारकस नाराज हो गया। उसने लीजिया की ओर घूम कर कहा, "खैर मैं आज तो बेवकूफ बन ही गया। पर, मैं अपना वचन नहीं बदलूंगा। मैं तुम्हें आजादी देता हूँ। तुम अपना रास्ता खुद चुनो। मैं अपनी और तुम्हारी इस भेंट का भी कहीं जिक्र न करूँगा।"

मारकस क्रोध से काँप रहा था, वह आगे बढ़ा और उसने दीवार के सहारे टिकी सूली को गिरा दिया। लीजिया ने आगे बढ़ कर उसे पकड़ा और रोती-सी बोली, "मेरे प्रियतम ! मुझे समझने की कोशिश करो। मुझे ऐसे धर्म संकट में न डालो !"

"नहीं लीजिया, यह सब नहीं चलेगा। तुम्हें मेरे और अपने ईसा में से किसी एक को चुनना है।"

लीजिया रोती रही। मारकस चला गया।

□ □ □

नीरो अपने दल-बल के साथ गरमी बिताने एंटियम पहुँच चुका था। पेट्रोनियस और उसकी प्रेमिका भी उसके साथ थे। नीरो ने वहाँ आकर एक शिल्पकार द्वारा बनाये गये रोम के नये नमूने को पसन्द कर लिया।

दूसरे ही दिन मारकस भी एंटियम पहुँच गया। उसे आये थोड़ी ही देर बीती थी कि एक दास ने आकर कहा, "सम्राज्ञी अंतःपुर में बहुत देर से आप की प्रतीक्षा कर रही हैं।"

मारकस को सीधा पिपईया के कक्ष की ओर जाना पड़ा। कमरे में घुसते हो मारकस ने देखा कि पिपईया शराब पिये पलँग पर पड़ी थी। पास ही दो चीते जंजीर से बँधे थे। पिपईया ने देखते ही कहा, "आओ सेनापति मारकस ! मैं तुम्हारी हीं प्रतीक्षा कर रही थी। क्या तुम सिसली जा रहे हो ?"

"हाँ, सम्राज्ञी, तीन वर्ष से उधर नहीं गया।"

"खैर, यह बताओ कि तुम्हारी उस ईसाइन प्रेमिका का क्या हुआ ?"

"मैंने उसका विचार छोड़ दिया है, सम्राज्ञी !"

"चलो, अकल तो आयी ! अरे हाँ, कल रात मैंने सपना देखा था। तुम किसी युद्ध में मारे गये हो। मैंने तुम्हारे कटे सिर को अपने सीने से लगाया था। तुम्हारे बालों में उँगलियाँ फेरी थीं। तुम मुस्करा रहे थे।"

"साम्राज्ञी ! मैं तो उपस्थित हूँ, फिर मेरे कटे सिर की कल्पना क्यों ?"

"जिससे घृणा करो, उसे मारो मत ! क्योंकि मर कर वह दुख से छूट जायगा। और मारकस, मैंने तुमसे घृणा की है।। तुम मेरी अवहेलना करके उस ईसाइन के पीछे दौड़े हो। लेकिन याद रखो, अगर फिर कभी उसने तुम पर डोरे डाले, तो बहुत संभव है मैं तुम दोनों को खत्म करा दूँ।"

मारकस खड़ा सुनता रहा। पिपईया ने झुक कर मारकस के ओठों को चूम लिया।

तभी खिड़की से यह दृश्य देख कर नीरो मन-ही मन जल उठा।

अचानक पुकार उठा, "पेट्रोनियस !"

फौरन ही पेट्रोनियस को बुलाया गया। उसे देखते ही नीरो चीखा, "पेट्रो-नियस ! मेरी रक्षा करो !"

"देवता ! क्यों चिन्तित हैं ?"—पेट्रोनियस ने पूछा।

"आज मेरा विश्वास टूट गया है। आज मेरा देवत्व खंडित हो गया है। शायद कल सारा रोम मेरे नाम पर थूकेगा। आज सचाई की रात है। आज मुझे अपना दिल खोलने दो। मुझे मालूम है कि सारा रोम मुझे माँ और पत्नी का हत्यारा समझता है। मुझे दानव समझता है। लेकिन माँ व पत्नी की हत्या से मैं संसार को दिखाना चाहता था कि मैं कितना बड़ा त्याग, कितना बड़ा बलिदान कर सकता हूँ !"

पेट्रोनियस खामोश खड़ा रहा।

नीरो पागलों की तरह कह रहा था—

"हाँ, पेट्रोनियस, मैं कलाकार हूँ। लेकिन एक बार तुमने कहा था कि मेरा ज्वाला-गीत कुछ जोश नहीं दिलाता। शायद तुमने ठीक ही कहा था। मैंने कभी आग की लपटें नहीं देखीं, कभी कोई जलता हुआ नगर नहीं देखा, कोई जलती

हुई बस्ती नहीं देखी—फिर मेरे ज्वाला-गीत में वास्तविकता कहाँ से आती ! अरे हाँ, क्या तुम्हें ट्राय के जलने का अफ़सोस है ?"

"मुझे तनिक भी अफसोस नहीं है, देवता ! यदि ट्राय न जलता, तो ग्रीकों ने प्रियम पर युद्ध न किया होता। होमर ने इलियड की रचना न की होती।"

"तो, क्यों न रोम जला कर इसकी सच्ची अनुभूति प्राप्त की जाय ?"—नीरो ने तत्काल ही कहा।

पेट्रोनियस सहम गया। यह कौन सी सनक है ! क्या यह मूर्ख, विक्षिप्त सम्राट रोम को जला कर भस्म कर देगा ? वह चुप रहा, नीरो बेचैन हो उठा। नये रोम का नमूना दिखा कर वह बोला, "देखो यह मेरी पसन्द का रोम है। पुराने को जला कर नया रोम बनाना होगा और इस नये रोम का नाम होगा—नीरोपोलिस रोम !"

पेट्रोनियस बोला, "पर, देवता ! हमारा प्राचीन रोम......हमारी प्रिय जन्मभूमि.........!"

"चुप रहो ! संसार का नकशा बदलना ही हमारा काव्य है। नव-निर्माण ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। आज रात ही मैं जलते हुए, लपटों में भस्म होते हुए रोम का फातिहा पढ़ूँगा। शायद उसकी लपटों में ही मैं देवलोक के ऊपर पहुँच सकूँ। तब शायद तुम्हें मेरे गीतों में जोश की झलक मिल सके।"

पेट्रोनियस पागल सम्राट नीरो की सनक को भी समझता था। आशंका से वह पीला पड़ गया।

□ □ □

रोम जल रहा था !

प्रचंड लपटों को देखते ही मारकस का ध्यान लीजिया की ओर गया।

पिपईया की गोद से उछल कर मारकस बाहर भागा। पिपईया उसे रोकती ही रही। पर एक खाली खड़े रथ पर सवार होकर मारकस जलते हुए रोम की ओर बढ़ गया।

पिपईया की आँखों में अतृप्त वासना और ईर्ष्या गहरी धधक उठी थी। उसने मारकस को रोकने की आज्ञा दी। दो सैनिकों ने उसका पीछा किया। कई रथ दौड़े। पूरी फौज दौड़ पड़ी।

रास्ते के गाँवों के लोग चिल्ला रहे थे, "रोम जल रहा है, रोम स्वाहा हो रहा है ! ईश्वर रक्षा करे !"

सामने पहाड़ी पर चढ़ कर मारकस ने वह भयानक दृश्य देखा। धुएँ के कारण कुछ भी दिखता न था। क्या ऐसी भयानक आग में लीज़िया बची होगी ?

तभी एक घाटी में उसे शहर से भागने वालों का कारवाँ दिखायी दिया, कुछ पैदल थे और कुछ सवारियों पर। वे चीख-चीख कर बद्दुआ दे रहे थे, "नीरो और आग लगाने वालों का नाश हो !"

मारकस डर गया।

धुएँ का यह समुद्र ! किसी तरह मुँह और नाक में कपड़ा ठूँस कर वह अपने को बचाता रहा। किसी तरह गिरते-पड़ते, वह मरियम के घर तक पहुँच गया। वहीं तो एक दिन वह लीजिया को रोता हुआ छोड़ आया था।

रोम की अजीब दशा थी। चारों ओर से, स्त्रियाँ और बच्चे, चीखते-चिल्लाते घरों से निकल-निकल कर इधर-उधर भाग रहे थे। बूढ़े और मर्द घर का सामान बचाने में व्यस्त थे।

मरियम का सारा घर जली लकड़ियों से भरा था। जला हुआ घर किसी बड़ी चिता-सा लग रहा था। निश्चित था कि इसमें कोई जीव जिंदा न बचा होगा। लेकिन लीजिया के बारे में बिना जाने मारकस को शांति कहाँ !

हिम्मत कर यह मरियम के जलते मकान में घुसा, पर कहीं कोई न दिखा। सारा मकान भयानक भट्ठी-सा दहक रहा था। निराश वह बाहर निकल आया। थोड़ी दूर पर एक छोटे-से मैदान में उसे कुछ नागरिक दिखे, ज्योंही मारकस उनके पास पहुँचा बगल के मकान की जलती छत अचानक गिर पड़ी और वहाँ इकट्ठे आधे लोग उसी में दब गये। भयानक हाहाकार मचा। पास ही नाले का एक ढँकना था। यह नाला रोम नगर के नीचे-नीचे मीलों दूर तक बहता हुआ आगे जाकर नदी में मिलता था। तभी मारकस को एक तरकीब सूझी। उसने पीड़ित रोम निवासियों को उसी नाले द्वारा नदी तक पहुँचने की युक्ति बतायी। आगे-आगे मारकस और पीछे-पीछे स्त्री-बच्चे उस नाले में घुसने लगे। सभी अचानक दूसरी दीवार गिरी और नाले का मुंह भी बन्द हो गया। अतः जो लोग नाले में घुस आये थे उन्हें ही मारकस आगे बढ़ाने लगा।

काफी चलने के बाद वे वहाँ पहुँचे जहाँ इस नाले का पानी नदी में गिरता था। कमर तक पानी था। एक-एक को उठा कर मारकस ने उस पत्थर पर बैठाया जहाँ से पुल का रास्ता था। पुल पर पहले से ही रोम के शरणार्थियों की काफी भीड़ थी। अचानक मारकस ने उस भीड़ में युरुसस को परेशान-सा भागते देखा। पास ही उसे लीजिया भी दिखायी दी, साथ में मरियम का नाबालिग पुत्र नजारियस भी था।

वही से चीख़ता-चिल्लाता मारकस भागा, "लीजिया, लीजिया !"

पलट कर लीजिया भी दौड़ी और उससे लिपट गयी, "मारकस मेरे मारकस !'

"लीजिया ! तू बच गयी न !"

"हाँ, मैं बच गयी पर मरियम जल कर राख हो गयी।"—फिर धीरे से कहा, "पुल के दूसरे छोर पर नीरो की फौज है। किसी को आगे नहीं जाने देती।"

मारकस सीधा वही पहुँचा और तेज़, कड़कती आवाज में बोला, "यहाँ का कौन नायक है ? रास्ते से हट जाओ !"

उत्तर मिला, "शाही आज्ञा है कि किसी को इधर न बढ़ने दिया जाय।"

"मैं जो आज्ञा देता हूँ, वही करो ! मैं सेनानायक हूँ—मारकस विनीसस !"

फ़ौज ने रास्ता दे दिया और लोग आगे बढ़े। उन्हीं के बीच लीजिया और युरुसस के कंधे पर बैठा नजारियस आगे बढ़ा। उसके पीछे ही मारकस भी चला।

आगे जाकर लोगों ने देखा, हर ओर विद्रोह की तैयारी हो रही है। भयानक खबरें भी थीं—नीरो पागल हो गया है। क़त्लेआम होने वाला है। नीरो के पालतू जानवर भी जल रहे हैं। शेरों की गरदन के बाल जलने से वे पागल हो गये हैं। हाथी तो जाने कितनों को कुचल चुके हैं—आदि-आदि।

भीड़ में बीच-बीच में आवाजें आ रही थीं—"प्रलय का दिन आ गया। अब यमराज का आगमन बाकी है।"

तभी लोगों न देखा कि सामने की ऊँची पहाड़ी की बड़ी गुफा से कुछ

लोग लबादे पहुँने, हाथ में मोमबत्तियाँ लिए चले आ रहे हैं। लगा जैसे कोई आश्चर्यजनक घटना घटने वाली है। सभी उसी ओर सशंकित दृष्टि से देखने लगे।

मोमबत्तियों वाली भीड़ पास, और पास आती गयी। धीरे-धीरे उनकी फुसफुसाहट सुनायी पड़ने लगी—जीसस, जीसस, जीसस, जीसस !

उस फुसफुसाहट के बीच अचानक एक गंभीर वाणी का उदय हुआ, "शांति, शांति ! शांति तुम्हारे साथ है !"

यह जीसस के दूत पीटर की आवाज थी। उसकी वाणी ने जलते हुए नागरिकों पर अमृत-सी ठंडक की वर्षा की। पीटर ने उपदेश देना शुरू किया, "दुखी न हों.. कौन कह सकता है कि दूसरे क्षण क्या होगा......जीसस को याद करो ! वह तुम्हें पवित्रता व शाँति देंगे !"

भयाकुल नागरिकों को इन शब्दों से बड़ी राहत मिली।

ज्यों-ज्यों रोम की आग प्रचंड रूप धारण करती गयी, नीरो की राक्षसी प्रसन्नता भी बढ़ती गयी। धू-धू करती आग में चटखती दीवारों की आवाज के साथ वह पागलों-सा अट्टहास करता।

अपने महल की सबसे ऊँची छत से उन्मत्त-सा नीरो यह कांड देख रहा था। रोम की धधकती आग से उसका चेहरा चमक रहा था। उसने कहा, "पेट्रोनियस, देखो, यह नाश और इसके बाद मेरा निर्माण ! सुन्दर निर्माण जरा मेरी वंशी तो देना ताकि मैं ज्वाला-गीत गा सकूँ।"

एक दास ने लाकर वंशी दी और वह उसे बजाने लगा। थोड़ी देर बाद वह बोला, "पेट्रोनियस, क्या मेरे गीतों का महत्व इतिहास समझ सकेगा ? क्या मेरा गीत महान प्रलय का ठीक चित्रण कर सकेगा ?"

पेट्रोनियस ने उत्तर दिया, "हाँ, देवता ! यह विनाश ही आपके गीतों की सार्थकता का सबसे बड़ा सबूत है।"

आग के धुएँ से भरे आकाश को निहार कर नीरो ने प्रेरण ली।

रोम का एक-एक मंदिर जल रहा था। हरकुलिस, जुपीटर लूना सभी के मंदिर जल कर खाक हो रहे थे और इस विध्वंसक आग के बीच नीरो का राजमहल चमक रहा था।

रोम जल रहा था, और इस बरबादी से नीरो काव्य की प्रेरणा ले रहा था।

तभी महल की ओर बढ़ता हुआ क्रुद्ध शरणार्थियों का एक समूह दिखाई पड़ा। नीरो ने पूछा, "ये कौन है?"

"देवता! ये जीवन-रक्षा चाहते हैं?"—पेट्रोनियस ने कहा।

"इससे जीवित रहने को किसने कहा है?"—नीरो चीखते हुए बोला।

नीचे रोम के निःसहाय नागरिक नीरो को, उसकी बर्बरता को कोस रहे थे और पत्थर फेंक रहे थे। शाही फौज उनको रोकने को तलवार का प्रयोग कर रही थी।

आततायी को जो गालियाँ पड़ रही थीं, उनकी भनक नीरो के कानों तक आयी। वह चिल्ला उठा, "इनका मुँह बंद क्यों नहीं किया जाता?"

अब पेट्रोनियस से न सहा गया। वह बोला, "देव! वे महल में प्रवेश कर गये हैं। अब हम सभी मारे जायेंगे। कोई भी शक्ति हमें उनसे नहीं बचा सकती। पर आप बचे रहेंगे। आप ईश्वर हैं, अतः आप अमर हैं! रहा मैं, सो मैं तो रोम को प्यार करता हूँ। इस हत्याकांड के बाद मैं जीवित रहना भी नहीं चाहता।"

नीरो ने कहा, "तुमसे ही सलाह लेकर तो मैंने अपने ज्वाला-गीत के लिये रोम को भस्म कराया। इनसे कहो कि हम अब रोम का नया निर्माण करेंगे।"

पेट्रोनियस उसी स्वर में बोला, "अभी तो उनकी रक्षा के लिये एक भी छत नहीं है।"

"फिर ये चाहते क्या हैं?"—नीरो ने पूछा

"न्याय!"

"न्याय कभी समूह के साथ नहीं होता। सेनानायक टिजेलिनस से कहो कि जनसमूह के सामने जाकर कहे कि मेरी आज्ञा से ही रोम में आग लगायी है।"

टिजेलिनस वहीं खड़ा था, बोला, "ठीक है, मैं उनके सामने जाकर यही कहूँगा, पर मेरी मृत्यु के बाद सेना भी विद्रोह कर देगी।"

सभी दरबारियों के दिल दहल उठा। अब क्या होगा? टिजेलिनस की बातों में छिपी ध्वनि को सभी समझते थे। विद्रोह की कल्पना सभी के लिये सहज थी।

तभी सम्राज्ञी पिपईया का एक दास आया और बोला कि महारानी ने टिजेलिनस को बुलाया है। टिजेलिनस तत्काल उसके कक्ष की ओर चला गया।

पिपईया बड़ी ईर्ष्यालु स्त्री थी। वह अपने शत्रु को भूलती कभी न थी। मारकस के प्रति उसका प्रेम एक चाल थी। उसका सारा क्रोध लीजिया पर था, क्योंकि वह जानती थी कि लीजिया के सौंदर्य के आगे उसे सदा ही झुकना पड़ेगा। लीजिया के सर्वनाश का उसने यही उचित अवसर देखा। उसने टिजेलिनस से सलाह की और उसे रास्ता भी बताया।

लौट कर टिजेलिनस ने नीरो से कहा, "देवता, मैंने रास्ता निकाल लिया है। देव! आप ने ईसामसीह व उसके अनुयायियों के विषय में सुना होगा।"

नीरो ने कहा, "हाँ, सुना है। वे घृणा के पात्र हैं। पतित हैं। विद्रोही हैं।"

"हाँ, देव! उन्होंने कभी आपकी जयजयकार नहीं की। कभी आपको ईश्वर नहीं माना। वे रोम के शत्रु हैं। रोम में आग उन्हीं ईसाईयों ने लगायी और हमें बदनाम किया।"—टिजेलिनस ने कहा।

तभी बीच में ही पिपईया बोल उठी, "वे दुनिया भर के शत्रु हैं। सम्राट् नीरो के भी शत्रु हैं।"

नीरो ने पूछा, "तो इन पतितों को क्या दंड दिया जाय?"

पेट्रोनियस पिपईया की चाल समझ गया था। उसने तत्काल कहना शुरू किया, "देवता आपने अपराधियों का पता लगा लिया है। उन्हें उपयुक्त सजा भी दीजिये, लेकिन आने वाले युग का अवश्य ध्यान रखिये। कहीं भविष्य यह न कहे कि संसार के शासक और ईश्वर ने रोम को जला डाला। कवि ने कविता के लिये रोम को भस्म कर दिया। भोली-भाली जनता सदा से अपने सम्राटों की गलतियों को माफ करती आयी है। जनता को अपना लो। कोई विरोधी आवाज न उठायेगा।"

पेट्रोनियस के इन वाक्यों का नीरो पर पूरा असर पड़ा। पिपईया और दूसरे लोग भी हतप्रभ होकर नीरो की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करने लगे। नीरो के चेहरे पर चिंता व भय की रेखाएँ देख कर टिजेलिनस ने तत्काल एक और दाँव फेंका। बोला, "देवता! आप के लिए ऐसी बातों को सुनने का मैं आदी नहीं हूँ। इसकी बातों में आप को कायर, डरपोक, उपद्रवी व विदूषक कहा

गया है। आप ईश्वर हैं ! यह व्यक्ति आपके शत्रुओं का मित्र मालूम होता है। उनका पक्ष ले रहा है।"

नीरो ने बीच में पूछा, "क्यों पेट्रोनियस तुम उनका पक्ष क्यों ले रहे हो ?"

पिपईया ने यही उचित अवसर समझ कर कहा, "स्वामी, इसका भतीजा मारकश एक ईसाई छोकरी के प्रेम में दीवाना हो रहा है। शायद मारकस और यह दोनों हीं ईसाई है। आपके छिपे शत्रु !"

नीरो ने पूछा, "क्या तुम ईसाई हो पेट्रोनियस ?"

पेट्रोनियस घबरा गया, बोला, "ऐसा सोच कर आप मेरे प्रति अन्याय कर रहे हैं, देवता !"

नीरो ने कहना शुरू किया, "ईसाई घृणित हैं, देशद्रोही हैं ! वे सारे संसार को जलाना चाहते हैं और इसकी शुरुआत उन्होंने रोम को जला कर की है। रोम को उन्होंने जलाया और प्रचार किया कि नीरो ने जलवाया है। इस ईसाई जाति का जड़-मूल से नाश करना ही मेरा एकमात्र कर्तव्य रह गया है। मैं ईसाईयों का नामोनिशान मिटा दूंगा। आने वाली पीढ़ियाँ ईसाईयों के बारे में जान भी न पायेंगी।"

पेट्रोनियस को छोड़ कर बाकी सभी लोगों के चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे।

□ □ □

युरुसस व लीजिया को बचाता हुआ मारकस किसी तरह प्लाटियस के यहाँ पहुँचा। यहाँ आकर उसने अत्यधिक थकान का अनुभव किया और सो गया। जब वह जागा, तो देखा, लीजिया सिरहाने बैठी थी। आवेश में आ, उसने लीजिया को घसीट कर अपने सीने से चिपका लिया और बड़ी देर तक उसके माथे व आँखों को चूमता रहा।

उसने लीजिया को बताया कि किस प्रकार जलते हुये रोम की एक-एक गली छान कर उसने उसे ढूंढ़ा है।

चित्रवत् लीजिया सब सुनती रही।

तभी आहट पाकर दोनों ने पीछे देखा। धर्मदूत पीटर खड़े थे। लीजिया भाग कर उसके निकट चली गयी। पीटर ने कहा "यह मारकस है न ! कभी

देखा न था पर इसके बारे में सुना बहुत है।"

मारकस पीटर को देख कर प्रभावित हुए बिना न रह सका। यद्यपि ईसाई धर्म के प्रति उसे तनिक भी सहानुभूति न थी पर पीटर के भव्य व्यक्तित्व से वह अवश्य प्रभावित हो गया था। वह कुछ कहने जा ही रहा था कि एक आदमी ने आकर बताया कि बाहर लोग आपस में ही एक-दूसरे की हत्या कर रहे हैं। फौज तो नागरिकों को गाजर-मूली की तरह काट रही है।"

मारकस ने प्रश्न भरी निगाह से पीटर की ओर ताका, जैसे पूछ रहा हो, "आप सुन रहे हैं?"

प्रश्न को समझ कर पीटर ने उत्तर दिया, "यह सब माया का खेल है। अब शायद विध्वंस अपने साकार रूप में प्रकट होने वाला है।"—फिर लीजिया की ओर इशारा करके बोले, "ईश्वर ने इस रमणी को तुम्हारे भाग्य के साथ जोड़ दिया है। इसकी रक्षा करो और यूरुसस को भी अपने साथ ही लेते जाओ।"

"पर मैं आप को यहाँ अकेला विनाश के वातावरण में कैसे छोड़ूं?"

"ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे! तुम पर अधिक जिम्मेदारियाँ हैं। तुम अपना काम करो, मैं अपना!"

मारकस ने लीजिया से कहा, "अभी तुम और युरुसस यहीं रहो। मैं एक बार नगर की ओर जाऊँगा। शायद नीरो पागल हो गया है और उसके लिए कुछ-न-कुछ उपाय करना ही पड़ेगा। मैं शाम तक लौटूंगा, अगर न आ सका तो तुम्हें सूचना भेजूंगा।"

वह बाहर आया। मारकस सीधा पेट्रोनियस के घर गया और रास्ते में उसने अपने दो सहायक सेनानायकों—फेबियस और सीपिया—को भी साथ ले लिया।

मारकस को देखते ही पेट्रोनियस बोल उठा, "मैं तुम्हारे लिए ही चिंतित था क्योंकि नीरो का निशाना तुम्हारी ओर भी है। पिपईया ने तुम्हारे साथ चालबाजी की है और वह तुम्हारे व लीजिया के खून को प्यासी हो रही है। लीजिया को किसी तरह रोम से दूर ले जाओ क्योंकि जब तक रोम में खून का समुद्र नहीं लहरायेगा, नीरो की आग ठंडी न होगी। उसने यही प्रचार करवा दिया है कि ईसाईयों ने ही रोम में आग लगायी है।"

मारकस ने कहना शुरू किया, "हमने सारी योजना बना ली है। अब

किसी तरह भी हो, नीरो को गद्दी से उतार कर गाल्बा को बैठाने का अवसर आ गया है। सीपिया उसके पास टसकनी में हमारा संदेश ले जायेगा ताकि वह जल्दी ही अपनी सेना सहित आ सके। पर बिना तुम्हारे हस्ताक्षर किये वह शायद हमारे संदेश पर विश्वास न करे। लो, इस मेरे लिखे संदेश पर हस्ताक्षर कर दो।''

पेट्रोनियस ने बिना अधिक सोचे-विचारे ही हस्ताक्षर कर दिये। वह संदेश सीपिया को देते हुये मारकस ने कहा, ''बहादुर, एक क्षण भी नष्ट होगा तो सारा खेल बिगड़ जायेगा।''

सीपिया के जाते ही पेट्रोनियस ने कहा, ''मुझे नीरो ने बुलवाया है। मैं भी अब उसकी नज़रों में खटक रहा हूँ। तुम भी आकर अन्य तैयारियाँ करो। हम शाम को फिर मिलेंगे।''

फेवियस के साथ मारकस नगर की ओर और पेट्रोनियस नीरो के महल की ओर चला गया।

शाम को उदास मन पेट्रोनियस सीधा मारकस के पास पहुँचा, ''क्या बात है?''

मारकस की आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं। उसने कहा, ''लीजिया को पकड़ कर मेमाटाइन जेल में बंद कर दिया गया है।''

पेट्रोनियस ने व्यंग-भरे स्वर में कहा, ''बस यही खबर है तुम्हारे पास! मुझसे सुनो, सारे नगर से चुन-चुन कर ईसाई पकड़े जा रहे हैं। उन्हें पागल कुत्तों और भूखे शेरों से खुले आम जनता के सामने नुचवाया जायगा। इस सार्वजनिक हत्याकांड को एक उत्सव का रूप दिया जा रहा है। नीरो रोम जलाने के अपने पाप को ईसाईयों के खून से ढाँकना चाहता है। जानते हो, सारे शहर में जंगली जानवर पिंजरे में बन्द करके घुमाये जा रहे हैं!''

सुनते ही मारकस तलवार उठा कर सीधा मेमाटाइन जेल की ओर दौड़ चला। जेलर ने कहा, ''माफ कीजिये। भीतर जाने की किसी को आज्ञा नहीं है।''

फिर पास आकर उसके कान में धीरे से बोला, ''आप चिंता न करें। युरुसस और अन्य रक्षक लीजिया की रखवाली कर रहे हैं।''—कहते-कहते उसने तलवार की नोक से धरती पर मछली की शक्ल बनायी और फौरन मिटा दी।

मारकस के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

तभी जाने किधर से टिजेलिनस आ धमका। उसने इशारा किया और चार सिपाहियों ने लिपट कर मारकस को दबोच लिया। मारकस कुछ समझ न पाया। टिजेलिनस ने कहा, "सेनापति, आज खुद प्रेम के जाल में फँस गये। हमें मालूम था कि आप आयेंगे। हाँ, सम्राट नीरो ने आपके लिए एक भयानक मौत की योजना बनायी है। ...हा...हा ! सिपाहियों, इन्हें भी जल्दी से इनके ईसाई साथियों तक पहुँचा दो।"

सिपाही बन्दी मारकस को ढकेलते हुए कोने वाली काल-कोठरी तक ले गये और उसे धक्का देकर भीतर कर दिया। वह कोठरी बन्दी ईसाईयों से भरी थी। युरुसस व लीजिया भी उन्हीं में थे। उसे देखते ही लीजिया दौड़ कर उससे चिपट गयी। वह रो रही थी, "तुम्हें क्यों बन्दी बनाया गया, तुमसे उन्हें क्या शत्रुता है ?"

"हाँ लीजिया, मैं तुम्हारे ही पास आ गया हूँ।"——मारकस ने सांत्वना दी।

"मारकस मैं बीमार हूँ। शायद अब मर जाऊँ। मरने से पहले तुम्हें देखने की मैंने ईसा से प्रार्थना की थी। ईसा ने मेरी सुन ली।"

"नहीं, लीजिया ! तुम मरोगी नहीं। पीटर तुम्हारे लिए प्रार्थना करेंगे। तुम्हें अभी जीना है, मेरे लिए जीना है।"

"नहीं, मारकस, अब मैं जीवित रह कर तुम्हें और कष्ट नहीं देना चाहती। मारकस मेरे लिए रोना मत ! यहाँ नहीं तो स्वर्ग में हमारा अवश्य ही मिलन होगा। मैं ईसा से प्रार्थना करूँगी।"—कहते-कहते जैसे लीजिया की साँस टूटने लगी। मारकस ने उसे अपने सीने से चिपका लिया।

मारकस के दोनों हाथों को अपने होठों तक लाकर लीजिया ने कहा, "मैं तुम्हारी हूँ ! तुम्हारी पत्नी !"

दीवार के दूसरी ओर नशे में चूर सैनिक मदिरा के लिए झगड़ रहे थे।

□ □ □

पेट्रोनियस को जब यह ज्ञात हुआ कि नीरो ने उसकी हत्या कराने का

इरादा प्रकट किया है, तो उसने आत्महत्या करने का निश्चय किया और नीरो के नाम अन्तिम पत्र लिखा—

"कैसर !

मैं जानता हूँ कि तुम मेरी प्रतिक्षा कर रहे होंगे। किंतु मुझे माफ़ करना, मैं तुम्हारी शक्ल देखने से भी घृणा करता हूँ।

मैं मरने जा रहा हूँ। मेरे मरने के बाद तुम चिल्ला-चिल्ला कर मेरे प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम व मित्रता की दुहाई दोगे, लेकिन तुम्हारा वह भोंड़ा नाटक देखने को मैं न रहूँगा।

मैं तुम्हें नीच व हत्यारा समझता रहा हूँ। तुमने अपनी माँ व स्त्री का वध किया। रोम में आग लगवायी।

तुम अपने को कलाकार कहते हो, पर तुम कला के नाम पर एक काले धब्बे हो। सारे रोम के कान और आँख तुम्हारी नीरस कविता और भोंड़े नाच देख कर थक गये हैं। वंशी बजा कर तुमने रोम को भस्म किया। अब कभी, खुदा के वास्ते ऐसी वंशी मत बजाना। यही मेरी अन्तिम सलाह है।"

पत्र एक नायक के हाथ नीरो के पास भिजवा कर पेट्रोनियस ने अपनी बाहों की नसों को काट लिया। धीरे-धीरे उसका खून बहता रहा, उसे नींद-सी आने लगी, फिर वह सदा के लिए सो गया।

जब नीरो को पेट्रोनियस की आत्महत्या की खबर मिली, तो वह चीखने लगा, "पेट्रोनियस ! प्यारे पेट्रोनियस !......

"मुझे विश्वास नहीं कि मेरा इतना गहरा दोस्त आत्महत्या करेगा !...... फिर आत्महत्या के लिए मैंने उसे आज्ञा कहाँ दी थी ? उसके इस अपराध के लिए मैं उसे कभी क्षमा नहीं कर सकता। यह अपराध ही नहीं, मेरे प्रति विद्रोह है।"

तभी पत्रवाहक नायक ने कहा, "आपके लिए यह पत्र—अन्तिम विदा का संदेश भेजा है !"

नीरो ने वह पत्र हाथ में लेते हुए कहा, "कहता न था कि वह मेरा गहरा दोस्त था ! मरते समय उसने मुझे याद किया। उसकी याद में मेरी आँखों में आँसू आ रहे हैं।"

उसने पत्र पढ़ना शुरू किया और पत्र के एक-एक शब्द को पढ़ते-पढ़ते क्रोध से चेहरा लाल होता गया। उसने पत्र फाड़ डाला और पागलों की तरह चीख उठा, "वह विद्रोही था, मेरा शत्रु था। उसका घर जला दो। उसकी किताबें जला दो। उसके जानवरों को मार दो, उसकी दासियों को फाँसी दे दो। उसका नामोनिशाँ मिटा दो। वह मेरा मित्र नहीं, शत्रु था। उसे कोई याद न करे!"

□ □ □

सुबह के धुंधलके में दो छायाएँ सूनी सड़क पर चली जा रही थीं। इनमें एक था पीटर और दूसरा नजारियस!

दूर उगते हुए सूर्य की प्रथम किरणें उन तक पहुँचीं। पीटर रुक गये, उन्हें लगा जैसे कोई प्रकाश-स्तूप उनकी ओर बढ़ता आ रहा था। प्रसन्नता से उनका चेहरा चमक उठा, "उस प्रकाश को आते देख रहे हो न!"

"नहीं, मुझे कुछ नहीं दिखाई दे रहा।"—नजारियस ने कहा।

"देखो, प्रकाश के बीच कोई मूर्ति भी है।"—पीटर ने कहा।

नजारियस चकित-सा देखता रहा। उसे ऐसा कुछ न दिखा। उसने देखा, सारे पेड़ यों हिल रहे थे जैसे कोई उन्हें हिला रहा हो। रोशनी बढ़ती जा रही थी। वह घबरा गया, "आप को क्या हो गया है?"

पीटर के हाथ की लाठी गिर पड़ी। वह एकटक दूर देख रहे थे। घुटनों के बल बैठ कर उन्होंने अपने दोनों हाथ फैला दिये। उनके मुँह से निकला, "हे देवता! ईसूमसीह! ईसू!"

नजारियस कुछ न समझ सका। तभी पीटर के कानों ने सुना, "तुम अगर यों रोम छोड़ कर चले जाओगे, तो मुझे फिर दूसरी बार रोम में सूली पर चढ़ना पड़ेगा।"

पीटर एक बार धूल में लेटे फिर शांत हो गये। नजारियस को लगा जैसे पीटर की मृत्यु हो गयी हो। उसने पीटर को हिलाया। बड़ी कठिनाई से वह उठे। नजारियस ने पूछा, "किधर चलना होगा?"

"रोम की ओर! मुझे ईसू ने आज्ञा दी है।"

पीटर की शांति-यात्रा शुरू हुई। उनके अनुयायी बढ़ने लगे। और उधर

वध-स्थल में जहाँ नीरो ने ईसाईयों की हत्या का उत्सव मनाने का आयोजन किया था, चीख-पुकार बढ़ती जा रही थी।

सार्वजनिक रूप से ईसाईयों का वध किया जा रहा था। वध-स्थल में दर्शनार्थियों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। भूखे शेरों की दहाड़ से वे उत्सव की भव्यता का अंदाज लगा रहे थे। इन शेरों को कई दिनों से भूखा रखा गया था और कभी-कभी ताजे खून से सना गोश्त दिखा कर उनकी भूख और क्रोध को और जगाया जा रहा था।

सूरज निकलने के साथ ही वध-स्थल में बंदी ईसाईयों की प्रार्थना गूँजने लगी।

दर्शनार्थियों में उत्साह बढ़ता जा रहा था। वे आपस में शर्तें लगा रहे थे कि शेर अधिक हत्या करेंगे कि चीते! पहलवान, योद्धागण और सैनिक भी आ गये। सबसे बाद में खच्चरों की गाड़ियों में भर कर कफन आये, जिन्हें देख कर अंदाज़ लगाया जा सकता था कि कितने ईसाईयों की हत्या होगी।

वध-स्थल के बीच में नीरो का मंच था। वह रत्न-जटित कपड़े पहने शान से बैठा था। सिर पर ताज था। बगल में पिपईया थी और अन्य कुमारी दासियाँ! उनके पीछे अफसर और दरबारी! अगल-बगल के मंचों पर रोम के सेठ-साहूकार और सैनिक, नायक बैठ थे।

मुख्य द्वार पर लटके घंटे पर तीन बार चोट हुई। यह मृत्यु की सूचना थी। चारों ओर से बिगुल बजने लगे। योद्धा नंगी-तलवारें लिये वध-स्थल में कूद पड़े।

कुछ मामूली जानवर छोड़े गये और योद्धा-बिना लक्ष के ही तलवार चलाने लगे। रह-रह कर खून के फव्वारे छूटने लगे। दर्शनार्थी हर्ष से उछल रहे थे। अद्भुत आयोजन था यह!

वध-स्थल में लाये गये ईसाई झुक कर प्रार्थना-गीत गाने लगे। दार्शनार्थी उन पर शराब की खाली बोतलें और हड्डियाँ फेंक रहे थे। अजीब कोलाहल मचा।

एक और दरवाजा खुला। अनगिनत भयानक भूखे कुत्ते निकल-निकल कर इधर-उधर दौड़ने लगे। वे भूख से पागल हो रहे थे। वातावरण में और उत्ते-जना भर गयी।

ईसाईयों की भीड़ पर कुत्ते टूट पड़े। भयानक कोलाहल मचा। स्त्रियों और बच्चों का आर्तनाद चारों ओर फैल गया। कराहें और रुदन ! और रह-रह कर नीरो का अट्टहास !

जनता में और उत्साह बढ़ा। उसे शायद कम मजा आ रहा था, वह चिल्लाने लगी, "शेर ! शेर !! चीते ! चीते ! !"

शेर और चीते दूसरे दिन के लिये थे, पर उन्हें भी छोड़ दिया गया। शेर, चीते, कुत्ते एक साथ बंदियों पर टूट पड़े। भूख की भीषण ज्वाला के कारण वे ठीक से शिकार भी नहीं कर पा रहे थे। कभी-कभी जानवर आपस में ही उलझ जाते।

ऐसी आवाज़ें कभी नहीं सुनी गयी थीं। बंदियों की आर्त-पुकार, नीरो का अट्टहास, जानवरों की गुर्राहट और जनता का शोर !

कैसर नीरो बड़े ध्यान से सब देख रहा था। खून की नदी बह रही थी। इतना खून कि जानवर तक भींग गये थे।

तभी दूसरे दरवाजे से बहुत-से ईसाई निकाले गये। वे प्रार्थना-गीत गा रहे थे तथा बिल्कुल स्थिर थे, जैसे कुछ हुआ ही न हो। उन्हें यों अविचल देख कर नीरो चिढ़ गया। बोला, "ये गाते चले आ रहे हैं। डरते क्यों नहीं ?"

तभी टिजेलिनस ने पूछा, "देवता, क्या मारकस और उसकी ईसाई प्रेमिका लीजिया को भी लाया जाय ?"

"हाँ, मैं तो भूल ही गया था। जरूर लाओ, पर उन्हें सबसे भूखे शेर के सामने डालना।"

तभी पिपईया ने टोका, "मेरे स्वामी, मेरी इच्छा है कि मारकस और उसके गंदे फूल को रात के शिकार के लिये रोका जाय। मैं एक बहुत ही दिल-चस्प योजना बना रही हूँ। बड़ा आनन्द रहेगा। एकदम नया खेल होगा, स्वामी !"

नीरो ने कहा, "ठीक है, सम्राज्ञी ठीक कहती हैं।"

ईसाईयों की अन्तिम बन्दी-कोठरी में पीटर उपदेश दे कर ईसाईयों की हिम्मत बँधा रहे थे, "हे ईश्वर, आपकी इच्छा पूरी हो ! मेरी यह जमात सत्य

के नाम पर मर रही है। हे ईश्वर, इन्हें गिन कर स्वीकार करो! इनके घाव पूरे करो! हम घबरा नहीं सकते, क्योंकि ईसा की सूली हमें याद है! ईश्वर की दया उस आकाश की भाँति है, जो पहाड़, पृथ्वी और समुद्र को एक साथ ढँके है। आज का यह रोम का दृश्य, उसके इतिहास के साथ अमर रहेगा। सब लोग गाओ, प्रार्थना करो! ईश्वर तुम्हारे लिये अपनी विशाल भुजाएँ फैलाये खड़े हैं, स्वागत के लिये!"

शाम होते-होते मेला छँट गया। ईसाईयों के रक्त की लालिमा से डर कर सूरज भी छिप गया।

रात के सन्नाटे में नीरो टिजेलिनस के साथ फिर वध-स्थल की ओर चला। रास्ते में बन्दी-ईसाईयों की कोठरियाँ थीं। उनके सामने से गुजरते हुए नीरो ने देखा—दूर अनन्त की ओर आशाभरी निगाहों से ताकता हुआ पीटर मुस्करा रहा था। मारकस लीजिया का हाथ पकड़े दीवार के सहारे बैठा था। उन्हें देख कर नीरो चिढ़ गया।

नीरो कुटिल हँसी हँस कर रह गया।

कुछ बचे कैदी सिसकियाँ भर रहे थे। पीटर ने उन्हें संबोधित कर के कहा, "खुशियाँ मनाने का समय है। अपने आँसू व्यर्थ मत गिराओ, बल्कि प्रभू को भेंट करो!"

तभी लीजिया ने मारकस से कहा, "मारकस, पीटर के सामने ही मैं तुम्हारी पत्नी बनना चाहती हूँ, ताकि मृत्यु के समय हम साथ रहें और शांति पा सकें।"

मारकस कुछ न बोला। लीजिया उसका हाथ पकड़ कर पीटर के सामने ले गयी और बोली, "मृत्यु के पहले ही मैं मारकस से विवाह कर लेना चाहती हूँ।"

"बड़ा पवित्र विचार है।"—पीटर ने कहा और मारकस का दाँया हाथ ले कर लीजिया के हाथ में पकडा दिया। बोले, "ईश्वर तुम्हारे विवाह से प्रसन्न है। अब इस जीवन के शेष क्षणों में उसका स्मरण कर दाम्पत्य-जीवन का आनन्द लो।"

जब यह विवाह सम्पन्न हो रहा था, नागिन सी फुँफकारती पिपईया जंगली जानवरों का निरीक्षण कर रही थी। उसके साथ युवक सेना नायक

था। कई पिंजरों को देखती हुई वह आगे बढ़ती गयी और अचानक एक बड़े पिंजरे के सामने रुक गयी। उस पिंजरे में एक जरमन साँड़ था जिसकी आँखें बिजली-सी चमक रही थीं। उसे गौर से देखते देख सेना नायक ने चापलूसी की, "सम्राज्ञी, शायद यह आप की पसंद का है।"

उसने स्वीकृति से सिर हिलाया और बोली, "ठीक है, यह खेल कैसर को भी पसंद आयेगा।"—फिर जैसे वह साँड़ से बोली, "तुम जानवर हो। तुम क्या काम करोगे इसका महत्व तुम नहीं समझते !/कल तुम्हारी खूनी सींगों का शृङ्गार होगा।"

□ □ □

रात के सन्नाटे में चार सिपाहियों ने घसीट कर पीटर को बाहर निकाला। बरामदे में एक अफसर शाही फरमान लिये खड़ा था। उसने पूछा, "तुम्हीं पीटर हो?"

"मेरा नाम साइमन है। और पीटर कहलाता हूँ।"

अफसर ने फरमान पढ़ा, "पीटर नामक आदमी ने शासन के विरुद्ध तथा सम्राट नीरो की शान के खिलाफ भाषण दिये हैं। उसे इस अपराध के लिये बेटिकन पहाड़ी पर ले जा कर सूली पर चढ़ा दिया जाय, ताकि फिर कभी कोई भाषण न दे !"

और भोर होते ही बेटिकन पहाड़ी की ओर जाने वाली सड़क पर दर्शकों की अपार भीड़ इकट्ठी हो गयी।

सिपाहियों की ऊँची कलँगी के बीच जब वृद्ध पीटर के सफेद बाल दिखाई पड़े, तो लोग फुसफुसाने लगे, "वही है, वही है !"

सिपाहियों के बीच विनम्र, शांत, गम्भीर पीटर इस शान से जा रहा था जैसे वह खुद सम्राट हो।

कहीं से कुछ ईसाईयों के प्रार्थना करने की आवाज आयी, जिसे सुन कर पीटर ने कहना शुरु किया, "ईश्वर ने मुझे संसार पर शासन करने वाले नगर पर विजय पाने की आज्ञा दी थी। मैंने आज्ञा पूरी की। अब आप का शहर आप को सौंप कर जा रहा हूँ।"

रास्ते के खंडहरों को देख कर उन्होंने कहा, "तुम सभी ईसामसीह के मंदिर बनोगे।" फिर जनसमुदाय से कहा, "तुम्हारे बच्चे ईसा के भक्त होंगे।"

इतना सुनते ही भीड़ पर जैसे पाला पड़ गया। सभी खामोश थे। उन्हें मालूम था कि जब ईसा को सूली पर चढ़ाया गया था तब पृथ्वी फट गयी थी और मुरदे कब्र से उठ गये थे। शायद आज भी कुछ ऐसा ही अद्‌भुत हो! इस कल्पना ने सभी को डरा दिया और वे पीटर के पीछे-पीछे जुलूस बना कर चलने लगे।

पहाड़ी पर पहुँच कर जुलूस रुक गया। पीटर ने जनसमूह की ओर घूम कर बड़ी शान्ति से कहा, "मेरे साथ सभी मुक्त हो जायँगे।"

सिपाही पीटर को सूली तक ले गये। पीटर ने अपना शरीर सीधा तान दिया। उनकी भव्य आकृति देख जल्लादों के भी हाथ रुक गये जैसे वे निष्प्राण हो गये हों! लोग आस लगाये थे कि अंतिम क्षणों में पीटर अवश्य ही कुछ कहेंगे, पर वह बोले ही नहीं।

लेकिन नीरो का अत्याचार यहीं समाप्त नहीं हुआ।

दूसरे दिन वध-स्थल में पुनः भीड़ एकत्र होने लगी। नीरो भी आ कर मंच पर बैठ गया। सभी बंदीगृहों के दरवाजे एक साथ खोल दिये गये और हर ओर से फटे वस्त्र पहने ईसाई मैदान में ढकेल दिये गये। सिपाही उन पर डंडे बरसाने लगे और इधर-उधर भागते बच्चों व स्त्रियों का आर्तनाद सुन कर नीरो प्रसन्न हो उठा। फिर लकड़ी की सूलियाँ मँगायी गयीं। उन पर वृद्ध ईसाईयों को लिटा कर उनके शरीर पर कीलें ठोकी जाने लगीं। सारा वध-स्थल हथौड़ों की आवाजों से गूँज उठा। फिर सूलियाँ सीधी खड़ी कर दी गयीं। चारों तरफ खून बह रहा था। सभी उपस्थित दर्शनार्थी यह दृश्य देख कर एकाएक चुप हो गये।

तभी एक सूली पर लटके एक शरीर को देख कर नीरो ने पूछा, "यह कौन है? शायद इसे मैं पहचानता हूँ।"

एक दरबारी ने कहा, "हाँ देव! यह पुराने सेनापति प्लाटियस का शरीर है।"

"वाह ! इसने पराजय को अब अंगीकार किया है। अब मैं कविता लिखूंगा।"

प्लाटियस अभी मरा नहीं था। नीरो की बात सुन कर वह चिल्लाया, "रोम के नागरिकों, मैं प्लाटियस हूँ ! तुम्हारी सेना का पुराना सेनापति ! आज रोम का राज्य एक राक्षस के हाथ में है जिसने रोम में आग लगायी और ईसाईयों का नाम बदनाम किया। वह अपराधी है, हत्यारा है। उसने अपनी माँ और पत्नी की हत्या की है। रोम को तबाह किया है। इससे बचो। यह हत्यारा है···मेरा विश्वास करो···!"

कहते-कहते उसके प्राण छूट गये।

नीरो का चेहरा विकृत हो गया। जनता में फुसफुसाहट शुरू हो गयी।

एक बोला, "प्लाटियस ठीक कहता है।"

दूसरा बोला, "हाँ, नीरो हत्यारा है।"

तीसरा बोला, "इससे कैसे छुटकारा पाया जाय ?"

तभी कोई चिल्लाया, "इस सम्बन्ध में एक ही व्यक्ति मदद कर सकता है—जनरल गाल्बा !"

अब तक सभी ईसाई वध-स्थल में खदेड़े जा चुके थे। बस एक कोठरी में तीन बंदी बाकी थे—मारकस, लीजिया और युरुसस !

प्लाटियस की हत्या से तीनों उदास थे। तभी कोठरी का दरवाजा खुला और एक सेनानायक चार सैनिकों सहित भीतर घुसा। उसने युरुसस को पकड़ लिया और सैनिकों के हवाले कर दिया। फिर मारकस को अपने साथ चलने की आज्ञा दी। लीजिया ने कहा, "मारकस, क्या अब ये हम दोनों को अलग कर रहे हैं ?"

मारकस को सैनिक घसीट कर ले गये। तभी महीन वस्त्र और फूल की मालाएँ लिये तीन भीमकाय दासियाँ अन्दर घुसीं। उन्होंने जबरदस्ती लीजिया के सारे कपड़े उतार कर वह महीन कपड़ा पहना दिया जिसे पहन कर भी वह नंगी ही थी। फिर उसके बाल सँवारे और मालाएँ पहनायीं।

□ □ □

अँधेरा धीरे-धीरे चारों ओर छा गया। वध-स्थल में रोशनी कर दी गयी

थी। मारकस के दोनों हाथों को चमड़े के पट्टे से बाँध कर नीरो और पिपईया के बीच खड़ा किया गया। पिपईया ने घृणा से मुँह बना कर कहा, "स्वामी, यही आज का मेहमान है।"

नीरो ने पूछा, "इसे यहाँ क्यों, वध-स्थल में क्यों नहीं ?"

"स्वामी, वहीं ले जाया जायगा।"—पिपईया ने कहा।

नीरो ने देखा हाथी की तरह बाँध कर युरुसस को वध-स्थल में लाया गया। रोम की जनता ने ऐसे सुगठित शरीर को कभी न देखा था। युरुसस की विशाल भुजाएँ रोशनी में चमक रही थीं। युरुसस वध-स्थल के बीच दानव-सा खड़ा था।

तभी बिगुल बजा। एक दरवाजा खुला और मौत की तरह एक भयानक, दीर्घकाय साँड़ आगे बढ़ा। यही पिपईया का चुना हुआ साँड़ था। दर्शकों ने सहम कर देखा कि उसके भयानक सफेद सींगों में लीजिया का अर्द्धनग्न शरीर लिपटा था। साँड़ पागल-सा इधर-उधर दौड़ने लगा।

मारकस चिल्ला उठा, "लीजिया, लीजिया, ईसामसीह रक्षा करना !"

एक झटके में ही युरुसस ने अपने बंधन तोड़ दिये और लपक कर उसने साँड़ के सींग पकड़ लिये। रोम की जनता ने ऐसा मल्लयुद्ध पहले कभी न देखा था। युरुसस ने साँड़ को खामोश कर दिया था। युरुसस के पुट्ठे खून से चमक रहे थे। जैसे वे पुट्ठे अब फटने ही वाले हैं। रोम की जनता को हरकुलिस की याद आ गयी। साँड़ के पाँव बालू में धँसे थे। वह एक बड़ी गेंद की तरह एक ओर लुढ़क गया।

युरुसस ने साँड़ का सिर घुमाया। उसकी जीभ निकल आयी थी और मुँह से फेन बह रहा था। एक झटके में युरुसस ने लीजिया को छुड़ाया।

जनता युरुसस की शक्ति देख कर जयजयकार करने लगी।

लीजिया की अर्द्धनग्न सफेद देह को देख कर सभी सहम गये। उनका उत्साह ठंडा पड़ गया।

नीरो उदास हो गया। साँड़ द्वारा लीजिया के कोमल शरीर को रौंद देने का खेल पिपईया उसे न दिखा सकी।

जनता की सहानुभूति देख कर नीरो घबरा गया। उसकी जन्मजात कायरता उसके चेहरे पर छा गयी थी।

तब तक जाने कैसे अपने चमड़े के बंधनों को तोड़ कर मारकस भी एक छलाँग में ही लीजिया व युरुसस के पास पहुँच गया। उसने अपने कपड़े उतार दिये ताकि जनता उसके शरीर के घावों को देख ले। मारकस ने नीरो की ओर संकेत कर कहना शुरू किया, "नीरो हत्यारा है! इसने रोम में आग लगवायी है। निर्दोषों की हत्या की है। अब इसका शासन खत्म हो गया। जनरल गाल्बा रोम का नया सम्राट है।"

उत्तर में जनता भी चिल्ला उठी, "सम्राट गाल्बा की जय! नीरो का नाश हो!"

मारकस के भक्त सिपाही नीरो की ओर लपके। नीरो के रक्षक भाग गये।

डर कर नीरो पिपईया को छोड़ कर भागा।

नीरो किसी तरह छिपता हुआ महल में पहुँच गया। विक्षिप्त नीरो वहाँ जा कर सलाह के लिये पेट्रोनियस को पुकारने लगा। उसे यह याद ही न था कि वह पहले ही आत्महत्या कर चुका है।

महल के बाहर जनता व सैनिक चिल्ला रहे थे, "नीरो का नाश हो! दानव नीरो की मौत हो!"

नीरो एक कमरे में छिप गया। अचानक उसे पिपईया दिखाई दी। नीरो ने भाग कर उसका गला पकड़ लिया। वह चीख रहा था, "मेरी कुबुद्धि तुम्हीं हो। तुम्हीं ने मुझसे रोम जलवाया। हत्याएँ करवायीं।"

पिपईया का दम घुट गया। वह गिर पड़ी।

तभी ऐक्टा ने कमरे में प्रवेश किया। नीरो उसे देखते ही चीखा, "मैंने तुझे महल से निकलवा दिया था, फिर तू कैसे आयी?"

धीमी आवाज में वह बोली, "मैंने कहा था न कि जब तुम्हें मेरी जरूरत पड़ेगी, मैं आ जाऊँगी।"

"मैं तेरी शक्ल भी नहीं देखूँगा।"—कह कर नीरो दूसरे कमरे में भागा।

तब तक विद्रोहियों की आवाज सीढ़ियों पर सुनायी पड़ने लगी। नीरो को बचाव का कोई रास्ता न दिखा। तभी ऐक्टा ने आकर कहा, "तुम अपनी माँ व पत्नी के हत्यारे हो। नियम के अनुसार वे तुम्हारी भी हत्या कर देंगे।"

नीरो ने अपना माथा पीट लिया। ऐक्टा ने तलवार निकाली और उसे नीरो को देते हुये कहा, "तुम सदा से दानव रहे हो। आज स्वयं अपनी हत्या कर लो।"

नीरो कुछ न बोला। ऐक्टा फिर चिल्लायी, "देर मत करो! जल्दी करो, अन्यथा वे तुम्हें पकड़ लेंगे। वे नजदीक आ गये हैं।"

नीरो चिल्लाया, "दुनिया के सम्राट नीरो का यही अंत होगा क्या? एक महान शासक, महान कलाकार का यही अंत होगा?"

पर वह तलवार न चला सका।

ऐक्टा ने उसके हाथों को धक्का दिया और जहर से बुझी तलवार उसकी छाती में घुस गयी। वह एक ओर को लुढ़क गया। ऐक्टा ने नीरो का सिर चूम लिया।

सम्राट, दानव, कलाकार नीरो का अंत हो गया।

□ □ □

दूसरे दिन प्रातःकाल सारा रोम नारे लगा रहा था—
"सम्राट गाल्बा—जिंदाबाद!"
"रोम—जिंदाबाद!"

[सन् १९६२]

●